

वल्लभ-भारती

प्रथम खण्ड

जिनवल्लभसूरि-साहित्य का अभीक्षात्मक अध्ययन



हिन्दी विश्वविद्यालय (हिन्दी साहित्य सम्मेलन) इलाहाबाद द्वारा
साहित्य महोपाध्याय उपाधि के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध



लेखक :

महोपाध्याय विनयसागर

साहित्य महोपाध्याय, साहित्याचार्य, जैनदर्शनशास्त्री,
साहित्यरत्न, शास्त्रविशारद

वल्लभ-भारती

प्रथम खण्ड

जिनवल्लभसूरि-साहित्य का अभीक्षात्मक अध्ययन



हिन्दी विश्वविद्यालय (हिन्दी साहित्य सम्मेलन) इलाहाबाद द्वारा
साहित्य महोपाध्याय उपाधि के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध



लेखक :

महोपाध्याय विनयशागर

साहित्य महोपाध्याय, साहित्याचार्य, जैनदर्शनशास्त्री,
साहित्यरत्न, शास्त्रविशारद

प्रकाशक :

खरतरगच्छीय श्री जिनरंगसुरिजी का उपाध्य
व्यवस्थापक—श्रीमाल सभा,
घी वालों का रास्ता, जयपुर-3 (राजस्थान)

सन् १९७५

महावीर नि० सं० २५०१

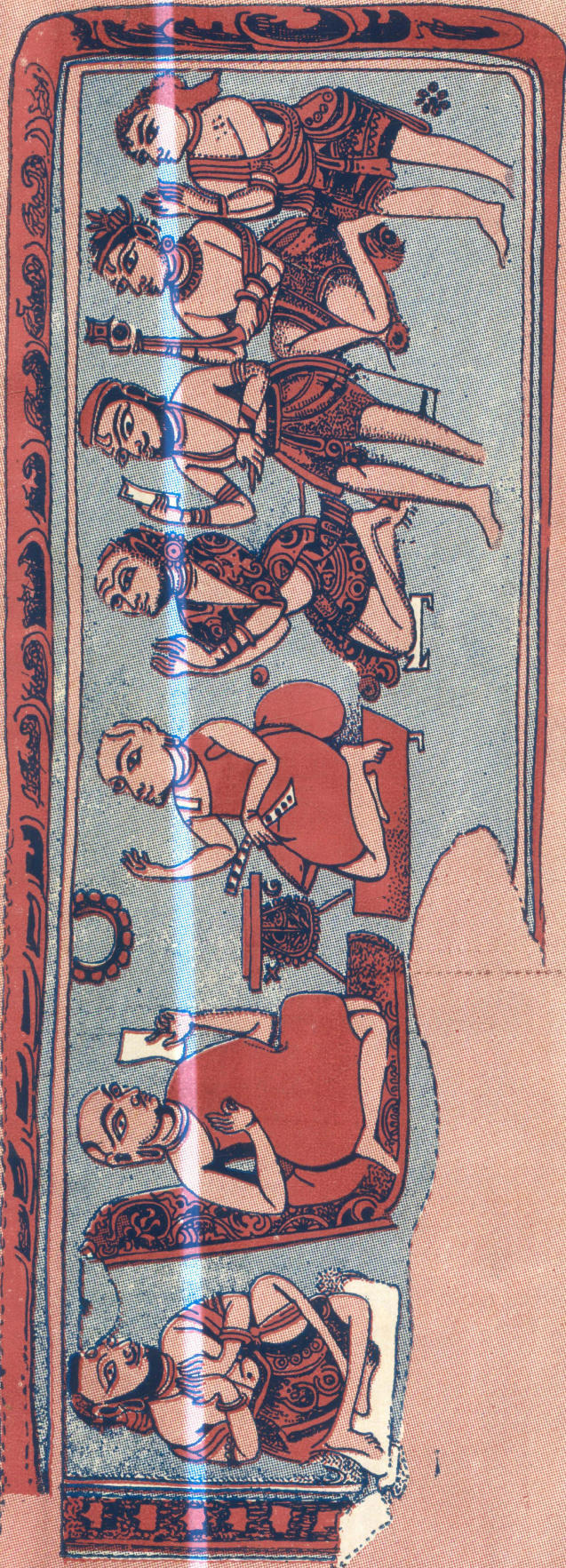
दि० सं० २०३२

मूल्य १५.००

मुद्रक :

वैशाली प्रिन्टिंग प्रेस
घी वालों का रास्ता जयपुर—३

कवीश्वर आचार्य जिनवल्लभसूरि



(जैसलमेर भांडागारीय प्राचीन ताडपत्तीय प्रति के काष्ठफलक पर चित्रित चित्र के आधार से)

लेखक के दो शब्द

युगप्रधान प्रगट प्रभावी दादा जिनदत्तसूरिजी महाराज ने स्वरचित गणधर सार्द्ध-शतक, चर्चरी, सुगुरुपारतन्त्र्य स्तोत्र, श्रुतस्तव आदि ग्रन्थों में जिन युगप्रवर श्रीजिनवल्लभसूरि के क्रान्तिकारी विचार-सरणि का प्रतिपादन और उनके अगाध गुणगौरव का मुक्तकण्ठ से यशोगान करके अपनी बाणी और लेखिनी को कृतार्थ किया है, उन्हीं स्वनामधन्य, रससिद्ध-कवीश्वर, प्रवर-आगमज्ञ, प्रबल क्रान्तिकारी, युगश्रेष्ठ, विधिपक्षप्रवर्तक, खरतरगच्छ-मुकुटमणि जैनाचार्य श्री जिनवल्लभसूरिजी महाराज के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रस्तुत 'वल्लभ-भारती' नामक पुस्तक है।

जिनवल्लभसूरि के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन होने के कारण ही मैंने इस पुस्तक का नाम 'वल्लभ-भारती' रखा है। यह पुस्तक दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में आचार्यश्री का जीवन-चरित्र, आक्षेप परिहार, आचार्य द्वारा रचित साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन और जिनवल्लभीय साहित्य की परम्परा का आलेखन है। द्वितीय खण्ड में जिनवल्लभसूरि रचित, वर्तमान समय में प्राप्त समग्र साहित्य का पाठभेद एवं टिप्पण के साथ मूल पाठ का सम्पादन है।

इस वल्लभ-भारती का कार्य मैंने सन् १९५२ में आरम्भ किया था। सन् १९६० में श्रद्धेय डॉ० फतहसिंहजी एम. ए., डी. लिट् के निर्देशन में दोनों खण्डों का कार्य पूर्ण होने पर हिन्दी विश्वविद्यालय (हिन्दी साहित्य सम्मेलन) प्रयाग की उच्चतम परीक्षा 'साहित्य महोपाध्याय' के लिये मैंने इस ग्रन्थ को शोध-प्रबन्ध के रूप में भेज दिया था। शोध-प्रबन्ध के रूप में यह पुस्तक स्वीकृत हुई और सन् १९६१ में सम्मेलन द्वारा मुझे 'साहित्य महोपाध्याय' उपाधि प्राप्त हुई।

सन् १९६१ से १९७५ के अन्तराल में कवि निर्मित अष्टसप्तति, स्वप्नसप्तति, चतुर्विंशतिजिनस्तुति आदि नवीन कृतियां भी मुझे प्राप्त हुईं। इन नवीन कृतियों के आधार पर इस प्रथम खण्ड में मैंने यत्र तत्र संशोधन एवं परिष्कार भी किया है।

सन् १९६२ में द्वितीय खण्ड के प्रकाशन का कार्य भी मैंने प्रारम्भ करवाया था। मूल-ग्रन्थों के १६० पृष्ठ भी मुद्रित हो चुके थे। फिर भी संयोगवश आगे मुद्रण न होने से वह आज तक प्रकाशित न हो सका। आज इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड को प्रकाशित होते देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

आगमोद्धार ग्रंथ :

जिनवल्लभसूरि रचित 'आगमोद्धार' नामक ग्रन्थ को अनुपलब्ध मानते हुये भी प्रस्तुत पुस्तक के पृ० ८७ की टिप्पणी में मैंने लिखा है कि—'श्री अग्रचंदजी नाहटा की

सूचनानुसार स्वप्न-सप्ततिका और आगमोद्धार एक ही ग्रन्थ है।' किन्तु जिनपालोपाध्याय ने चर्चरी पद्य ३३ की टीका करते हुये लिखा है:—

“यत उक्तं श्रीजिनवल्लभसूरिभिरागमोद्धारै—

ग्रोसन्ना चिय तत्थेव इती चेइयवंदगा ।

जेसि निस्साइ तं भवणं सड्ढाईहं वि कारियं ॥ ”

जिनपालोपाध्याय उद्धृत आगमोद्धार की यह गाथा स्वप्न-सप्तति में प्राप्त नहीं है। अतः स्वप्नसप्तति और आगमोद्धार दोनों पृथक्-पृथक् ग्रन्थ हैं और आगमोद्धार ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध है।

ग्राभार :

मूल ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां संकलन करने, समीक्षात्मक अध्ययन लिखने, विचार-विमर्श करने आदि में आगम प्रभाकर मुनिपुंगव स्व० श्री पुण्यविजयजी महाराज, स्व० आशुकवि उपाध्याय श्री लब्धिमुनिजी म०, स्व० अनुयोगाचार्य श्री बुद्धिमुनिजी म०, स्व० श्री रमणीकविजयजी महाराज, श्रद्धेय डॉ० फतहसिंहजी, श्री अगरचंदजी नाहटा, श्री भंवरलालजी नाहटा, डॉ० श्री बद्रीप्रसाद पंचोली आदि विद्वानों का मुझे समय-समय पर सहयोग तथा परामर्श प्राप्त होता रहा। अतः इन सब का मैं उपकृत हूँ। साथ ही जिन लेखकों की कृतियों का मैंने इस ग्रन्थ में उपयोग किया है उन लेखकों का भी मैं कृतज्ञ हूँ।

खरतरगच्छीया साध्वीश्रेष्ठा विदुषी श्री विनयश्रीजी महाराज का ११ जनवरी सन् १९७४ को जयपुर में स्वर्गवास हुआ। उन्हीं की स्मृति में श्री खरतरगच्छीय श्री जिनरंग-सूरिजी गद्दी का उपाश्रय, व्यवस्थापक श्रीमाल सभा, जयपुर की ओर से इस वल्लभ-भारती के प्रथम खण्ड का प्रकाशन हो रहा है। इस प्रकाशन कार्य में श्रीमाल सभा जयपुर के सदस्यगण श्री लालचन्द्रजी वैराठी, श्री राजरूपजी टांक, श्री छोट्टनलालजी वैराठी, एवं भाई श्री राजेन्द्रकुमारजी श्रीमाल का अथक-परिश्रम एवं अवर्णनीय सहयोग रहा है तथा मुनिराज श्री जयानन्दमुनिजी म० की सतत प्रेरणा रही है अतः इन सब का एवं विशेषतः श्रीमालसभा जयपुर का मैं हृदय से आभारी हूँ।

अन्त में, मेरे परमपूज्य गुरुदेव खरतरगच्छालङ्कार गीतार्थ-प्रवर आचार्यश्रेष्ठ स्व० श्री जिनमणिसागरसूरिजी महाराज के वरद आशीर्वाद का ही प्रताप है कि मेरे जैसा अज्ञ व्यक्ति जिनवल्लभसूरि जैसे युगप्रवरागम आचार्य पर प्रस्तुत पुस्तक लिख सका। काश! आज वे विद्यमान होते और मेरी इस कृति 'वल्लभ-भारती' को देखते तो न जाने उन्हें कितना हर्ष होता !

चैत्र शुक्ला १ सं० २०३२
महावीर निर्वाण संवत् २५०१
जयपुर

म० विनयसागर

प्रकाशकीय

‘वल्लभ-भारती’ प्रथम खण्ड प्रकाशित करते हुए अति प्रसन्नता अनुभव हो रही है। परमपूज्या विदुषी साध्वी श्री विनयश्रीजी के अन्तिम दाह-संस्कार के समय ही यहाँ के श्री संघ ने आपकी स्मृति में यह ग्रन्थ छपवाने का निर्णय किया था। उसी निर्णयानुसार श्री विनयश्रीजी महाराज की स्मृति में आचार्य श्री जिनरंगसूरिजी के उपाश्रय से यह ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है।

इस ग्रंथ के लेखक महोपाध्याय विनयसागरजी हैं जो कि जैन-साहित्य के जाने-माने विद्वान् हैं। यह गौरव की बात है कि विनयसागरजी की इस पुस्तक को हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग—जो कि हमारे देश का श्रेष्ठतम हिन्दी विश्वविद्यालय है—ने अपनी उच्चतम परीक्षा के लिये शोध-प्रबन्ध के रूप में स्वीकार कर, इन्हें साहित्य महोपाध्याय की उपाधि से सम्मानित किया है। महोपाध्याय श्री विनयसागरजी ने अपना जीवन जैन-साहित्य के अन्वेषण, लेखन, प्रकाशन में लगा रखा है। आचार्य श्री जिनमणिसागरसूरिजी महाराज से प्रेरणा लेकर उन्होंने सतत अध्ययन की ओर उन्मुख होते हुए निरंतर ज्ञानोपार्जन किया। इनके द्वारा लिखित एवं सम्पादित वृत्तमौक्तिक, सनत्कुमारचक्रिचरित महाकाव्य, खडप्रशस्ति, नेमिदूतम्, अरजिनस्तव आदि १६ पुस्तकें विभिन्न संस्थाओं से प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से नेमिदूतम् राजस्थान विश्वविद्यालय के M.A. संस्कृत पाठ्यक्रम में और वृत्तमौक्तिक जोधपुर विश्वविद्यालय के M. A. संस्कृत पाठ्यक्रम में रह चुकी हैं। अतः जिस प्रतिभा, मेहनत व विद्वत्ता से इन्होंने प्रस्तुत शोधपूर्ण इतिहास लिखा है, वे वधाई के पात्र हैं।

खरतरगच्छीय परंपरा के सर्वप्रथम महानाचार्य जिनेश्वरसूरि जिन्होंने गुजरात के नरेश दुर्लभराज के समक्ष अणहिलपुर पाटण में पञ्चाशरीय पार्श्वनाथ भगवान् के बड़े मन्दिर में १०६६-७८ के मध्य में स्थानीय ८४ मठपतियों (चैत्यवासी) को शास्त्रार्थ में हराकर खरतर विरुद प्राप्त किया। आपके गुणों से प्रसन्न होकर दुर्लभराज ने कहा, “इस कलिकाल में कठिन और ‘खरे’ चरित्रनायक साधु आप ही हैं।” तभी से उनका समुदाय खरतरगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सं० ११६८ में रचित देवभद्रसूरि कृत पार्श्वनाथ चरित्र की प्रशस्ति में (जैसलमेर भंडार में ताड़पत्रीय ग्रन्थांक २६५) और सं० ११७० की लिखित पट्टावली में जिनेश्वरसूरि को खरतर विरुद मिलने का स्पष्ट उल्लेख है। उन्हीं के पाठ पर विराजने वाले आचार्य जिनचन्द्रसूरि हुए जिनको अष्टादश नाममाला का पाठ तथा अर्थ सब अच्छी तरह कंठस्थ थे, उन्हींने अठारह हजार श्लोक वाली ‘संवेग रंगशाला’ की सं० ११२५ में रचना की। यह ग्रन्थ भयजीवों के लिये मोक्ष रूपी महल का सोपान है। उनके पाठ पर पदासीन होने वाले स्थंभन पार्श्वनाथ प्रभु की सातिशय प्रतिमा प्रगट करने वाले खरतरगच्छाचार्य जिनअभयदेवसूरि हुये, जिन्होंने नवांगों की टीका के अतिरिक्त पंचाशक वृत्ति, उववाई वृत्ति, प्रज्ञापना तृतीय पद संग्रहणी, षटस्थान भाष्य, आराधना कुलक, आंगम अष्टोत्तरी आदि अनेक ग्रन्थों की व ‘जयतिहुयण’ आदि स्तोत्रों की रचना की।

उन्हीं के पाठ पर विराजने वाले आचार्य श्री जिनवल्लभसूरि हुये, जो कि सब विद्याओं के पारदर्शी, शास्त्र ज्ञान के भंडार व अनेक सिद्धान्तों के ज्ञाता थे। जिनेन्द्र मत प्रचारक श्री हरिभद्रसूरि के अनेकान्तजयपताका आदि ग्रन्थों के अभिज्ञ थे। षट् दर्शन, कन्दली, किरणावली, न्याय, तर्क तथा पाणिनि आदि आठों व्याकरण के सूत्र इनको कंठस्थ थे। चौरासी नाटक, सम्पूर्ण ज्योतिष शास्त्र,

पांच महाकाव्य, ग्रन्थ काव्य तथा जयदेव प्रभृति कवियों द्वारा रचित छन्द-शास्त्र के वे विशेष मर्मज्ञ थे। पिण्डविशुद्धि प्रकरण, षडशीति कर्मग्रन्थ, संघपट्टक, सूक्ष्मार्थ-विचारसार, पौषघविधि प्रकरण, धर्म-शिक्षा, द्वादश कुलक, प्रश्नोत्तर शतक, प्रतिक्रमण समाचारी, अष्टसप्ततिका, शृङ्गार शतक आदि अनेक ग्रन्थों व स्तोत्रों की रचना आपने की, इनसे आपका प्रकांड विद्वान् होना भली भाँति सिद्ध है। इन्हीं के पट्ट पर युगप्रधान दादा श्री जिनदत्तसूरिजी महाराज हुए हैं। जिनकी सब सम्प्रदाय वाले पूर्ण श्रद्धा व भक्ति से अर्चना व पूजा करते हैं। इन्होंने एक लाख तीस हजार नूतन जैनी बनाए एवं स्वहस्ते से १५०० साधुओं को दीक्षित किया था।

मुनि श्री जिनविजयजी ने खरतरगच्छ के सम्बन्ध में जो भावोद्गार प्रगट किये हैं उनका अंश नीचे दिया जा रहा है—

“खरतरगच्छ में अनेक बड़े-बड़े प्रभावशाली आचार्य, बड़े बड़े विद्यानिधि उपाध्याय, बड़े-बड़े प्रतिभाशाली पंडित, मुनि और बड़े-बड़े यांत्रिक, तांत्रिक, ज्योतिर्विद, वैद्यक विशारद आदि कर्मठ यतिजन हुए जिन्होंने अपने समाज की उन्नति, प्रगति और प्रतिष्ठा के बढ़ाने में बड़ा योग दिया है। सामाजिक और साम्प्रदायिक उत्कर्ष के सिवा खरतरगच्छ के अनुयायियों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं देश्य भाषा के साहित्य को भी समृद्ध करने में असाधारण उद्यम किया और इसके फलस्वरूप आज हमें भाषा, साहित्य, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयों का निरूपण करने वाली छोटी-बड़ी हजारों ग्रंथ कृतियाँ जैन मंडारों में उपलब्ध हो रही हैं। खरतरगच्छीय विद्वानों की यह उपासना न केवल जैन धर्म की दृष्टि से ही महत्त्व वाली है अपितु समूचे भारतीय संस्कृति के गौरव की दृष्टि से भी उतनी ही महत्ता रखती है।

साहित्योपासना की दृष्टि से खरतरगच्छ के विद्वान् यति, मुनि बड़े उदारचेता मालूम होते हैं। इस विषय में उनकी उपासना का क्षेत्र केवल अपने धर्म या समुदाय की बाड़ से बंधा नहीं है। वे जैन और जैनेतर वाङ्मय का समान भाव से अध्ययन अध्यापन करते रहे हैं।”

जिस देश समाज अथवा धर्म को जीवित रखना है तो दो चीजों की पूरी देख-रेख, सुव्यवस्था व रक्षा करनी पड़ेगी। (१) हमारा खडहरों का वैभव अर्थात् प्रतिमाएं, शिलालेख आदि (२) हमारा जीवित साहित्य—जिसमें हमारे भोज, ताडपत्र, हस्तलिखित व छपे हुए ग्रंथ आदि। परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि हम जिनकी अर्चना, पूजा, सेवा और भक्ति करते हैं उनकी अमूल्य कृतियों और उनके अप्रतिम चरित्रों को जानने की और दृष्टिपात भी नहीं करते। हम यह भी जानने की कोशिश नहीं करते कि हमारे आराध्य देवों व पूज्यवर आचार्यों ने संसार को जो अतुलनीय दान दिया वह क्या है? यह जाति के मरणोन्मुखता का ही द्योतक है। वास्तव में इन अमूल्य निधियों की सुरक्षा सुव्यवस्था व सदुपयोग होना बहुत जरूरी है। हमारे समाज का गौरव और महत्त्व तभी ठीक से प्रकाश में आ सकेगा जब हम उसके संग्रह व इतिहास की खोज करें। धर्म में रुचि रखने वाले अन्य सभी महानुभावों से प्रार्थना करूंगा कि वे इस ग्रन्थ को पढ़कर, मनन करके हमें प्रोत्साहित करें ताकि भविष्य में इस तरह के शोधपूर्ण साहित्य व इतिहास के प्रकाशन की ओर हम अप्रसरित हो सकें।

शांत एवं मृदुल स्वभावी परमपूज्य श्री साम्यानन्दजी मुनि व जयानन्दजी मुनि म० सा० एवं साध्वी श्री कल्याणश्रीजी का मार्गदर्शन भी हमें बराबर मिलता रहा है। आशा है आप मुनिजन भविष्य में भी ऐसे शोधपूर्ण जैन साहित्य के प्रकाशन की प्रेरणा देते रहेंगे।

अन्त में, मैं उन सभी महानुभावों का आभार प्रदर्शन करता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ को छपवाने में सहयोग दिया है।

—राजेन्द्रकुमार श्रीमाल

सद्धर्मोपदेशिका विदुषी जैतार्या श्री विनयश्रीजी महाराज



जन्म-पौष
कृष्णा १०
सं. १९४८
लोहावट

दीक्षा-पौष
शुक्ला १२
सं. १९६१
खीचन

स्वर्गवास माघ वदि ३ सं. २०३० जयपुर

विदुषी साध्वीरत्न श्री विनयश्रीजी महाराज

सद्धर्मोपदेशिका परमविदुषी साध्वीश्रेष्ठा श्री विनयश्रीजी महाराज का जयपुर की जैन समाज से, वर्षों से घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। इनके व्यक्तित्व एवं सुमधुर उपदेशों से यहां की समाज ने बहुत कुछ प्राप्त किया है। रुग्णता और वार्धक्य के कारण ३५ वर्ष से भी अधिक इनकी जयपुर में स्थिरता रही। इस दीर्घकाल में यहां का समाज इनसे सर्वदा ही लाभान्वित होता रहा। अपनी विनयशीलता और लघुता के कारण आपने अपने जीवन-वृत्त पर कभी प्रकाश नहीं डाला। यत्-तत्त विखरी हुई सामग्री के आधार पर आपके जीवन-चरित्र की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार प्राप्त होती है।

लोहावट निवासी श्री रतनचंदजी लूणिया की आप पुत्री थीं। आपका जन्म वि० सं० १९४८ पौष वदि १० को हुआ था। माता-पिता ने गुणानुरूप आपका नाम वीरांबाई रखा था। ११ वर्ष की बाल्यावस्था में ही आपके पिता श्री रतनचंदजी ने आपका विवाह खीचन निवासी श्री माणकलालजी बोथरा के साथ कर दिया था। किन्तु दैव दुर्बिपाक से विवाह के कुछ महीनों पश्चात् ही श्री माणकलालजी का स्वर्गवास हो गया और १२ वर्ष की अल्पायु में ही वीरांबाई का सौभाग्य-सिन्दूर पोंछ दिया गया। वीरां वैधव्य-जीवन व्यतीत करने लगी।

संयोगवश उसी वर्ष खरतरगच्छीया स्वनामधन्या श्री पुण्यश्रीजी म० की शिष्यायें खीचन पधारीं। उनके उपदेशामृत से वीरांबाई का हृदय वैराग्य-रंग से रंग गया। सं० १९६१ पौष सुदि १२ को खीचन में श्री स्वर्णश्रीजी म० के वरद कर-कमलों से दीक्षित होकर वीरांबाई विनयश्री के नाम से प्रवर्तिनी श्री पुण्यश्रीजी म० की शिष्या बनीं।

दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् विनयश्रीजी ने बड़े मनोयोग से सिद्धान्तकौमुदी, भट्टिकाव्य, रघुवंशादि महाकाव्य, रत्नकरावतारिकादि दार्शनिक ग्रन्थ और जेनागमों, प्रकरणों तथा साहित्य-ग्रन्थों का विशेष अध्ययन किया। विदुषी बनीं, प्रवचनकार बनीं। आपका विचरण प्रायः कच्छ, सौराष्ट्र, गुजरात, उत्तरप्रदेश और राजस्थान प्रदेश में रहा है। विहार करते हुये अपने सुमधुर एवं प्रभावशाली उपदेशों से स्थान-स्थान पर कई विशिष्ट धर्मकार्य करवाये। हाथरस में दादावाड़ी और सिकन्दराबाद में मंदिर तथा स्कूल की स्थापना, टोंक में मंदिर का जीर्णोद्धार, हाथरस में ज्ञान भंडार, तथा जयपुर शिवजीराम भवन में आर्यबिल खाते की स्थापना आदि विशेष कार्य आपही के प्रयत्नों से हुये थे।

आप केवल व्याख्यानदाता ही नहीं थी अपितु लेखिनी की भी धनी थीं। उपासकदशा सूत्र का मूल और टीका का हिन्दी अनुवाद तथा युगादिदेशना का हिन्दी अनुवाद भी आपने

किया। संस्कृत में पुण्यश्री अष्टक की रचना भी आपने की थी। सज्जाय संग्रह और पंच प्रतिक्रमण सूत्र का संपादन भी आपने किया था।

श्री समर्थश्रीजी, श्री विचित्रश्रीजी, श्री वीरश्रीजी, विजयश्रीजी, विशालश्रीजी आदि कई आपकी शिष्यायें बनीं किन्तु सब ही शिष्याओं का आपकी उपस्थिति में ही स्वर्गवास हो गया था।

अपनी निजी पुस्तकों का संग्रह भी आपने जयपुर के समाज को सौंप दिया था।

असातावेदनीय कर्मों के कारण आपके कई बार बड़े-बड़े आपरेशन भी हुये। रुग्णता और शारीरिक अस्वस्थतावश आपने जयपुर में स्थिरवास स्वीकार कर लिया था। रुग्णता की अवस्था में आपकी सेवा-शुश्रूषा श्रीमती इन्द्रबाई श्रीश्रीमाल जो आपकी सेवा में ४० वर्ष से रह रही थीं, ने जिस लगन और आत्मीयता के साथ की, वह अभूतपूर्व थी।

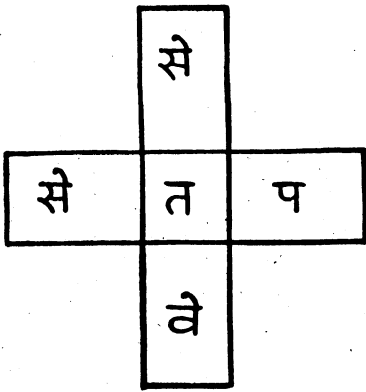
वि० सं० २०३० माघ वदि ३. दिनांक ११ जनवरी १९७४ को ८२ वर्ष की अवस्था में आपका जयपुर में स्वर्गवास हो गया। जयपुर के जैन समाज ने अन्तिम क्रिया बड़े ठाठ-बाठ से की। इस समय का सारा व्यय श्रीमती इन्द्रबाई ने करके अपनी असाधारण गुरु-भक्ति का परिचय दिया था। आत्म-शान्ति निमित्त जयपुर के समाज ने अष्टाह्निका महोत्सव, शान्तिस्नातन का भी आयोजन किया था।

अन्तिम संस्कार के समय ही यहां के श्री संघ ने आपकी स्मृति में प्रस्तुत 'वल्लभ-भारती' ग्रन्थ छपाने का निर्णय लिया था। स्वर्गीया श्री विनयश्रीजी म० की स्मृति में यह ग्रन्थ प्रकाशित कर जयपुर की "श्रीमाल सभा" अपने को सौभाग्यशाली समझती है और महाराजश्री के चरणों में श्रद्धांजली अर्पित करती है।

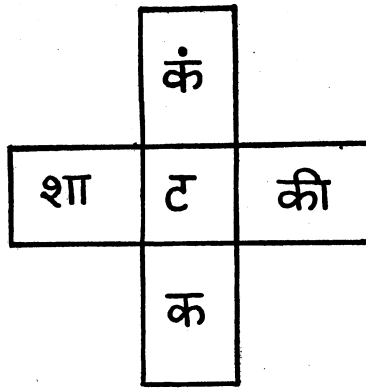
जयपुर

लालचन्द बेराठी

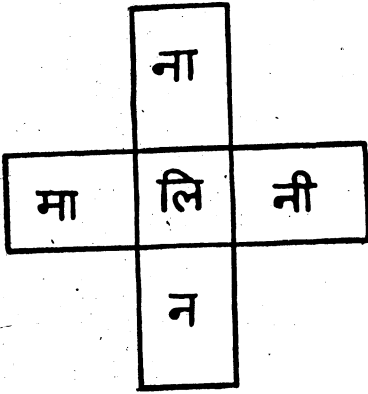
१४-४-७५



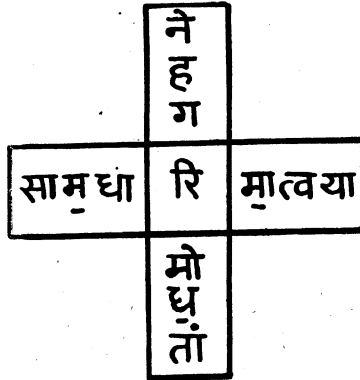
4



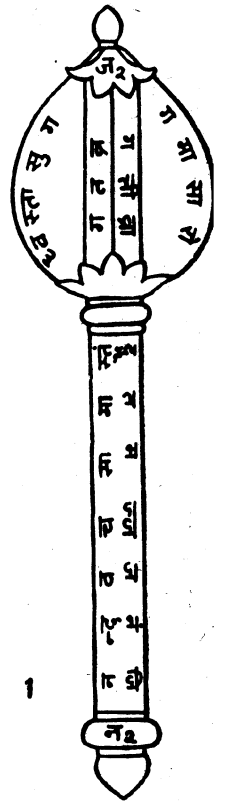
2



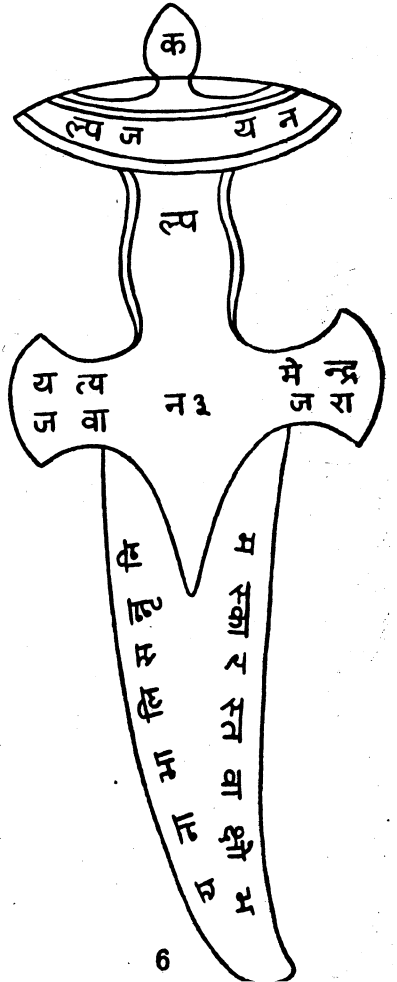
5



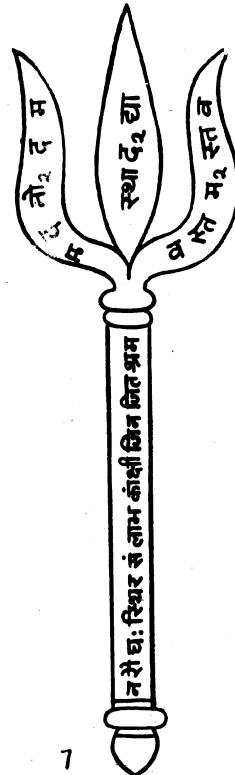
3



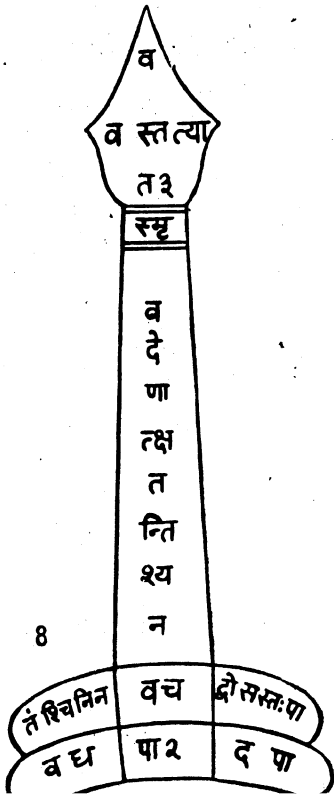
1



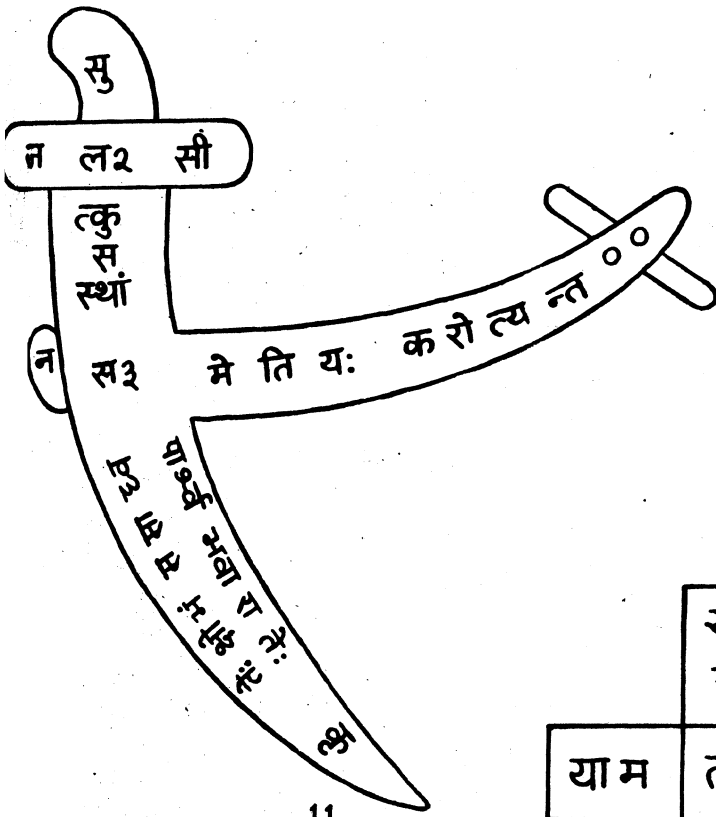
6



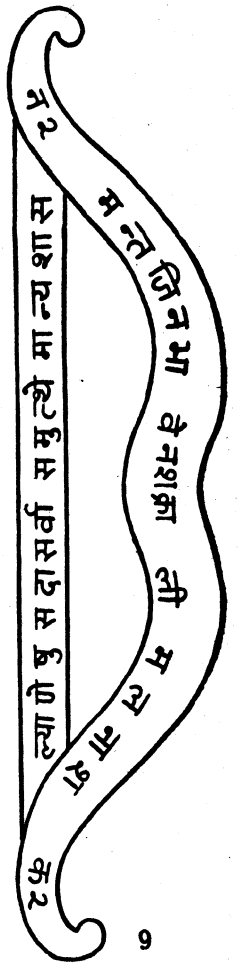
7



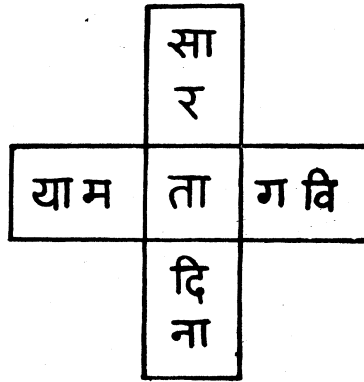
8



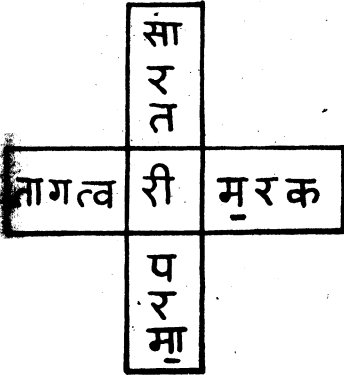
11



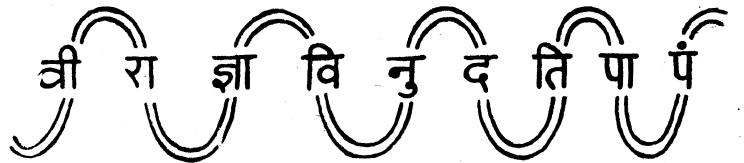
9



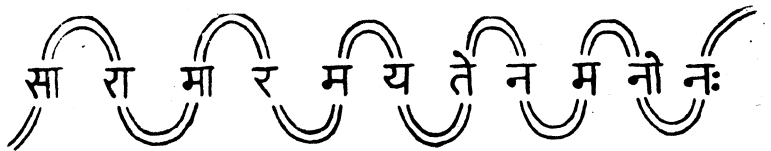
10



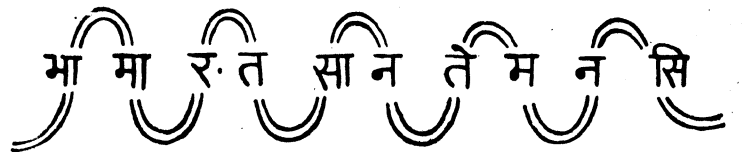
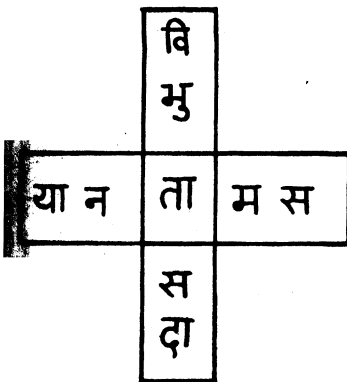
13



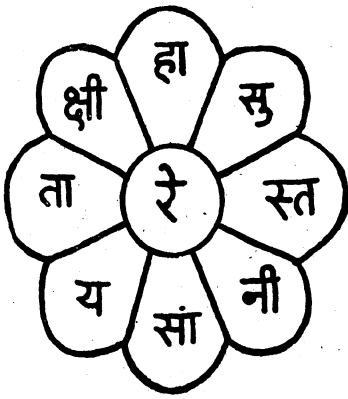
12



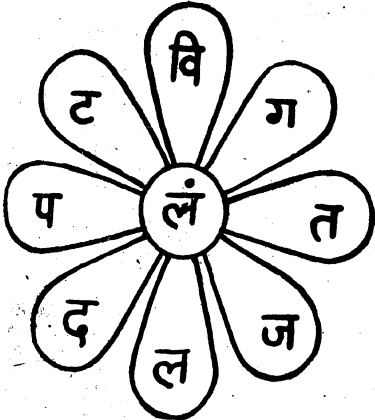
14



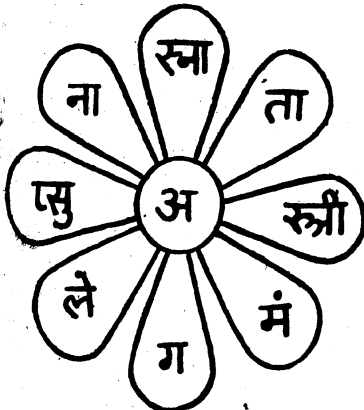
15



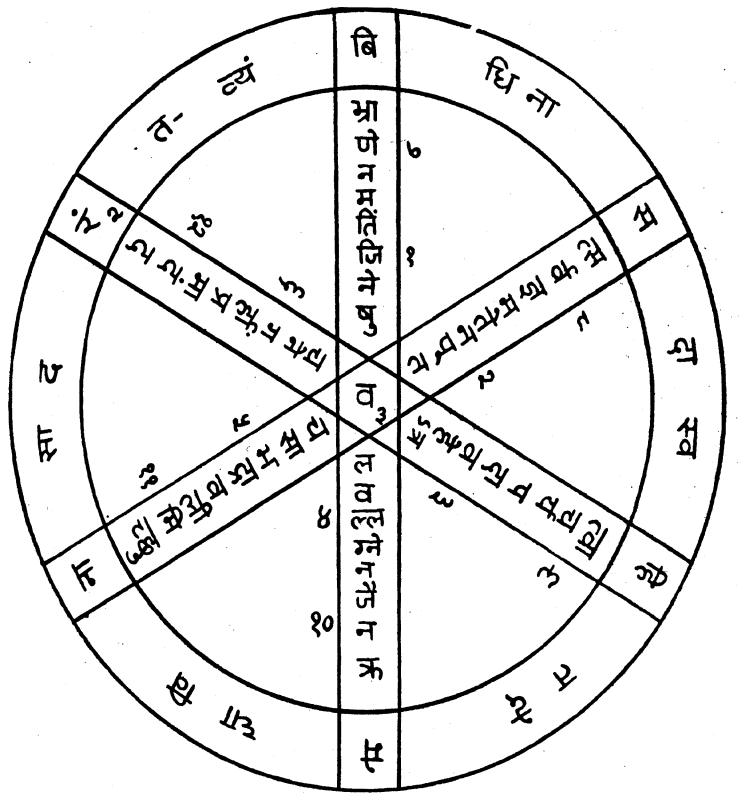
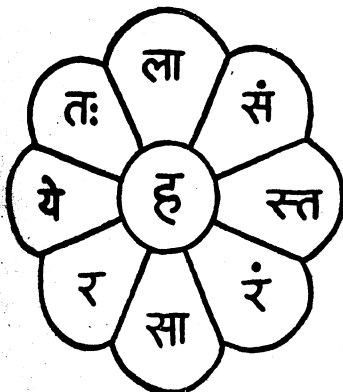
19



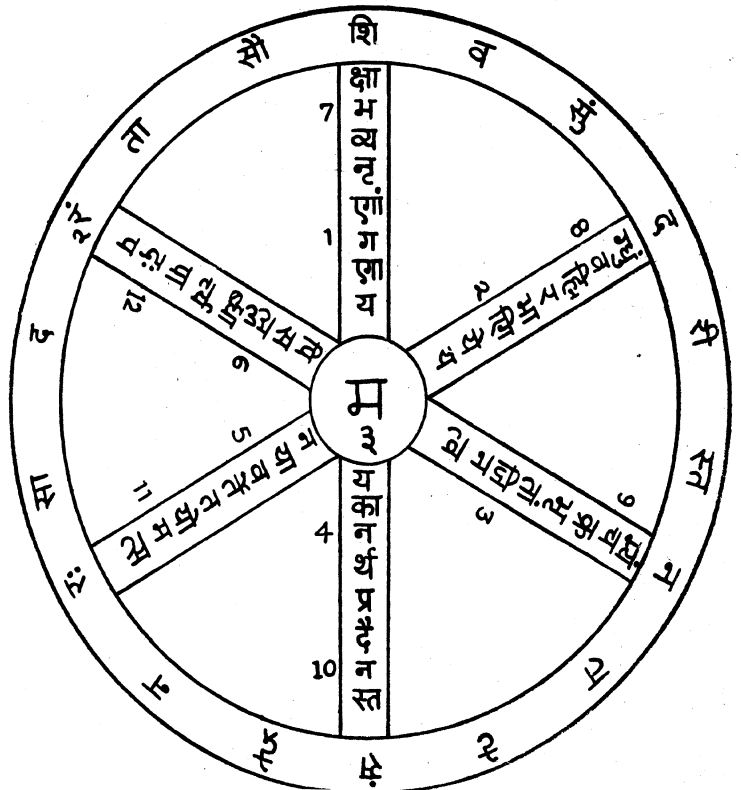
20

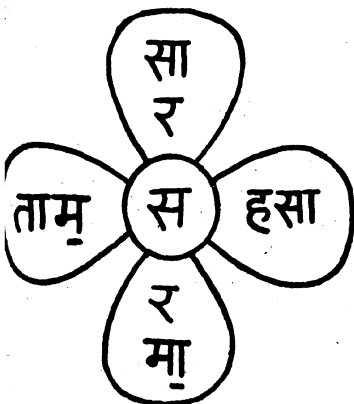


21

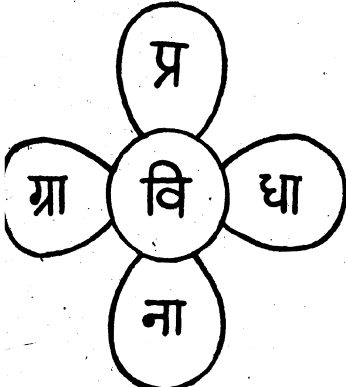


17

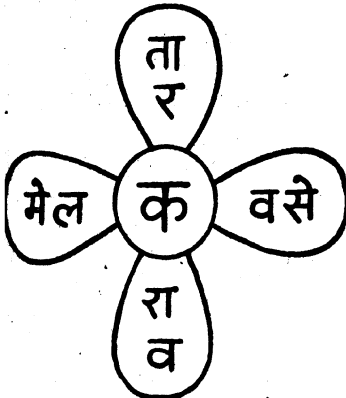




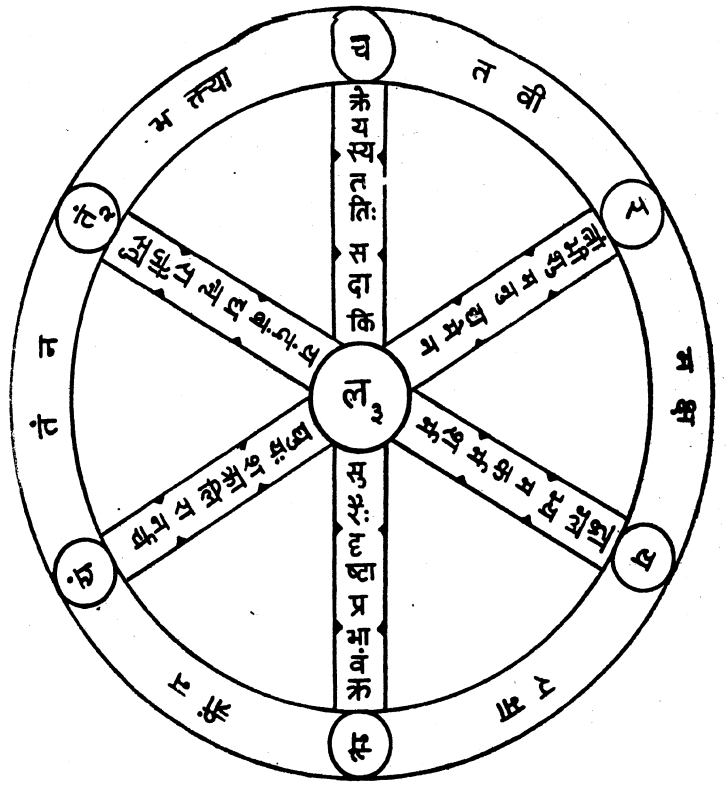
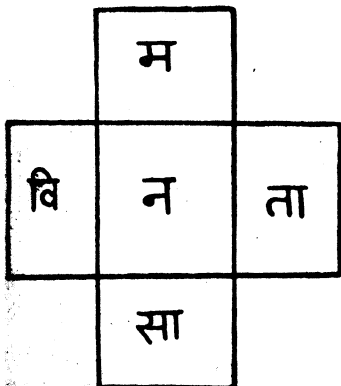
31



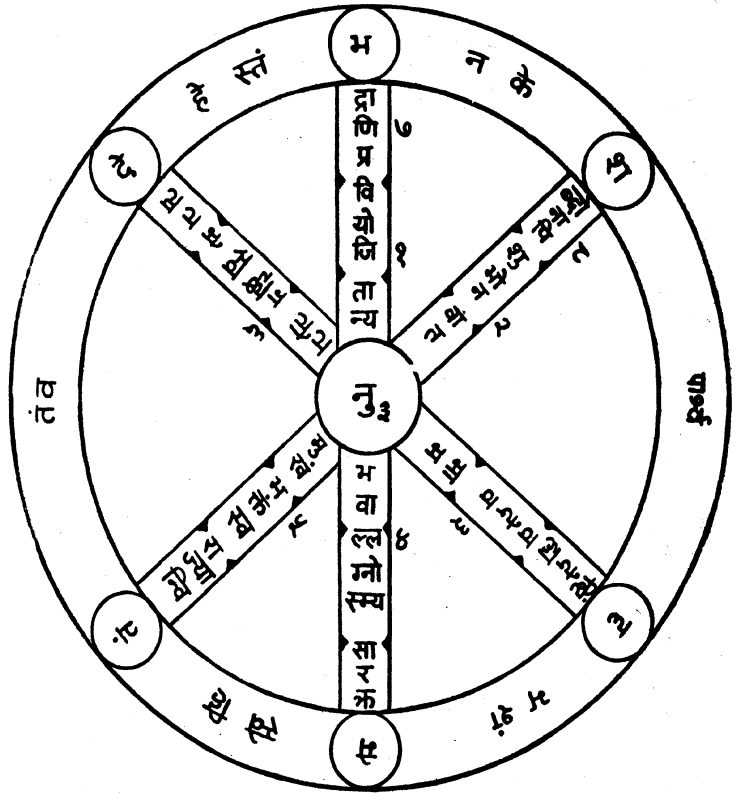
32

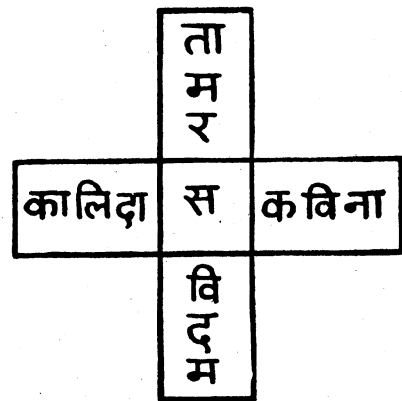
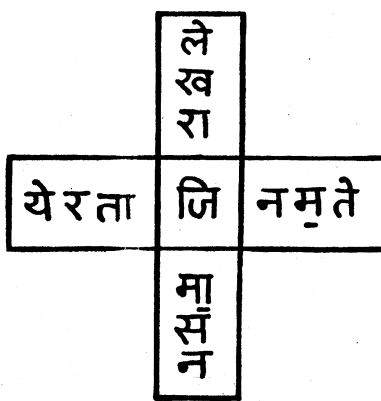
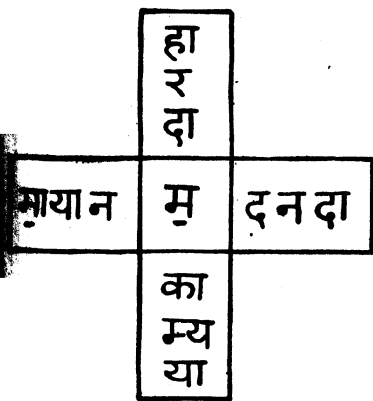
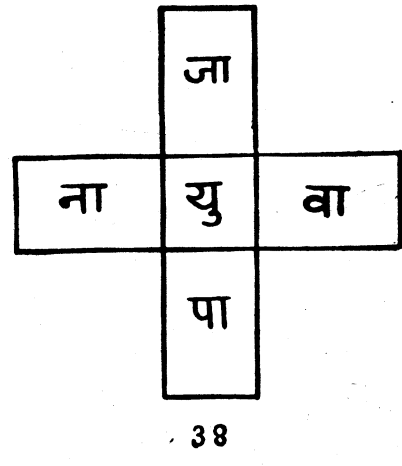
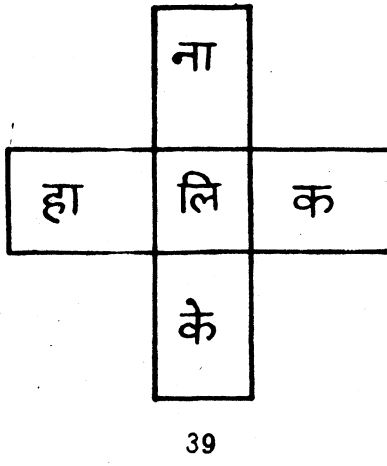
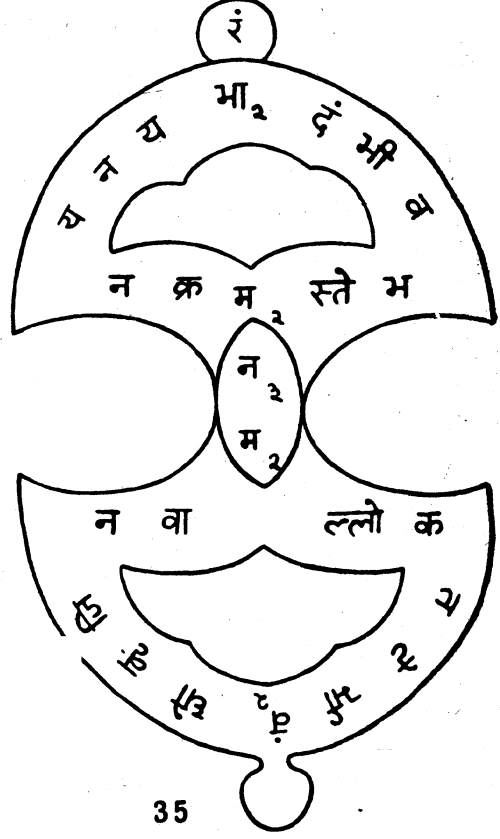
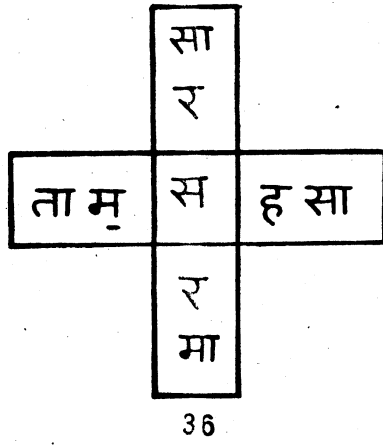
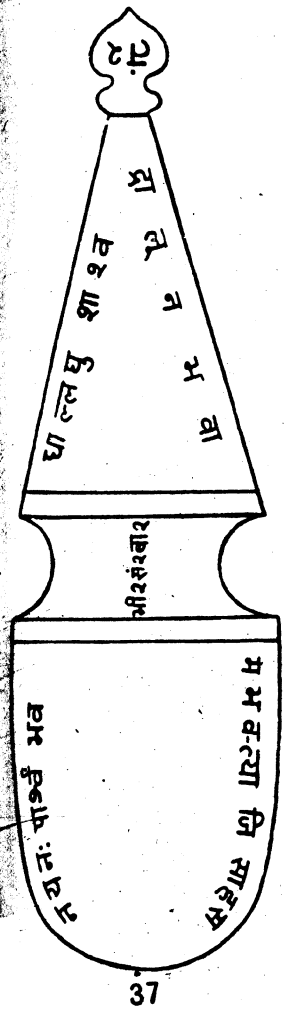


33



29





चित्रकाव्य-परिचय

श्री जिनवल्लभसूरि प्रणीत ६ ग्रन्थों के ४२ चित्र-काव्यों की ६ प्लेटें प्रस्तुत पुस्तक में दी गई हैं। किस ग्रन्थ का चित्र-काव्य किस प्लेट में और कौन से क्रमांक पर है? जानकारी हेतु वर्गीकरण कर रहा हूँ—

ग्रन्थ का नाम	प्लेट संख्या	चित्र संख्या
(१) स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तोत्र (चित्रकाव्यमय)	१	१, ६, ७, ८
	२	९, ११
	६	३५, ३७
(२) चित्रकूटीय वीर-चैत्य प्रशस्ति	३	१७
(३) धर्मशिक्षा प्रकरण	४	२३
	३	१८
(४) संघपट्टक प्रकरण	४	२४
(५) स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तोत्र (चक्राष्टक)	५	२९, ३०
(६) प्रथोत्तरं कृषष्टिग्रत काव्य	१	२, ३, ४, ५
	२	१०, १२, १३, १४, १५, १६
	३	१९, २०, २१, २२
	४	२५, २६, २७, २८
	५	३१, ३२, ३३, ३४
	६	३६, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२

ग्रन्थानुसार चित्रकाव्यों का परिचय निम्नलिखित है—

१. स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तोत्र (चित्रकाव्यमय)—इस स्तोत्र में शक्ति, शूल, शर, मुसल, हल, वज्र, खड्ग और धनुष ८ चित्रकाव्यों का प्रयोग हुआ है। प्रत्येक चित्रकाव्य में गुम्फित श्लोक चित्र संख्यानुसार निम्नांकित हैं :—

चित्र सं० १. वज्रबन्ध—

तमन्द, वचसाऽऽस्तं, ध्वस्तासुग गतव्रज ।

जगत्तबागुमासारोद्धु तमज्जज्जनं जिन ॥७॥

चित्र सं० ६. प्रधासहासिबन्ध—

नमस्कारस्तवाक्षोभयनाभालि सन्नुनिन ।

नमेन्द्रराजवानायस्थनल्पनयज्ञल्पक ॥८॥

चित्र सं० ७. त्रिशूलबन्ध—

नरोधः स्थिरसंलाभकाक्षी जिन जितश्रम ।
मदनो नोदमस्थाद-दद्यादस्तवमस्तव ॥ ३ ॥

चित्र सं० ८. शरबन्ध—

नश्यन्ति तत्क्षणादेव स्मृत्या तव ततस्तव ।
वधपापादपापास्तः सद्रो वचननिश्चितम् ॥ ४ ॥

चित्र सं० ९ घनुर्बन्ध—

नमन्त जिन भावेन शक्रालीमलनाशक ।
कल्याणेषु सदा सर्वा समुत्थे मान्यशासन ॥१॥

चित्र सं० ११. हलबन्ध—

न स पाशवं भवारातेः कृतेः क्षोभं स साध्वस ।
समेति यः करोत्यन्तस्थां सत्कुल मुशीलज ॥६॥

चित्र सं० ३५. शक्तिबन्ध—

नमल्लोकतटेभवि बंधो वृजिन वामन ।
नमस्ते भवभीदभारंभाय नयनक्षम ॥२॥

चित्र सं० ३७ मुसलबन्ध—

नयनः पार्श्वं भवभी संवाधाल्लघुणाश्वतं ।
तन्द्रालूनभवावासं भीमभक्त्यात्रिसाहस ॥५॥

X X X X X

चित्र संख्या १७, २३, १८, २४, २६, ३० छहों षडारकबन्ध चक्रकाव्य है। इन चक्रकाव्यों में अक्षरों को स्थापन करने की पद्धति इस प्रकार है :—

चक्र में ६ आरक (आरे) हैं, मध्य में नाभि है और आरकों के ऊपर गोलाकार चक्र है। पहले आरक में श्लोक के प्रथम चरण के २ से ६ अक्षर और चौथे आरक में इसी प्रथम चरण के ११ से १८ अर्थात् आठ-आठ अक्षर लिखे जाते हैं। इसी प्रकार दूसरे और पांचवें आरक में द्वितीय चरण के एवं तीसरे तथा छठे आरक में तृतीय चरण के २ से ६ और ११ से १८ अर्थात् आठ आठ अक्षर क्रमशः लिखे जाते हैं। मध्य नाभि भाग में प्रथम द्वितीय तृतीय चरणों का १०वां अक्षर स्थापित किया जाता है जो कि प्रारम्भ के तीनों ही चरणों में १०वां अक्षर नियमानुसार एक ही होता है, अर्थात् इस अक्षर की त्रिरावृत्ति होती है। ऊपर के गोलाकार चक्र (हाल) में आरक में संलग्न छह स्थान हैं। इसमें से प्रारम्भ की १-२-३ तीनों शिराओं में तीनों चरणों के प्रथम अक्षर और शेष ४-५-६ शिराओं में तीनों चरणों के अन्तिम अक्षर क्रमशः स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार तीनों चरणों के आद्यन्ताक्षर की त्रिरावृत्ति होती है और केवल तृतीय चरण के अन्तिमाक्षर की पढ़ने में त्रिरावृत्ति होती है। चक्र में शेष स्थानों के मध्य में छहों रिक्त स्थानों पर चतुर्थ चरण के दो-दो अक्षर क्रमशः २-३; ५-६; ८-९; ११-१२; १४-१५; १७-१८; अक्षर स्थापित किये जाते हैं। चतुर्थ चरण के १, ४, ७, १०, १३, १६ और १९वां अक्षर जो सात अक्षर शेष हैं वे नियमानुसार प्रारम्भ के तीनों चरणों के आद्यन्ताक्षर होते हैं। अर्थात् प्रथम द्वितीय तृतीय चरण का प्रथमाक्षर जो होता है वही नियमित रूप से चतुर्थ चरण में ४, ७, १०वां अक्षर

होता है और इस प्रकार उक्त तीनों चरणों का अन्तिमाक्षर जो होता है वही निश्चित रूप से चतुर्थ चरण का १३, १६, १९वां अक्षर होता है तथा तृतीय चरण का ही अन्तिम १९वां अक्षर चतुर्थ चरण का पहला अक्षर होता है ।

यह षडारकबन्ध चक्रकाव्य प्रायः १९ वर्णात्मक शार्दूलविक्रीडित छन्द में ही ग्रथित किया जाता है ।

इस चक्रकाव्य में जिन अक्षरों के आगे १ से १२ तक के अंकों का न्यास किया गया है, उसकी परिपाटी निम्नांकित है :—

प्रारम्भ में श्लोक के प्रथम द्वितीय तृतीय चरण का ७वां अक्षर ग्रहण किया जाता है, पश्चात् क्रमशः १३वां अक्षर ग्रहण किया जाता है । पुनः उक्त तीनों चरणों के क्रमशः ३रा और १७वां अक्षर ग्रहण किया जाता है । उक्त रीति से अक्षरों को ग्रहण करने पर कर्त्ता का नाम स्पष्ट होता है । उदाहरणार्थ चित्रकूटीय वीरचैत्य प्रशस्ति का ७६वां पद्य देखें । इसमें श्लोक का ७वां अक्षर 'जि न व' १३वां अक्षर 'ल्ल भ ग' ३रा अक्षर 'णे वं च' और १७ वां अक्षर 'न मि दं' है । इन अक्षरों को संयुक्त करके पढ़ने पर 'जिनवल्लभगणेर्वचनमिदं' कर्त्ता का नाम पढ़ा जाता है ।

२. चित्रकूटीय वीरचैत्य प्रशस्ति, पद्य ७६

चित्र सं० १७. षडारक चक्रबन्ध—

७	१	४	१०
विभ्राणेन मति	जिनेषु	बलवल्लग्नेन	जैनक्रमे,
८	२	५	११
सत्सर्वज्ञमतेन	पूतवचसा	भद्रावलीमिच्छुना ।	
९	३	६	१२
हित्वा चर्च्यपदावहेऽत्र	वचने	गर्ही	प्रमादं दरं,
रन्तव्यं विधिना सदा	स्वहितदे	मेघाविना सादरं ॥७६॥	
'जिनवल्लभगणेर्वचनमिदं'			

३. धर्मशिक्षा प्रकरण, पद्य १ और ४०

चित्र सं० २३. षडारकचक्रबन्ध—

७	१	४	१०
नत्वा भक्तितांगकोहमभयं	नष्टाभिमानक्रुधं,		
८	२	५	११
विज्ञं वद्वितशोणमक्रमनखं	वर्ष्यं सतामिष्टदं ।		
९	३	६	१२
विद्याचक्रविभुं जिनेन्द्रमसकृल्लब्धास्य	पादं भवे,		
वेद्यं ज्ञानवतां विमर्शविशदं धर्म्यं	पदं प्रस्तुवे ॥१॥		
'मणिरजिनवल्लभवचनमिदं'			

चित्र सं० १८, षडारक चक्रबन्ध—

शिक्षा भव्यनृणां गणाय मयकाऽनर्थप्रदेनस्तरं,
दग्धुं वह्निरभाणि येयमनया वर्तेति योऽमत्सरः ।
नम्यं चक्रभृतां जिनत्वमपि सल्लब्धार्च्यपादः परं,
रतासौ शिवसुन्दरीस्तनतटे रुन्द्रे नरः सादरं ॥४०॥

‘गणित्जिनवल्लभं वचनं मदः’

४. सङ्ख्यपट्टक पद्य ३८

चित्र सं० २४ षडारक चक्रबन्ध—

विभ्राजिष्णुमगर्वमस्मरमनाशादं श्रुतोल्लङ्घने,
सज्ज्ञानद्युमणिं जिनं वरवपुः श्रीचन्द्रिकाभेश्वरं ।
वन्दे वर्ण्यमनेकधा सुरनरैः शक्रेण चैनच्छिदं,
दम्भारिं विदुषां सदा सुवचसानेकांतरंगप्रदं ॥३८॥

‘जिनवल्लभेन गणितेनैव चक्रे’

चित्र सं० १७, २३ और १८ में अंक-स्थापन परिपाटी एक समान है किन्तु इसमें भिन्नता प्रतीत होती है। पूर्वोक्त तीनों चित्रों में ७, १३, ३ और १७वां अक्षर ग्रहण किया गया है, जबकि इसमें विपरीत गति से ३, १७, ७, और १३वां अक्षर ग्रहण किया गया है।

५. स्तम्भन पार्ष्वनाथ स्तोत्र (चक्राष्टक) — इस स्तोत्र के ८ आठों ही पद्य षडारक चक्रबन्ध काव्य में गुंफित हैं। यहां केवल प्रथम और अन्तिम आठवें पद्य के ही चित्र दिये गये हैं।

चित्र सं० २६ षडारकचक्रबन्ध—

चक्रे यस्य नतिः सदा किल सुरैः हृष्टा प्रभावं क्रमै-
रस्तांभीतमनुद्यवंत लघु यः शकालिरानर्च्यं यं ।
यद्वाग्लम्यमकर्मशर्मलयदं बंधन्नराजो स्तुतं,
तं भक्या बत वीरमक्षयरमामंत्री नयंतं नतं ॥ १ ॥

इसमें अङ्क-स्थापन परिपाटी द्वारा कर्ता का नाम नहीं दिया गया है।

चित्र सं० ३०, षडारकचक्रबन्ध—

भद्राणि प्रवियोजितान्यनुभवाल्लग्नोऽस्म्यंसारक्रमे,
शब्दो नापि शुभो न वा तनुमुखं भक्तं स्वराज्यान्वितं ।
दृष्टिं दो...वदेव मामनुततो गच्छस्वमेतत्पदे,
देहे स्तम्भनकेश पार्ष्वं हृभशं मे स्वे हितां तं वदे ॥ ८ ॥ ‘जिनवल्लभगणिना’

६. प्रश्नोत्तरकवचष्टिशत काव्य—यह प्रश्नोत्तर काव्य प्रहेलिकामय है। इस प्रश्नोत्तर काव्य के २८ प्रश्नों के उत्तर कवि ने चित्र-काव्यों में दिये हैं। इन २८ उत्तरों का परिचय चित्रानुक्रम से इस प्रकार है—
चित्र सं० २. मन्थानान्तर जाति का चित्र है। श्लोक ७४ का उत्तर—

‘शाटकी, कीटशा, कंटक, कटक, शाक, कीकट’

चित्र सं० ३. मन्थानजाति, श्लोक १३६ का उत्तर—

‘साम धारि मा त्वया, यात्वमाऽरिधाम सा, नेह गरिमोघतां, तां धमोरिगहने’

चित्र सं० ४. मन्थानान्तर जाति, श्लोक १५४ का उत्तर—

‘से तप, पतसे, सेतवे, वेतसे’

चित्र सं० ५. मन्थान जाति, श्लोक १५२ का उत्तर—

‘हालिक, कलिहा, नालिके, केलिना, नाककेलिहा’

चित्र सं० १०. मन्थानजाति, श्लोक ६१ का उत्तर—

‘सारतादिना, नादितारसा, यामतागवि, विगतामया’

चित्र सं० १२. शृंखलाजाति, श्लोक ६ का उत्तर—

‘वीराज्ञा विनुदति पापम्’

चित्र सं० १३. शृंखलाजाति, श्लोक ६३ का उत्तर—

‘सा रामा रमयते मनो नः’

चित्र सं० १४. शृंखलाजाति, श्लोक ७१ का उत्तर—

‘भामारतसानतेमनसि’

चित्र सं० १५. मन्थानजाति, श्लोक १३८ का उत्तर—

‘तागत्वरीमरक, करमरीत्वगता, सारतरीपरसा, मारपरीतरसा’

चित्र सं० १६. मन्थानजाति, श्लोक १० का उत्तर—

‘यानताम स, समतानया, विभुता सदा, दासता भुवि’

चित्र सं० १९. अष्टदलकमल व्यस्त जाति के चित्र में श्लोक ४७ का उत्तर—

‘हासुस्तनीसायताक्षीरे’

चित्र सं० २०. विपरीत अष्टदलकमल चित्र में श्लोक २० का उत्तर—

‘विगतजलदपटलम्’

चित्र सं० २१. अष्टदलकमल चित्र में श्लोक १४ का उत्तर—

‘अस्नातास्त्रीमङ्गलेप्सुना’

चित्र सं० २२. अष्टदलकमल चित्र में श्लोक ३६ का उत्तर—

‘हला संस्तरं सारयेतः’

चित्र सं० २५. विपरीत षोडश दल कमल चित्र में श्लोक ५६ का उत्तर—

‘कजाक्षी वाचाऽस्मानहह सहसाऽशुभदरे’

चित्र सं० २६. विपरीत षोडशदल कमल चित्र में श्लोक ७८ का उत्तर—

‘तरलनयना मामत्रेयं स्मितास्थमितीक्षते’

चित्र सं० २७. द्वादशपत्र पद्म चित्र में श्लोक ४२ का उत्तर—

‘हले वर्षत्यायस्तेभोदेहारस्तीतः’

चित्र सं० २८. विपरीत अष्टदल कमल चित्र में श्लोक ११८ का उत्तर—

‘अवलोकनकुतूहले’

चित्र सं० ३१. पद्मान्तर जाति चित्र में पद्य १४५ का उत्तर—

‘तामस, समता, सारस, सरसा, साहस, सहसा,
मारस, सरमा, समरहर, तासासामास’

चित्र सं० ३२. पद्म जाति चित्र में पद्य २६ का उत्तर—

‘विप्र, विधा, विना, विघ्ना, विप्रधानाघ्ना’

चित्र सं० ३३. पद्मान्तर-जाति चित्र में श्लोक १४७ का उत्तर—

‘कलमे, मेलम, करता, तारक, कवसे, सेवक,
कराव, बराक, कलरवरामे, तासेवक’

चित्र सं० ३४. मन्थानान्तर जाति चित्र में श्लोक ३२ का उत्तर—

‘मनसा, विनता’

चित्र सं० ३६. मन्थान जाति चित्र में पद्य १४५ का उत्तर—

‘तामस, समता, सारस, सरसा, साहस, सहसा,
मारस, सरमा, समरहर, तासासामास’

पद्य १४५ का उत्तर कवि ने चित्र सं० ३१ और ३७ में भिन्न-भिन्न जाति के चित्रों में दिया है।

चित्र सं० ३८. मन्थानान्तर जाति चित्र में श्लोक १२ का उत्तर—

‘ना युवा, वायुना, जायुपा, पायुजा’

चित्र सं० ३९. मन्थानान्तर जाति चित्र में पद्य ६९ का उत्तर—

‘नालिन, नलिना, मालिनी, नीलिमा, नामानि, इत्तं, आलि’

चित्र सं० ४०. मन्थानान्तर जाति चित्र में श्लोक १४३ का उत्तर—

‘कालिदासकविना, नाविकसदालिका, तामरसविदम,
मदविसरमता, सरकविदामविदलिता नाम का’

चित्र सं० ४१. मन्थान जाति चित्र में पद्य १३३ का उत्तर—

‘ये रता जिनमते, तेमनजितारये, लेखराजिमासन, नसमाजिराखले’

चित्र सं० ४२. मन्थान जाति चित्र में श्लोक १३२ का उत्तर—

‘मायानमदनदा, दानदमनयामा, हारदामकाम्यया, याभ्यकामदारह्वा’

विषय-सूची

अध्याय : १. पूर्वाभास और गुरु-परम्परा पृष्ठ १-३६

पूर्वाभास १, तत्कालीन राजनैतिक अवस्था २-१०, सामाजिक अवस्था १०-१४, धार्मिक अवस्था १४-१५, चैत्यवास १६-१८, गुरु-परम्परा—आचार्य वर्धमानसूरि १८-१९, आचार्य जिनेश्वर और पाटण शास्त्रार्थ-विजय २०-२५, खरतर-विरुद प्राप्ति २५-२८, आचार्य जिनेश्वर की साहित्य-सर्जना और शिष्य परिवार २९-३०, आचार्य अभयदेवसूरि ३०-३५, आचार्य जिनवल्लभसूरि ३५-३६

अध्याय : २. कवि का जीवन-वृत्त और देन ३७-६१

आचार्य जिनवल्लभसूरि का जीवन-वृत्त ३७-३९, बाल्यकाल और दीक्षा ३९, विद्याभ्यास ३९-४०, अभयदेवसूरि से विद्याध्ययन ४०-४२, चैत्यवास त्याग और उपसम्पदा ग्रहण ४२-४४, चित्रकूट गमन ४४-४५, गणिजी के चमत्कार ४५-४६, षट् कल्याणक प्ररूपणा और विधि-चैत्यों की स्थापना ४६-४९, षड्यंत्र का भण्डाफोड़ ४९-५०, प्रतिबोध और प्रतिष्ठायें ५०-५१, प्रवचन-शक्ति ५१, समस्या-पूति ५१-५३, आचार्यपद और स्वर्गवास ५३-५४, शिष्य-परम्परा ५५-५८, विधिपक्ष ५८-६१,

अध्याय : ३. विरोधियों के असफल प्रयत्न ६२-८४

उपसम्पदा ६२-६५, षट् कल्याणक ६५-७६, संघ-बहिष्कृत ७६-७८, उत्सूत्र-प्ररूपक ७९-८१, पिण्डविशुद्धिकार ८१-८४

अध्याय : ४. ग्रन्थों का परिचय तथा वैशिष्ट्य ८२-१२४

ग्रन्थरचना ८५-८७, सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार प्रकरण ८७-८८, आगमिक-वस्तु-विचारसार प्रकरण ८८-८९, पिण्डविशुद्धि प्रकरण ८९-९१, सर्वजीवशरीरावगाहना स्तव ९१-९२, श्रावकव्रत कुलक ९२-९३, पौषधविधि प्रकरण ९३-९४, प्रतिक्रमण समाचारी ९४-९५, द्वादशकुलक ९५-९८, धर्मशिक्षा प्रकरण ९८, सङ्घपट्टक ९८-९९, स्वप्न-सप्तति ९९-१०२, अष्ट-सप्तति : चित्रकूटीय वीरचैत्य प्रशस्ति १०२-१०४, शृङ्गारशतम् १०५, चरित्र-षट्क १०५-११२, चतुर्विंशति-जिन-स्तोत्राणि ११२-११४, चतुर्विंशति-जिन-स्तुतयः ११४-११५, सर्व जिन पञ्च कल्याणक स्तोत्र ११५-११९, सर्व जिन पञ्च कल्याणक स्तोत्र ११९, प्रथम जिन स्तव ११९, लघु अजित-शान्ति-स्तव ११९, क्षुद्रोपद्रवहर पार्श्वनाथ स्तोत्र, स्तंभन-पार्श्वनाथ स्तोत्र एवं महावीर विज्ञप्तिका ११९-१२०, महाभक्तिगर्भा सर्वज्ञ-विज्ञप्तिका १२०, नंदीश्वर-चैत्य स्तव १२०-१२१, भावारिवारण स्तोत्र १२१, पंच कल्याणक स्तोत्र १२२, कल्याणक स्तोत्र १२२, अष्ट स्तोत्र १२२-१२३, भारती स्तोत्र १२३, नवकार स्तोत्र १२३-१२४

अध्याय : ५. कवि-प्रतिभा

१२५-१३६

कवि प्रतिभा १२५, काव्यशैली १२५-१२६, प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतं १२६-१२८, शृंगारशतम् १२८-१३३, स्तोत्र-साहित्य १३३-१३६

अध्याय : ६. जिनवल्लभ की साहित्य-परम्परा

१३७-१८४

टीकाग्रन्थ और टीकाकार १३७, ग्रन्थों पर टीकायें १३७-१४१, टीकाकारों का परिचय—मुनिचन्द्रसूरि १४१-१४३, रामदेव गणि १४३-१४४, धनेश्वरसूरि १४४-१४६, मलयगिरि १४६-१४७, हरिभद्रसूरि १४७-१४८, यशोभद्रसूरि १४८-१४९, श्रीचन्द्रसूरि १४९-१५३, यशोदेवसूरि १५१-१५२, उदयसिंहसूरि १५२-१५३, संवेगदेव गणि १५३, युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि १५४-१५५, वाचनाचार्य विमलकीर्ति १५५-१५६, जिनपालोपाध्याय १५६-१५९, युगप्रवरागम जिनपतिसूरि १५९-१६१, हर्षराजोपाध्याय १६१-१६२, लक्ष्मीसेन १६२-१६३, महोपाध्याय साधुकीर्ति १६३, उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ १६३-१६४, महोपाध्याय पुण्यसागर १६४-१६६, उपाध्याय साधुसोम १६६-१६७, वाचक कनकसोम १६७-१६८, कमलकीर्ति १६८, उपाध्याय समयसुन्दर १६८-१६९, विमलरत्न १६९, वाचनाचार्य घर्मंतिलक १६९-१७०, उपाध्याय गुणविनय १७०-१७२, उपाध्याय देवचन्द्र १७२-१७३, उपाध्याय जयसागर १७३-१७४, वाचनाचार्य चारित्रवर्धन १७४-१८१, उपाध्याय मेरुसुन्दर १८१-१८२, क्षेमसुन्दर १८२, उपाध्याय पद्मराज १८२-१८३, उपसंहार १८४.

परिशिष्ट :—

१. युगप्रधान जिनदत्तसूरि रचित जिनवल्लभसूरि-गुणवर्णन	१-७
२. नेमिचन्द्र भण्डारी विरचित जिनवल्लभसूरि गुरु-गुणवर्णन	८-१०
३. जिनवल्लभसूरि-स्तुत्यात्मक-पद्याः	११-१६
सहायक ग्रन्थों की तालिका	२०-२३



धारानरेश नरवर्मा को आशीर्वाद देते हुए युगप्रवर श्री जिनवल्लभसूरिजी महाराज

वल्लभ-भारती

अध्याय : १

पूर्वाभास और गुरु-परम्परा

प्रस्तुत ग्रन्थ में खरतरगच्छ के एक प्रमुख आचार्य श्री जिनवल्लभसूरि के ४४ ग्रन्थों का संग्रह एवं अध्ययन किया गया है। इन ग्रन्थों की विशेषताओं के विषय में कुछ भी कहने से पूर्व आचार्य के जीवन तथा उनके महत्वपूर्ण कार्यों को जान लेना तथा ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्य की जो देन समाज को प्राप्त हुई उस पर विचार कर लेना आवश्यक है। किसी भी व्यक्ति के जीवन का मूल्य आंकने के लिए उसके आस-पास की परिस्थितियों को तथा तत्कालीन सामाजिक शक्तियों को जान लेना आवश्यक है। क्योंकि जहां यह ठीक है कि व्यक्ति अपनी कुछ सहज प्रतिभा तथा शक्ति को लेकर जन्म ग्रहण करता है वहां यह भी सच है कि व्यक्ति की प्रतिभा और शक्ति तत्कालीन परिस्थितियों से मर्यादित और प्रभावित होकर अभिव्यक्त होती है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो समाज के अन्ध-भक्त न होकर उलटे उसको अपने पद-चिन्हों पर चलाया करते हैं और सच पूछिये तो आचार्य जिनवल्लभ ऐसे ही महापुरुषों में से एक थे। परन्तु यह सब होते हुए भी आचार्य उस युग की आवश्यकता के अनुरूप उत्पन्न हुए थे और उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए सफल प्रयत्न के कारण वे जैन-धर्म के इतिहास में अपना एक निश्चित स्थान बना गये। इसलिए उनके जीवन पर कोई भी विचार तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्था के स्वरूप को भलीभांति न समझ लिया जाय।

तत्कालीन राजनीतिक अवस्था

यों तो सातवीं शती के चतुर्थ चरण से ही भारत के पश्चिमी सीमान्त पर यवनों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे और सिन्ध प्रदेश पर अरबों का आधिपत्य भी हो गया, पर दशमी शती के अन्त तक इन आक्रमणों की संख्या में वृद्धि हो गई। सिन्ध से पूर्व की ओर बढ़ने में थार की मरुभूमि ने उनकी महत्वाकांक्षा और शक्ति को निरुद्ध कर दिया था, इसलिए अब इन नवीन आक्रमणों का लक्ष्य पंजाब प्रान्त बना। पंजाब की भूमि उर्वर थी और वहाँ के लोग थे भी समृद्ध। यह कहना असंगत न होगा कि उस समय तक यवन आक्रान्ताओं का उद्देश्य विधर्मियों के धार्मिक स्थानों को तोड़ना व उनको लूट कर लूट के माल से अपने निवास स्थान को समृद्ध करना था। भारत की उत्तरी पश्चिमी सीमा के प्रहरी पंचनद (पंजाब) क्षेत्र में उनको अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए पर्याप्त अवसर था।

भारत पर अरबों का प्रारम्भिक आक्रमण सिन्ध विजय को एक परिणाम शून्य विजय कहा गया है।^१ दशम शती के ये आक्रमण भी परिणाम शून्य कहे जायें तो अत्युक्ति न होगी। हाँ, अब ये आक्रमण समृद्ध भागपर हो रहे थे और इस कारण आक्रान्ताओं को यथेष्ट धन लूट में मिल जाता था। प्रारम्भिक आक्रमणों के समय अरबों ने भारतीय ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण किया था, जिनके माध्यम से यूरोप में इनका प्रचार हुआ। किन्तु दशम शती तक आते २ इन आक्रमणों का ऐसा भी कोई उद्देश्य न रहा। इस दृष्टि से इन आक्रमणों को एक सशक्त डाकेजनी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

दशमशती में खलीफाओं की केन्द्रीय शक्ति के निर्बल हो जाने पर गजनी में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना हो गई। गजनी भारत के अति निकट था इसलिए शीघ्र ही यह भारत पर आक्रमण का केन्द्र बन गया। ६७७ ई० में गजनी का शासन सुबुक्तगीन के हाथ में आया। उसने शीघ्र ही भारत पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया। भारत पर होने वाले यवनों के आक्रमणों में सुबुक्तगीन व उसके उत्तराधिकारी महमूद के आक्रमण अधिक महत्व रखते हैं। सुबुक्तगीन का संघर्ष कई बार सीमा प्रान्त के शाहीवंशी शासक जयपाल से हुआ। यद्यपि जयपाल सुबुक्तगीन को हरा न सका तो भी उसने विश्वासी सैनिक की भाँति भारत के उत्तरी पश्चिमी सिंहद्वार की अर्गला की शक्ति रहते रक्षा की। सुबुक्तगीन विजय पाकर भी आगे न बढ़ सका।^२

सुबुक्तगीन के उत्तराधिकारी महमूद ने १००० ई० से १०२६ ई० तक भारत पर १७ आक्रमण किये और अतुल धनराशि लूट कर अपने साथ गजनी ले गया। महमूद से हारकर जयपाल ने ग्लानि से चित्तारोहण किया। जयपाल का पुत्र आनन्दपाल भी उसी के समान

१. भारत का इतिहास : डॉ० ईश्वरीप्रसाद ।

२. भारत का इतिहास : डॉ० ईश्वरीप्रसाद ।

स्वाभिमानी था। उसने एक सशक्त संगठन करके महमूद को रोकना चाहा। धनी-निर्धन सभी ने आनन्दपाल की सहायता के लिए द्रव्य दिया। महमूद आनन्दपाल से आतंकित था किन्तु दुर्भाग्यवश आनन्दपाल का हाथी भाग जाने से महमूद को विजय हाथ लगी। उसने ज्वालामुखी के मन्दिर को लूटा। उसके अन्य आक्रमणों में १०२६ ई० का सोमनाथ का आक्रमण प्रसिद्ध है। प्रत्येक बार महमूद को लूट में अतुल सम्पत्ति मिली। वह स्वयं धर्म-युद्ध के नाम पर प्रतिवर्ष भारत पर आक्रमण करता था; किन्तु उसके आक्रमणों के मूल में धनेप्सा ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। इस समय तक वह धन के साथ २ राज्य का लोभ भी विस्मरण न कर सका था। पंजाब में उसने अपनी सत्ता स्थापित कर ली किन्तु उसकी मृत्यु के बाद पंजाब पुनः स्वतंत्र हो गया। ११७५ ई० में मुहम्मद गोरी ने गजनी शासन का अन्त कर दिया। इस बीच छुटपुट हमलों के अतिरिक्त कोई बड़ा आक्रमण भारत पर न हुआ। मुहम्मद गोरी ने विष्णुद्वज साम्राज्य-विस्तार की इच्छा से भारत पर आक्रमण किए।^१ उसे गुजरात के शासक भीमदेव ने पराजित कर दिया था। अनेक साहसी शूरवीर, युद्धप्रेमी राजपूतों और उनमें श्रेष्ठ पृथ्वीराज चौहान को हराये बिना मुहम्मद गोरी का उद्देश्य पूरा होना संभव न था। राजपूत जीते जी सूच्यग्रभाग के बराबर जमीन भी किसी को देने को तैयार न थे। वे सारे उत्तरी व दक्षिणी भारत में फैले हुए थे। साहस और शौर्य में वे आक्रान्ताओं से कम न थे। हां, वे कभी संगठित होकर शत्रु से न लड़ पाये और शताब्दियों तक संघर्षरत रह कर स्वाधीनता की दीगशिखा को उन्नत व प्रद्योतित रखते हुए भी काल के प्रवाह में उनकी भावना व प्रयत्नों को साफल्य न मिल सका।

सारे भारत में स्थापित राजपूत-राज्यों में कुछ अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त होने के कारण प्रसिद्ध हैं। जिस समय देश के सीमान्त सिंहद्वारों की अर्गला को विधर्मी आक्रान्ता बार बार खटखटा रहे थे और कभी-कभी भीषण प्रहार से ये द्वार और इनके प्रहरी आघात सहने में असमर्थ हो जाते थे, उस समय नितान्त शान्तिपूर्वक कुछ राज्यों के शासक विद्या और कलाओं की उपासना में रत थे। ऐसे शासकों में गुजरात के सोलंकी-वंशज सिद्धराज जयसिंह, मालवे के परमारवंशी वाक्पतिराज (मुञ्जदेव) व भोज तथा राजपूताने के चौहान-वंशी विग्रहराज (वीसलदेव) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

गुजरात के अणहिलपट्टन स्थान पर सोलंकी राज्य की स्थापना मूलराज ने की थी।^२ मूलराज के पुत्र चामुण्डराज ने सिन्धुराज (भोज के पिता) को युद्ध में मारा था। इस-लिए सोलंकीयों और परमारों में आपसी शत्रुता हो गई। फलस्वरूप मालवा और गुजरात में बराबर युद्ध होते रहे। चामुण्डराज के बाद उसके दो पुत्रों बल्लभराज और दुर्लभराज ने गुजरात पर शासन किया। दुर्लभराज का विवाह नाडोल के चौहान राजा महेन्द्र की बहिन दुर्लभदेवी से हुआ था। १०२१ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई नागराज

१. भारत का इतिहास : डॉ० ईश्वरीप्रसाद व राजपूताने का इतिहास प्र० भा०, गौ० ह० ओझा कृत।

२. जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास : मो. द. देशाई, व ओझाजी कृत राजपूताने का इतिहास

का पुत्र भीमदेव पाटन का शासक हुआ। भीमदेव के मंत्री विमलशाह ने १०३१ ई० में आबू के निकट देलवाड़े के प्रसिद्ध मन्दिर को बनाया था, जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि कला की दृष्टि से उसकी समता करने वाली कृति भारत में अन्य नहीं है।^१ महमूद गजनवी ने सन् १०२५ ई० में सोमनाथ पर आक्रमण किया था।^२ उसका प्रतिरोध करने में अपने आपको असमर्थ पाकर भीमदेव ने कंथकोट के किले में शरण ली। वापस लौटते समय भीमदेव की सैनिक टुकड़ियों ने महमूद को रेगिस्तान व कच्छ के दलदल में भटका कर बहुत परेशान किया था, जिसका बदला महमूद जीते जी न ले सका।^३ भीमदेव के समकालीन शासक सिन्ध में हम्मूक, मालवे में भोजराज और अजमेर में चौहान राजा वीर्यराम थे। भीमदेव ने हम्मूक को हराया था। इसी बीच मालवा के सेनापति कुलचन्द्र ने पाटण को आकर लूट लिया। भीमदेव ने रुष्ट होकर मालवा पर आक्रमण कर दिया। चेदि का शासक कर्णदेव भी इस समय मालवे की ओर बढ़ रहा था। दोनों ने मिलकर धारानगरी को जीत लिया। इसी समय भोज की मृत्यु आकस्मिक बीमारी से हो गई।^४

भीमदेव की मृत्यु के बाद सन् १०६३ ई० तक उसके पुत्र वर्ण ने गुजरात पर शासन किया। उसकी प्रशस्ति में बिलहण पंडित ने कर्ण सुन्दरी नामक नाटिका की रचना की है।^५ कर्णदेव की पत्नी कर्णाटदेशीया राजकुमारी मयणल्लदेवी से सिद्धराज जयसिंह का जन्म हुआ। जिनवल्लभसूरि ने कर्णदेव के समय गणि के रूप में जीवन यापन किया था।^६ ये कूर्च-पुरीय जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे।

१०६३ ई० में सिद्धराज जयसिंह का राज्यारोहण हुआ। उसके राजत्व काल में जिनवल्लभ की आचार्य एवं ग्रन्थकर्ता के रूप में प्रतिष्ठा हुई। सिद्धराज सोलंकियों में सबसे प्रतापी शासक था। उसने १२ वर्ष तक मालवे के राजा नरवर्मा से युद्ध किया और उसके पुत्र यशोवर्मा को कैद करके मालवा के राज्य को गुजरात में मिला लिया। चित्तौड़ और बागड़ पर भी जयसिंह का अधिकार हो गया। उसने महोबा के चन्देल राजा मदनवर्मा पर भी चढाई की थी। गिरनार के खेंगार को भी जयसिंह ने पराजित किया था। अजमेर के चौहान अर्णोराज को जयसिंह की पुत्री कांचनदेवी ब्याही गई थी,^७ जिससे पृथ्वीराज चौहान के पिता सोमेश्वर का जन्म हुआ। जयसिंह के दरबार में कई विद्वान् रहते थे, जिनमें आचार्य हेमचन्द्र, श्रीपाल, वर्द्धमान, सागरचन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। जयसिंह की मृत्यु के

१. श्रीभाजी का राजपूताने का इतिहास।
२. भारत का इतिहास : डॉ० ईश्वरीप्रसाद
३. इतिहास प्रवेश : जयचन्द्र विद्यालंकार
४. भारत के प्राचीन राजवंश : पं० विश्वेश्वरनाथ रेड
५. जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास : मो० द० देसाई
६. वही।
७. नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १. पृ० ३६३-३६४

बाद उसका सम्बन्धी कुमारपाल राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ। कुमारपाल के बाद सिद्धराज की कीर्ति को अक्षुण्ण रखने वाला कोई शासक पाटन में नहीं हुआ। सोलंकी वंश के शासन को उन्नत बनाने का श्रेय शासकों से अधिक उनके योग्यतम मंत्रियों संपत्कर, विमलशाह, उदयन मेहता, दामोदर मेहता, मुञ्जाल मेहता, वाग्भट्ट, शान्तू मेहता आदि को है। ऐतिहासिकों का कथन है कि ये तत्कालीन भारत के प्रसिद्धतम राजनीतिज्ञ थे और इनकी समानता प्राचीन भारत के राज्य-संस्थापकों चाणक्य और यौगन्धरायण आदि से की जा सकती है। यदि इनको आन्तरिक भगड़ों से अवसर मिलता तो संभवतः ये बाह्य आक्रमणों से देश को त्राण दिलाने का प्रयत्न भी कर पाते।

इस समय आबू, किराड़ू, जालोर, मालवा व बागड़ में परमार वंश के शासक राज्य करते थे। बागड़ के परमारों की राजधानी अर्थूणा या उच्छूणक नगर थी। ये मालवे के परमारों के निकटतम सम्बन्धी थे। सन् ११०० ई० के लगभग चामुण्डराज यहाँ का शासक था, उसने सिन्धुराज (संभवतः सिन्ध के राजा) और कन्ह के सेनापति को हराया था। चामुण्डराज के पुत्र विजयराज के बाद इस वंश का कोई इतिहास नहीं मिलता। चामुण्डराज और विजयराज का सान्धिविग्रहिक वामन भी अपने समय का प्रसिद्ध राजनीति-विशारद था।^१

किराड़ू का परमार उदयराज सिद्धराज का सामन्त था और सिद्धराज की कई विजयवाहिनियों में उपस्थित था। उदयराज के पुत्र सोमेश्वर ने 'महभूमि' के राजा जज्जक पर विजय प्राप्त करके उससे कृष्णकोट और नवसर के किले छीन लिये थे।^२ आबू के परमारों में धरणीवराह व घुन्धूक बड़े वीर हुए। घुन्धूक भीमदेव सोलंकी का समकालीन था। आबू के दण्डनायक दिमलशाह ने घुन्धूक का भीमदेव से मेल करा दिया। उसके उत्तराधिकारी पूर्णपाल और कृष्णराज हुए। कृष्णराज (द्वितीय) भीनमाल, किराड़ू और वसन्तगढ़ का स्वामी हुआ। उसे भीमदेव ने कैद कर लिया था। बाद में यह भीमदेव का मित्र बन गया। ध्रुवभट्ट, रामपाल आदि उसके उत्तराधिकारी हुए।

परमारों की मुख्यशाखा मालवा पर शासन करती थी। चित्तौड़ भी उस समय मालवा के अधिकार में था। इस राज्यवंश के सबसे प्रतापी शासक मुञ्जदेव (वाक्पति-राज) सिन्धुराज और भोजदेव थे। मुञ्जदेव ने कर्णाट के राजा तैल्प को कई बार परास्त किया था, किन्तु अन्त में उसी के द्वारा कैद होकर मारा भी गया।^३ मुञ्जदेव विद्वानों का आश्रयदाता था। उसकी राज्यसभा में तिलकमंजरी का रचयिता धनपाल, पद्मगुप्त (परिमल), घनऊजय, घनिक, हलायुध, अमितगति आदि अनेक विद्वान् रहते थे। वह स्वयं विद्वान् था। उसके कुछ श्लोक ही अब तक मिल पाये हैं। मुञ्ज के उत्तराधिकारी सिन्धुराज

१. भारत के प्राचीन राजवंश : पं० विश्वेश्वरनाथ रेड

२. किराड़ू का शिलालेख : भोभाजी का राजपूताने का इतिहास पृ० १८३

३. सोलंकीयों का प्राचीन इतिहास : प्र० भा० पृ० ७५-७७।

का विरुद्ध नवसाहसांक था। उसने बागड़, लाट, दक्षिण कोसल आदि को जीता। इसकी मृत्यु गुजरात के सोलंकी चामुण्डराज के द्वारा युद्ध में हुई।^१

भोज उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के समान विद्वान्, रसिक और परोपकारी था। उसने चेदि के राजा गांगेयदेव, भीमदेव व कर्णाटक के राजा जयसिंह (तैलप के पौत्र) को पराजित किया था। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ कुलचन्द्र उसका मंत्री था। राजा भोज के कई ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। वह स्वयं विद्वान् होने के साथ ही विद्वानों का गुणग्राहक था। वह कवियों को लक्ष-लक्ष रुपये दिया करता था। धनपाल व वेद-भाष्यकार उव्वट उसके सभा-पंडित थे। कालिदास नामधारी कोई कवि भी उस समय विद्यमान था जिसका अभी तक कोई ग्रन्थ नहीं मिला है। भीमदेव और चेदि-नरेश कर्ण ने धारानगरी पर आक्रमण किया उसी समय भोज की मृत्यु हुई। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह, उदयादित्य, लक्ष्मदेव आदि हुए। उदयादित्य ने सांभर के विग्रहराज (तृतीय) की सहायता से अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली और सोलंकी कर्ण को भी पराजित किया।^२ उसने भोज द्वारा बनायी गई "सरस्वती-कण्ठाभरण" पाठशाला को नवीन ढंग से सज्जित किया। उदयादित्य का पुत्र, मध्यभारत की अनेक कहानियों का नायक जगदेव किसी कारणवश सिद्धराज जयसिंह की राज्यसभा में चला गया था। उदयादित्य का छोटा पुत्र नरवर्मा भी बड़ा प्रतापी राजा था। उसने चित्तौड़ पर भी अपना अधिकार कर लिया था^३ और जयसिंह की अनुपस्थिति में पाटण को घेर लिया था। नरवर्मा पर जयसिंह ने आक्रमण किया और उसके पुत्र यशोवर्मा को कैद करके मालवे पर अधिकार कर लिया।^४ कुमारपाल की मृत्यु के बाद मालवे के परमार पुनः स्वतंत्र हो गए।

चित्तौड़ के गुहिलवंशी राजा उस समय आघाटपुर में राज्य करते थे। उदयपुर के समीप इसके खंडहर मिलते हैं। ग्यारहवीं शती में अल्लट यहां पर शासन करते थे। अल्लट के पिता भर्तृभट्ट ने भरतपुर (माहेश्वर) बसाया। अल्लट की रानी हूण राजा की पुत्री हरियदेवी ने हर्षपुर बसाया।

भोज और चेदि के कर्ण की मृत्यु के बाद कन्नौज में गहडवाल चन्द्रदेव व उसके वंशजों का राज्य हुआ। सांभर में इस समय चौहान वंश का राज्य था। अर्णोराज चौहान जयसिंह सोलंकी का समकालीन था। उसका पुत्र विग्रहराज भी बड़ा विद्वान् था। उसने हरकेलि और ललितविग्रहराज नाटक पत्थरों पर खुदवाये थे। सोमेश्वर का पुत्र पृथ्वीराज तृतीय चौहान वंश का सबसे प्रतापी और उत्तरी भारत का अन्तिम प्रसिद्ध हिन्दू सम्राट् था।^५

१. ना. प्र. पत्रिका भाग १ पृ. १२१।

२. पृथ्वीराजविजय काव्य सर्ग ५।

३. जिनवल्लभ कृत अष्टसप्ततिका

४. प्रबन्ध-चिन्तामणि पृ. १४२. ४३ व कुमारपालचरित जयसिंहसुरि कृत १

५. भारत का इतिहास : डा० ईश्वरीप्रसाद

पूर्व में इस समय पाल वंशी नयपाल और उसका पुत्र विग्रहपाल राज्य कर रहे थे। दक्षिण में चोल राजा वीरता और साहस में बढ़े चढ़े थे। इस वंश का राजेन्द्र चोल प्रथम (१०१८ से १०३५ ई०) बहुत बड़ा विजेता था। उसने समुद्र पार के कई द्वीपों को जीत लिया था और बिना किसी प्रतिरोध के उत्तरी भारत में गंगा तक की सैन्य यात्रा की थी।^१

उक्त ऐतिहासिक तथ्यों से प्रकट है कि यवनों के प्रारम्भिक आक्रमणों के समय भारत में भीमदेव, सिद्धराज जयसिंह, मुञ्ज, सिन्धुराज, भोज, कर्ण (चेदि), तैलप, विग्रहराज (वीमलदेव चतुर्थ), पृथ्वीराज चौहान, राजेन्द्र चोल आदि अनेक योग्य शासक हुए थे। उनके मंत्री तत्कालीन भारत के योग्यतम राजनीतिज्ञ थे। यदि वे विदेशी आक्रान्ताओं के सम्मुख एक होकर प्रतिरोध करने को तैयार हो जाते तो कदाचित् भारत को दासता की दुर्भाग्य-शाही सहसाब्दि का दुर्दर्शन न करना पड़ता। उनके बीच कोई गंभीर मतभेद भी न थे जो आसानी से दूर नहीं किये जा सकते हैं। उनमें से कई ने कलाओं को संरक्षण देकर उनकी उन्नति में जो अपूर्व कार्य कर दिखाया उससे उन शासकों व उनके सामन्तों का बुद्धि-कौशल भी प्रगट होता है। फिर भी छोटी-छोटी बातों के लिए उन्होंने युद्ध किया और अपनी शक्ति को इतना श्रान्त-क्लान्त, छिन्न-विच्छिन्न कर दिया कि उसका फल आगामी पीढ़ियों को एक हजार वर्ष तक भोगना पड़ा। कला व साहित्य के क्षेत्र में जहाँ हम उनका नाम अत्यन्त आदर के साथ लेते हैं वहाँ उनके चक्षुहीन कृत्यों के कारण हमें खेद पूर्वक सिर झुका लेना पड़ता है।

यह आश्चर्य की बात है 'गुजरात का नाथ' भीमदेव महमूद गजनवी पर पीछे से आक्रमण करे और छोटे २ राजपूताने के शासक उससे जम कर लोहा लें। अजमेर के चौहान वीर्यराम ने महमूद को युद्ध में घायल करके वापस लौटा दिया था।^२

इन समकालीन शासकों के समय अनेक साहित्यकारों ने अपनी रचनाएँ लिखीं। जिनवल्लभसूरि सिद्धराज जयसिंह के समय आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे।^३ उनका गुजरात, मेदपाट, अवन्ती, नरवर, नागौर आदि स्थानों से सीधा सम्पर्क था। चित्रकूट (चित्तौड़), धारानगरी, नागौर आदि स्थानों पर उपदेश देकर भक्तों को कृतकार्य किया था।^४

आचार्य जिनवल्लभसूरि के ग्रन्थों में कहीं भी प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः यवन आक्रमणों के विषय में उल्लेख नहीं मिलता। इससे प्रकट है कि इन धर्मप्रिय आचार्यों का मन बाह्य संसार से नितान्त निर्लिप्त था। उन्हें धर्म-सत्य की उपलब्धि हुई थी जिसके सामने यवनों के अत्याचारों का भय नहीं था।

भोजराज, सिद्धराज, विग्रहराज, नरवर्म आदि उदार शासकों का आश्रय अन्य धर्माचार्यों के साथ जैनाचार्यों को भी मिला था। कई आचार्यों को इन शासकों के मान्य-

१. भारत के प्राचीन राजवंश : विश्वेश्वरनाथ रेड पृ. ६

२. पृथ्वीराज विजय काव्य ।

३. जैन साहित्यको संक्षिप्त इतिहास : मो० दु० देसाई ।

४. वही ।

पंडित होने का अवसर भी मिला था। उनकी धर्म-साधना व धर्मप्रचार-कार्य अनवरत रूप से चलता था। योग्य शासकों के उदार शासन में जैन धार्मिक साहित्य की प्रभूत उन्नति हुई। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य इस संधियुग की—मध्ययुग और प्राचीन युग के मध्य का यह संधियुग ही था—सर्वमान्य विभूति के रूप में प्रसिद्ध हैं। खरतरगच्छ के आचार्यों में प्रमुख जिन-वल्लभसूरि भी इस काल के प्रसिद्ध साहित्यकार थे।

सामाजिक अवस्था

आचार्य जिनवल्लभ का समय ईसा की ग्यारहवीं शती का अन्तिम व बारहवीं शती का प्रथम चरण है। जैसा कि राजनैतिक दशा का वर्णन करते समय बताया जा चुका है कि बाह्यक्रमणों का भय सर्वदा बने रहने पर भी दक्षिणी राजस्थान, गुजरात, मालवा, कर्णाट आदि प्रदेशों के लोग पूर्ण शान्ति का अनुभव करते थे। आचार्य शंकर ने आठवीं शती में धार्मिक दिग्विजय करके भारत से बौद्धधर्म का उच्छेद कर दिया था। प्राचीन वैदिक धर्म की ओर अनिच्छा पूर्वक आकृष्ट होने वाले सामान्य स्थिति के लोगों को इस समय जैन-धर्माचार्यों की वाणी में अवलम्ब मिला और वे किसी न किसी रूप में उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

दक्षिण गुजरात में बौद्धों की वज्रयान शाखा के लोगों ने नवीन तंत्र प्रणाली को विकसित किया था। अभिचार-क्रियाओं द्वारा वे लोगों को आतंकित व प्रभावित करते थे। इनके प्रभाव के कारण जन-साधारण में यहां तक कि जैन धर्मावलम्बियों में भी शिवपूजा का प्रचार बढ़ता जा रहा था। इस काल के बने हुए हजारों शिव मंदिर इस क्षेत्र में मिले हैं। विदेशी क्षत्रप और महाक्षत्रपों ने शिवपूजा का प्रचार सबसे पहले किया था।^१

दशमशती के पूर्व ही ब्राह्मण वर्ण का सम्मान कम होना प्रारम्भ हो गया था।^२ केवल ब्राह्मण होने के कारण इस समय सम्मान मिलना कठिन था। हां, विद्वान् ब्राह्मणों का आदर अब भी होता था। कई शासकों ने ब्राह्मणों को गांव दान में दिये थे।^३ ये दान-पत्र उन शासकों की उदारता को तो प्रकट करते ही हैं साथ ही ऐतिहासिक घटनाओं को जानने के भी एकमात्र उपलब्ध प्रमाण हैं।

मुञ्ज, भोज, सिद्धराज, कुमारपाल आदि विद्वानों के आश्रय दाता थे। यह प्रसिद्ध है कि धारानगरी में जुलाहे तक कविता करते थे। एक जुलाहे का यह श्लोक प्रसिद्ध है :—

काव्यं करोमि न हि चास्तरं करोमि
यत्नात् करोमि यदि चास्तरं करोमि

१. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास : लूनिया

२. वही :

३. भारत के प्राचीन राजवंश में भोज, मुञ्ज, सिद्धराज के वर्णन

काव्य की ओर लोक-सामान्य की इतनी रुचि होने से प्रकट है कि लोगों की आर्थिक दशा अच्छी थी। विमलशाह ने आबू में देलवाड़े का जैन मन्दिर बनाया था, जिसमें उस समय करोड़ों रुपये खर्च हुए होंगे। पाटण का वैभव सारे भारत में प्रसिद्ध था। पाटण के अतिरिक्त धारानगरी, आघाट नगर, चित्रकूट (चित्तोड़), उज्जयिनी, चन्द्रावती, सोमनाथपुरी उस समय के प्रसिद्ध नगर थे। ये केवल राज्यों के केन्द्र होने से ही समृद्ध नहीं थे, वरन् तत्कालीन भारत के व्यापारिक केन्द्र भी थे। पाटण के वैभव को देख कर मालवा के शासक कई बार उसे लूटने गये थे। इस लोभ के कारण ही मालवा और पाटण में आपस में शत्रुता बनी रही। यह माना जा सकता है कि अच्छी आर्थिक स्थिति वाले लोग ही नगरों में बसते होंगे। भीमदेव, कर्ण आदि के शासन-काल में गुजरात के ग्रामीण भीलों व कोलियों ने उपद्रव किए थे। भील लोग जंगलों में यात्रियों को लूट लेते थे। इसका कारण कदाचित् उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी न होना ही होगा। सारा धन नगरों व मंदिरों में एकत्रित हो गया था। यवन आक्रान्ताओं ने मन्दिरों को तोड़ कर अतुल सम्पत्ति प्राप्त की थी।

ग्यारहवीं शती में भारतीय समाज में अनेक जातियां उत्पन्न हो गईं थी।¹ 'ब्राह्मण, क्षत्रिय (कई शाखाओं में विभक्त), महाजन, कायस्थ आदि ऊंची जातियों के अतिरिक्त दर्जी, सुनार, लुहार, बढई, कुम्हार, माली, नाई, घोबी, जाट, गूजर, मँर, कोली, बलाई, रँगर, महतर आदि जातियां बन गईं थी। इसके पहले जाति-पांति व खान-पान के बन्धन इतने कठोर न थे। राजशेखर की पत्नी चौहान वंश की थी। एक ही व्यक्ति दो अलग जातियों में भी विवाह कर सकता था। परन्तु ग्यारहवीं शती में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जब किसी ब्राह्मण ने इतर जाति में विवाह किया हो। खान-पान के आधार पर ब्राह्मणों के पंच गौड और पंचद्रविड भेद इसी समय हो गए थे।² जातियों में देश-भेद भी माना जाने लगा था। राजपूतों में जाति-भेद के नियम अब भी ढीले थे। वे दूसरी जाति में विवाह भी कर सकते थे। मीने, भील, भोगिये, गिरासिये आदि जंगली जातियां थीं। नगर के लोगों का प्रधान व्यवसाय व्यापार तथा गांव के लोगों का खेती व पशुपालन था।

गुजरात, मालवा और राजपूताना में शिक्षा का प्रचार राज्य की ओर से होता था। पाणिनीय व्याकरण की दुरुहता को दूर करने के लिये कातन्त्र व्याकरण की रचना हुई थी। प्रादेशिक भाषाओं में उसका प्रचार बढ़ता जा रहा था। शिक्षा प्रणाली प्राचीन थी। वलभी का विश्वविद्यालय इस समय तक नष्ट हो गया था। कुलीन लोगों की भाषा संस्कृत थी। संस्कृत के माध्यम से ही दर्शन, अर्थशास्त्र, वैद्यक आदि की शिक्षा दी जाती थी। प्रादेशिक भाषाओं की शिक्षा भी दी जाती थी। उज्जयिनि मध्यभारत में शिक्षा का केन्द्र था। भोज ने धारानगरी में 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक तथा विग्रहराज चतुर्थ ने अजमेर में शिक्षण संस्था की नींव डाली थी। विद्या निःशुल्क पढ़ाई जाती थी और

१. भारतीय सम्यता तथा संस्कृति का इतिहास : लूनिया

२. भारत का इतिहास : ईश्वरीप्रसाद,

निर्धन छात्रों को भोजन, वस्त्र भी मुफ्त मिलता था। कुलीन स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करती थीं।

समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा यथावत् कायम थी। पाटण में मयणल्लदेवी और कर्णाट में मृणालवती शासन-कार्यों में भी भाग लेती थीं। राजघराने की स्त्रियों को संगीत व नृत्यकला का अभ्यास भी कराया जाता था। वे सवारी व तलवार चलाना सीखती थीं। पर्दा प्रथा न थी। स्वयंवर की प्रथा भी प्रचलित थी। पर अधिकतर विवाह माता-पिता की सम्मति से हो जाते थे। राजकुलों में विवाह का राजनीतिक महत्व भी देखा जाता था। विधवा विवाह का प्रचलन नहीं था।

जैनाचार्यों की समाज के सभी वर्गों में अप्रतिहत गति थी। वे सब जगह जाकर सब लोगों को समान रूप से प्रतिबोध दिया करते थे। राज-दरबार से लेकर कर्मियों की झोंपड़ी तक में उनका समान रूप से सम्मान होता था। कई राजाओं ने जैन-धर्म स्वीकार किया था। जाति-भेद की बढ़ती हुई दीवारों को रोकने में इस समय जैनाचार्य सबसे बड़े प्रतिरोधक थे। ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ के अतिरिक्त निम्न जातियाँ भी जैन-धर्म का अवलम्बन ले रही थीं। कई हूण, शक आदि विदेशी जातियाँ भी जैन-धर्म ग्रहण कर चुकी थीं। पंजाब का शाही वंश भी विदेशी था; परन्तु तत्कालीन भारत की सीमान्त की रक्षा के लिए उसी ने यवनों से टक्कर ली। जैन-धर्म का प्रभाव गुजरात, मालवा, राजस्थान आदि क्षेत्रों में अधिक था। गुजरात में विशेषकर मेहताओं का बड़ा जोर था।

सामान्य लोग अपने योग्य शासकों के बल पर निर्भय होते हुए भी विदेशी आक्रमणों से बेखबर न थे। वे अपने देश पर अभिमान करते थे। अल्बरुनी का यह कथन इस बात को प्रमाणित करता है—“हिन्दू ऐसा विश्वास करते हैं कि उनके देश के समान दूसरा देश नहीं, उनके विज्ञान के समान दूसरा विज्ञान नहीं।” अपनी इस राष्ट्रीय-भावना के आधार पर वे देश की रक्षा करने को तत्पर थे। आनन्दपाल ने जब महमूद गजनवी का प्रतिरोध करने के लिये राष्ट्रीय संगठन करना चाहा, उस समय धनी-निर्धन सभी ने कुछ न कुछ द्रव्य इस काम के लिये दिया था। यहां तक कि स्त्रियों ने भी अपने आभूषण बेच कर, चर्खा कात कर इस कार्य के लिये द्रव्य जुटाया था।^१ यह ध्यान देने की बात है कि आनन्दपाल स्वयं विदेशी वंश का था। इससे स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि भारतीय-समाज उस समय राष्ट्रीयता की भावना से अपरिचित न था।

राजपूत लोग देशभक्ति में सबसे आगे थे। देश के लिये रणक्षेत्र में मर जाना वे सौभाग्य की बात समझते थे। स्त्रियाँ उन्हें हर्षित होकर युद्ध के लिये भेजती थीं। पति के मरने पर वे सती हो जाती थीं। युद्ध से भाग जाना अत्यन्त निन्दनीय पाप माना जाता था। राजपूत लोग अपना रक्त समाज में सबसे शुद्ध समझते थे। प्रत्येक राजपूत वंश की इसी दृष्टि से किसी देवता या प्रसिद्ध वीर पुरुष से उत्पत्ति खोज ली गई। प्रत्येक उत्कृष्ट काम को करने के लिये राजपूत सदा तैयार रहते थे। स्वामिभक्ति, शरणागत-वत्सलता, स्त्री-सम्मान और वचन पालन करने में राजपूत अद्वितीय थे। कभी-कभी तो वे इन कार्यों

१. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास : लूनिया

के लिये अपने प्राणों की बाजी भी लगा देते थे। राजपूत स्त्रियों में भी पति-भक्ति, सत्यनिष्ठा और साहस के गुण चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुए थे। वे शत्रु से युद्ध करने के लिये युद्धक्षेत्र में भी जाती थीं। सतीत्व की रक्षा के लिये वे अपने शरीर को भी अग्नि को अर्पित कर देती थीं। इस काल की प्रकाण्ड विदुषी राजशेखर की पत्नी अवंतीसुन्दरी चौहान वंश की कुमारी थी। राजपूत स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार अन्य वर्गों से अधिक था। उनको चित्रकला, संगीत, नृत्य के साथ शस्त्रचालन व घुड़सवारी की शिक्षा भी मिलती थी। कुछ स्त्रियों ने इस काल में शासन-व्यवस्था और युद्ध-कार्य में भी अपना कौशल प्रकट किया है। दक्षिण में सोलंकी विक्रमादित्य की बहिन अक्कादेवी ने चार प्रदेशों पर बड़ी कुशलतापूर्वक शासन किया था। उसने बेलगांव के गोकामे किले को भी घेरा था। गुजरात में मयणल्लदेवी भी शासन-कार्यों में भाग लेती थी। राजपूतों की देखादेखी अन्य लोगों में भी बालविवाह की प्रथा का प्रसार हो रहा था। अपने प्रभाव और सत्ता के कारण राजपूत-वर्ग समाज का प्रमुख वर्ग बन गया था। उनमें मदिरा सेवन, मिथ्याभिमान आदि दुर्गुण भी उत्पन्न हो गए थे। प्राचीन परिषदों की प्रथा को मिटा कर वे निरंकुश शासक बन चुके थे। राजपूतों में कन्याहनन जैसे जघन्य कार्य भी होते थे। फिर भी प्रेम और शौर्य में राजपूतों की समता करने वाला कोई नहीं था।

राजपूतों के बढ़ते हुए प्रभाव से घबरा कर ब्राह्मणों ने सामाजिक-बन्धन कठोर कर दिये। शिल्पिसंघ अलग-अलग जातियों के रूप में परिणत हो गए। जातियों का विभाजन सामाजिक दृष्टि से राष्ट्रीय पतन का कारण बन गया। जातीय हितों के सामने राष्ट्रीयता गौण होती चली गई। जातियों की सीमाएं दुर्लभ हो जाने से भारतीय समाज का वह महान् गुण नष्ट हो गया जिससे वह विदेशी जातियों को अपने में पचाने में समर्थ हुआ था। समाज की इस पाचन-शक्ति के अभाव ने भारत देश को सबसे अधिक हानि पहुँचाई है। इतना हौते हुए भी कर्म-स्वातंत्र्य अब तक बना हुआ था। हां, शिल्पों पर एक मात्र शूद्रों का अधिकार होता जा रहा था।

खान-पान में लोग अब भी अहिंसक-सिद्धान्तों से प्रभावित थे। मांस का प्रयोग कम होता था। राजपूत लोग शिकार करते और मांस खाते थे। मदिरा सेवन भी राजपूतों में अधिक प्रचलित था। उनमें अफीम खाने का दुर्व्यसन भी बढ़ रहा था। कुलीन लोग ताम्बूल भक्षण करते थे। घूम्रपान का प्रचलन नहीं हुआ था। इस काल के समाज के निम्न-वर्गों के विषय में बहुत ही कम जानकारी मिलती है। इतना कहा जा सकता है कि वे अपने में सन्तुष्ट थे। खेती, पशुपालन और आखेट से वे अपनी आजीविका चला लेते थे। इससे अधिक जीवन में वे कुछ इच्छा नहीं रखते थे। कभी-कभी वे सेना में भी भरती हो जाते थे। गुजरात में समुद्रतट पर कुछ मुसलमान लोग भी आ बसे थे। राज्य की ओर से उन्हें संरक्षण और धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी परन्तु वे हिन्दू-समाज पर किसी प्रकार के प्रभाव की स्थापना नहीं कर पाये थे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि ईसा की ग्यारहवीं शती तक आते-आते भारतीय समाज की पाचन-शक्ति व आत्मीकरण की प्रवृत्ति नष्ट हो गई। समाज अनेक जातियों

उपजातियों में विभक्त था। लोग इहलौकिक जीवन से सन्तुष्ट थे। अन्धविश्वास बढ़ते जा रहे थे। स्त्रियों का सम्मान था फिर भी उनको स्वातंत्र्य न देने व पुरुषों से हीन समझने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। समाज में अनुदारता, रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास, शिथिलता आदि बढ़ते जा रहे थे। समाज की गतिशीलता नष्ट हो गई थी। मध्य व पश्चिमी भारत में जैन-धर्म का प्रभाव अधिक था। राजपूतों ने धार्मिक स्वतंत्रता की नीति को अपनाया था। उनके संरक्षण में विद्या, साहित्य व कलाओं की उन्नति प्रभूतमात्रा में हुई थी।

धार्मिक अवस्था

कहा जा चुका है कि ११ वीं शती के समाज की प्रमुख प्रवृत्ति विभिन्नीकरण की थी। जाति-भेद इसी प्रवृत्ति की देन है। धार्मिक क्षेत्र में भी इस प्रवृत्ति का व्यापक प्रभाव पड़ा था। पौराणिक-धर्म के उदय व शंकराचार्य के प्रभाव से बौद्ध-धर्म का भारत से उच्छेद हो गया था। हिन्दू-धर्म ने भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार मान कर उसका पृथक् अस्तित्व भी समाप्त कर दिया। अनेक सम्प्रदायों की सृष्टि हो रही थी। अधिकांश लोगों द्वारा नवीन सम्प्रदायों में अपना स्थान निश्चित कर लिये जाने पर शेष लोग उपयुक्त मार्ग-दर्शन के अभाव में अनेक अन्धविश्वासों से ग्रस्त हो गए। इन्हीं लोगों में वज्रयान बौद्ध सम्प्रदाय के तंत्र, मंत्र, पंचमकार सेवन आदि का प्रचार हुआ। इतना अवश्य है कि इस नवीन विचारधारा का सामान्य जीवन से निकट का सम्पर्क रहा, इसलिए आगे चल कर इसी परम्परा में गुरु गोरखनाथ और पीछे से कबीर जैसे सुधारक जन्म ले सके। अब तक भिक्षु केवल बौद्ध-सिद्धान्तों के अनुयायी ही हुआ करते थे। अब, भिक्षुकों का अलग वर्ग ही बन गया; जिनका एक भाग किसी भी सिद्धान्त का अनुयायी न होकर केवल समाज का कोढ़ बन कर पनपने लगा। राजपूतों के उदय से बौद्ध धर्म का रहा सहा रूप भी समाप्त हो गया। केवल पूर्वी बंगाल के पाल शासक अब भी बौद्ध धर्म को संरक्षण प्रदान कर रहे थे।^१

भारत में कुछ समय पहले से पाशुपत सम्प्रदाय अलग रूप से विकसित हो रहा था। तांत्रिकों को इस सम्प्रदाय में अवलम्बन मिला। वे अपवित्र जीवन बिताते, भस्मी रमाते और अद्भुत स्वर का उच्चारण करते थे। इनमें भी कापालिक और कालमुख अधिक उग्र थे। वे कपाल में भोजन करते व मदिरा-मांस का सेवन करते थे। पाशुपत सम्प्रदाय का अपेक्षाकृत सौम्यरूप काश्मीर में विकसित हुआ था। दक्षिण भारत में वीर शैव या लिगायत मत का उदय भी इसी समय हुआ था; जिसको चोल तथा पाण्ड्य नरेशों ने आश्रय दिया था। ये लोग वेद को नहीं मानते, जाति-प्रथा का खण्डन करते, विधवा विवाह का समर्थन करते, शिवलिंग का पूजन करते, मृदों को गाड़ते, ब्राह्मणों के सर्वोपरि सम्मान, तीर्थ, श्राद्ध आदि का विरोध करते और गुरु की आज्ञा को सर्वोपरि मानते थे। मध्यकाल में सन्तों के सुधार सम्प्रदायों का सही अर्थों में पूर्वज इस मत को माना जा सकता है।^२

१. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास : लूनिया
भारत की संस्कृति का इतिहास : डा० मथुरालाल शर्मा

शिव की पत्नी की शक्ति रूप में उपासना करने वाला एक सम्प्रदाय अलग उठ खड़ा हुआ था। ये लोग कालिका, दुर्गा आदि रूपों में शक्ति की उपासना करते थे। राजपूतों में इस उपासना का प्रचलन अधिक हुआ। ये लोग पशु व नरबलि भी देते थे। गुजरात के अन्य भागों में पशु-बलि का प्रचलन अधिक हुआ था। कापालिक लोग भी दक्षिणी राजस्थान, गुजरात और मालवा में अधिक थे। साधारण लोग उनसे आंतकित थे और साथ ही उनके चमत्कारों में आस्था भी प्रकट करते थे। चमत्कार दिखाने वालों को सिद्ध पुरुष माना जाता था। ऐसे लोगों की अलग जाति बन गई थी जिन्हें “नाथ” कहा जाता है। ये लोग शिव और शक्ति की मिली-जुली उपासना करते थे और हिं, द्रुं, फट् आदि शाबर मन्त्रों में विश्वास करते थे।

हिन्दू धर्म ही इस समय सार्वभौतिक प्रभुता प्राप्त करता जा रहा था। उक्त मतों के अतिरिक्त सबसे अधिक लोकप्रिय सम्प्रदाय वैष्णवों का था। ये लौग विष्णु के अनेक अवतारों में विश्वास करते थे। उनकी भक्ति पर जोर देते थे। विष्णु की पूजा का प्रचलन बढ़ जाने पर भी अन्य देवताओं की उपासना सर्वसाधारण लोग बराबर करते जा रहे थे। राम, कृष्ण, बुद्ध, ऋषभदेव आदि को विष्णु के अवतारों के रूप में स्वीकार करके बहुत पहले एक सर्वसम्मत समन्वित धर्म को विकसित करने के प्रयत्न किए गए थे। ऐसा ज्ञात होता है कि जैन लोग इसे स्वीकार करने में हिचकिचाते थे। उनकी सम्मति में यह अर्हत् की शिक्षाओं के विपरीत था। आचार-विचार के मामले में वे महावीर के सिद्धान्तों में तनिक भी शिथिलता नहीं आने देना चाहते थे। तत्कालीन जैन-समाज में प्रचलित चैत्यवास प्रथा को निन्दनीय माने जाने का भी यही कारण ज्ञात होता है।^२

नव वैष्णव-मतवाद के प्रचार में दक्षिण भारत का अधिक योग रहा है। ग्यारहवीं शती के समाप्त होते-होते यमुनाचार्य जी का और श्रीसम्प्रदाय के संस्थापक रामानुज का आविर्भाव दक्षिण में ही हुआ था। कुछ लोग शांकर-मत के अद्वैतवाद से इस्लाम के एकेश्वर-वाद की समता देख कर पीछे से मुसलमान भी होने लगे थे परन्तु ऐसा अधिकतर उत्तर पश्चिम भारत में ही हुआ।

मालवा, राजस्थान और गुजरात में जैन मत का प्रचार अधिक हुआ था। जैन-मतावलम्बी शासन के उच्च पदों पर काम कर रहे थे। उनके कारण जैनाचार्यों का प्रभाव और भी बढ़ गया था। भोज, विग्रहराज, सिद्धराज आदि उदार शासकों ने जैन धर्म को प्रश्रय देने के साथ ही उन सिद्धांतों में विशेष रुचि दिखाई थी। गुजरात के सोलंकीयों का समय जैन-साहित्य का स्वर्णकाल उचित ही माना गया है। स्वयं जिनवल्लभसूरि ने अनेक स्थानों पर जाकर लोगों को प्रबुद्ध किया था। चैत्यवास प्रथा तत्कालीन जैन-समाज की प्रमुख विशेषता है जिसके विषय में विस्तार से प्रकाश डालना युक्तिसंगत होगा।

१. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास : लूनिया

भारत की संस्कृति का इतिहास : डा० मथुरालाल शर्मा २. बह्वी।

चैत्यवास

तत्कालीन जैन समाज की सबसे बड़ी बात जिसने आचार्य जिनवल्लभ के जीवन की गतिविधि को सबसे अधिक प्रभावित किया, वह थी जैन यतियों की चैत्यवास प्रथा। उस समय श्वेताम्बर समुदाय के यति लोग जिन-मन्दिरों में रहा करते थे जिनको प्रायः चैत्यगृह कहते थे। साधारणतया जो लोग जैन-धर्म के इतिहास से परिचित नहीं हैं उनकी समझ में यह नहीं आ सकता कि जिन-मन्दिर में वास करने वाले यतियों को किसी समय भी घृणा की दृष्टि से क्यों देखा गया? परन्तु यदि वे लोग यतियों के शास्त्र-सम्मत व्रत और आचार को अच्छी प्रकार से समझ लें तो उनका भ्रम दूर हो जाएगा। “जैन-शास्त्रों के विधान के अनुसार जैन यतियों का मुख्य कर्तव्य केवल आत्म-कल्याण करना है और उसके आराधन निमित्त शम, दम, तप आदि दशविध यतिधर्म का सतत पालन करना है। जीवन-यापन के निमित्त जहां कहीं मिल गया वैसा लूखा-सूखा और सो भी शास्त्रोक्त विधि के अनुकूल भिक्षान्न का उपभोग कर, अहर्निश ज्ञान-ध्यान में निमग्न रहना और जो कोई मुमुक्षुजन अपने पास चला आवे उसे एक मात्र मोक्षमार्ग का उपदेश करना है। इसके सिवा यति को न गृहस्थजनों का किसी प्रकार का संसर्ग ही कर्तव्य है और न किसी प्रकार का किसी को उपदेश ही वक्तव्य है। किसी स्थान में बहुत समय तक नियतवासी न बनकर सदैव परिभ्रमण करते रहना और वसति में न रहकर गांव के बाहर जीर्ण-शीर्ण देवकुलों के प्रांगणों में एकान्त निवासी होकर किसी न किसी तरह का सदैव तप करते रहना ही जैन यति का शास्त्र विहित एक मात्र जीवन-क्रम है”^१ जैन-सूत्रों के अनुसार साधुओं के लिये जिस आचार का विधान है उसके अनुसार जैन साधु को संक्षेप में निम्नलिखित बातों का पालन करना आवश्यक था:—

१. परिग्रह का अभाव अर्थात् धन, द्रव्य, दास, दासी, चतुष्पद आदि किसी भी वस्तु का संग्रह न करना।
२. एक स्थान पर स्थायी रूप से न रहना।
३. मधुकरी वृत्ति से ४२ दोष रहित भोजन ग्रहण करना।
४. ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना।
५. स्त्री, पशु रहित स्थान में ठहरना।
६. अंगराज, ताम्बूल, तेल, इत्र आदि का प्रयोग न करना।
७. क्रय, विक्रय आदि किसी भी किस्म का व्यापार न करना और न उससे प्राप्त धन को ही स्वीकार करना।
८. परिमित आहार।
९. क्षमा, लघुता आदि दशविध यति-धर्म का पालन करना।

१. कथाकोष प्रस्तावना पृ० ३-४.

चैत्यवासी लोग इन नियमों की सर्वथा अवहेलना करते थे। इन लोगों के आचार की कड़ी आलोचना संभवतः सर्वप्रथम हमें आचार्य हरिभद्रसूरि कृत संबोधप्रकरण में मिलती है। उक्त आचार्य चैत्यवासियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि “ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं। पूजा करने का आरम्भ करते हैं। देव द्रव्य का उपभोग करते हैं। जिन मन्दिर और शालायें बनवाते हैं। रंग, विरंगे सुगन्धित धूपवासित वस्त्र पहिनते हैं। बिना नाथ के बैलों के सहश स्त्रियों के आगे गाते हैं। आर्यिकाओं द्वारा लाये गये पदार्थ खाते हैं और तरह तरह के उपकरण रखते हैं। सचित्त जल, फल, फूल आदि द्रव्य का उपभोग करते हैं। दिन में दो-तीन बार भोजन करते और ताम्बूल, लवंगादि भी खाते हैं। ये लोग मुहूर्त निकालते हैं। निमित्त बतलाते हैं तथा भभूत देते हैं। ज्योनारों में मिष्ट आहार प्राप्त करते हैं। आहार के लिये खुशामद करते हैं और पूछने पर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते। स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी आलोचन-प्रायश्चित्त आदि करवाते हैं। स्नान करते, तेल लगाते, शृंगार करते और इत्र फुलेल का उपयोग करते हैं। अपने हीनाचारी मृत गुरुओं की दाहभूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियां उनके गुणों के गीत गाती हैं। सारी रात सोते, क्रय-विक्रय करते और प्रवचन के बहाने व्यर्थ बकवाद में समय नष्ट करते हैं। चेला बनाने के लिये छोटे-छोटे बच्चों को खरीदते, भोले लोगों को ठगते और जिन प्रतिमाओं का क्रय विक्रय करते हैं। उच्चाटन करते और वैद्यक, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, गंडा, ताबीज आदि में कुशल होते हैं। ये सुविहित साधुओं के पास जाते हुए श्रावकों को रोकते हैं। शाप देने का भय दिखाते हैं। परस्पर विरोध रखते हैं और चेलों के लिये आपस में लड़ पड़ते हैं^१।

चैत्यवास का यह चित्र आठवीं शताब्दी का है। इसके पश्चात् तो चैत्यवासियों का आचार उत्तरोत्तर शिथिल ही होता गया और कालान्तर में चैत्यालय, भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये तथा वे शासन के लिये अभिशाप रूप हो गये। आचार्य जिनवल्लभ के पूर्व चैत्यवासी यतियों की जो अवस्था थी उसके विषय में मुनि जिनविजयजी लिखते हैं^२ :—

“इनके समय से श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में उन यतिजनों के समूह का प्राबल्य था जो अधिकतर चैत्यों अर्थात् जिन मन्दिरों में निवास करते थे। ये यतिजन जैन देव मन्दिर, जो उस समय चैत्य के नाम से विशेष प्रसिद्ध थे, उन्हीं में अहर्निश रहते, भोजनादि करते, धर्मोपदेश देते, पठन-पाठनादि में प्रवृत्त होते और सोते बैठते। अर्थात् चैत्य ही उनका मठ या वास-स्थान था और इसलिये वे चैत्यवासी के नाम से प्रसिद्ध हो रहे थे। इसके साथ उनके आचार विचार भी बहुत से ऐसे शिथिल अथवा भिन्न प्रकार के थे जो जैन-शास्त्रों में वर्णित निर्गन्थ जैन-मुनि के आचारों से असंगत दिखाई देते थे। वे एक तरह से मठपति थे।

शास्त्रकार शान्त्याचार्य, महाकवि सूरारचार्य, मन्त्रवादी वीरारचार्य आदि जैसे प्रभाव-शाली, प्रतिष्ठा सम्पन्न और विद्वदग्रणी चैत्यवासी यति-जन उस जैन-समाज के धर्माध्यक्षत्व का गौरव प्राप्त कर रहे थे। जैन-समाज के अतिरिक्त आम जनता में और राज-दरबार में

१. यु० जिनदत्तसूरि प्र० पृ० ८-९

२. कथाकोष प्र० पृ० ३

भी इन चैत्यवासी यतिजनों का बहुत बड़ा प्रभाव था। जैन-धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त ज्योतिष, वैद्यक और मन्त्र, तन्त्रादि शास्त्रों और उनके व्यावहारिक प्रयोगों के विषय में भी ये जैन यतिगण बहुत विज्ञ और प्रमाणभूत माने जाते थे। धर्माचार्य के खास कार्यों और व्यवसायों के सिवाय ये व्यावहारिक विषयों में भी बहुत कुछ योगदान किया करते थे। जैन गृहस्थों के बच्चों की व्यावहारिक शिक्षा का काम प्रायः इन्हीं यतिजनों के अधीन था और इनकी पाठ-शालाओं में जैनैतर गणमान्य सेठ साहुकारों एवं उच्चकोटि के राज-दरबारी पुरुषों के बच्चे भी बड़ी उत्सुकता पूर्वक शिक्षालाभ प्राप्त किया करते थे। इस प्रकार राजवर्ग और जन समाज में इन चैत्यवासी यतिजनों की बहुत कुछ प्रतिष्ठा जमी हुई थी और सब बातों में इनकी धाक बैठी हुई थी। पर इनका यह सब व्यवहार जैन-शास्त्र की दृष्टि-से यतिमार्ग के सर्वथा विपरीत और हीनाचार का पोषक था।”

गुरु-परम्परा

आचार्य वर्धमानसूरि

चैत्यवास की इस दुर्दशा को देखकर कई चैत्यवासी यतिजनों के मन में भी क्षोभ उत्पन्न होता था, परन्तु उसका प्रतीकार करने का साहस विरले ही कर सकते थे। ऐसे साहसी और सच्चे यतियों में श्री वर्धमानाचार्य का नाम लिया जा सकता है; जिन्होंने ८४ चैत्य-स्थानों के अधिकार और वैभव को छोड़ कर सच्चे साधु-जीवन को बिताने का संकल्प किया। प्रभावकचरित में आचार्य वर्धमान के विषय में यह उल्लेख मिलता है:—

इतः सपादलक्षेऽस्ति, नाम्ना कूच्चपुरं पुरम् ।

मषीकुचंकमाधानु, यदलं शास्त्रकानने ॥३१॥

अल्लभूपालपौत्रोऽस्ति, प्राक् पोत्रीव धराधरः ।

श्रीमान् भुवनपालाख्यो, विख्यातः सान्बयाभिधः ॥३२॥

तत्रासीत् प्रशमश्रीभिवद्धं मानगुणोदधिः ।

श्रीवर्धमान इत्याख्यः, सूरिः ससारपारभूः ॥३३॥

चतुर्भिरधिकाशीतिश्चैत्यानां येन तत्यजे ।

सिद्धान्ताभ्यासतः सत्यतत्त्वं विज्ञाय संसृतेः ॥३४॥

अन्यथा विहरन् धारापुर्यां धाराधरोपमः ।

आगाद् वाग्ब्रह्मधाराभिर्जनमुज्जीवयन्नयन् ॥३५॥

इस प्रकार पता चलता है कि वर्धमानसूरि स्वयं चैत्यवासी थे, परन्तु उन्हें शास्त्रों के अध्ययन और अभ्यास से आडम्बर पूर्ण चैत्यवासी जीवन के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई और चैत्यवासियों के शिथिलाचार तथा भ्रष्टाचार से क्षोभ उत्पन्न हुआ। इसी के फलस्वरूप उन्होंने चैत्यवास को सर्वथा छोड़कर, त्याग और तपस्या के जीवन का संकल्प लेकर जीवन

पर्यन्त उच्च त्याग का प्रयत्न किया। गणधर-सार्द्धशतक बृहद्वृत्ति एवं युगप्रधानाचार्य गुवां-वली के अनुसार श्री वर्धमानाचार्य अंभोहर प्रदेश के किसी चैत्य से सम्बन्ध रखते थे। कहा जाता है कि वहाँ जिनचन्द्राचार्य नाम के एक चैत्यवासी साधु थे जो ८४ ठिकानों के नायक थे। इन्हीं के शिष्य वर्धमान थे। “होनहार बिरवान के होत चिकने पात” इस कहावत के अनुसार वर्धमान के भावी जीवन के बीज उनके प्रारम्भिक जीवन में ही प्रकट हो गये। घटना इस प्रकार है:—वर्धमान अपने गुरु जिनचन्द्राचार्य से सिद्धान्त-वाचना ले रहे थे। उसमें जिन-मन्दिर के विषय की ८४ आशातनाओं के प्रसंग का वर्णन आया। इनका वर्णन पढ़कर वर्धमान के मन में स्वाभावतः ही इन आशातनाओं को दूर करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। इन्हीं के निवारण में ही कल्याण समझ कर उन्होंने अपने गुरु से अपने मन की बात कही। गुरु ने सोचा कि उनके शिष्य के विचार तो चैत्यवास की जड़ को ही हिला देने वाले हैं और यदि उसकी यही विचारधारा चलती रही तो अपने इस योग्य शिष्य को ही खो बैठेंगे। अतः उन्होंने वर्धमान को मोहने के लिये उन्हें आचार्य बनाकर अपना सारा वैभवपूर्ण अधिकार उनको दे डाला। परन्तु सच्चा विराग प्रलोभनों की शृंखलाओं में नहीं बांधा जा सकता। जिनचन्द्राचार्य के सारे प्रयत्न वर्धमान की विराग भावना को कुचलने में असमर्थ रहे और अन्त में उनको विवश हो कर वर्धमान को विदा देनी पड़ी। गुरु की अनुमति लेकर कुछ यतियों के साथ वर्धमान वहाँ से निकले और दिल्ली पहुँचे। वहाँ पर उन्हें उद्योतना-चार्य मिले जो सदा ही शास्त्र-सम्मत संयमी-जीवन का पालन करते हुए विचरण किया करते थे। वर्धमान उनके शिष्य बने और उद्योतनाचार्य ने उन्हें योग्य समझ कर आचार्य पद से विभूषित किया।^१

वर्धमानाचार्य^२ ने यद्यपि स्वयं चैत्यवास त्याग करके त्याग-मय जीवन ग्रहण किया था, परन्तु फिर भी उनके द्वारा चैत्यवास के प्रति किसी व्यापक आन्दोलन का जन्म न हो सका। इस आन्दोलन का सूत्रपात उनके योग्य शिष्य श्री जिनेश्वरसूरि के हाथों से हुआ। जिनके जीवन के विषय में हमें प्रभावकचरित आदि से पर्याप्त सामग्री मिलती है।

१. कहा जाता है कि सूरिमन्त्र प्राप्त करने पर वर्धमानसूरि को यह संकल्प हुआ कि इस सूरिमन्त्र का अधिष्ठाता कौन है? यह जानकारी प्राप्त करने के लिये उनने तीन उपवास किये। धररोन्द्र उपस्थित हुआ और उसने कहा कि मैं इसका अधिष्ठाता हूँ। साथ ही इन्द्र ने इस मन्त्र के प्रत्येक पद का क्या फल है, इसका भी ज्ञान आचार्य को करवाया। आचार्य को इस मन्त्र का फिर बहुत संस्फुरण होने लगा। अतः वे संस्फुराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

(यु० गु०)

२. आपके प्रणीत ४ ग्रन्थ प्राप्त होते हैं:—

१. उपदेशपद टीका. (२० सं० १०५५)

२. उपदेशमाला बृहद्वृत्ति

३. उपमितिभवप्रपञ्चकथा समुच्चय

४. वीरपारणक स्तोत्र गा. ४६

५. वर्धमानजिनस्तुति गा० ४ (आदिपद-पापा धाधानि) इस स्तुति के विषय में गरिण श्री बुद्धि-मुनिजी ने सूचित किया है।

आचार्य जिनेश्वर और पाटन शास्त्रार्थ विजय

'प्रभावकचरित' के अनुसार ये मूलतः मध्यदेश अर्थात् वर्तमान उत्तरप्रदेश का मध्यभाग के निवासी थे। ये कृष्ण नामक ब्राह्मण के पुत्र थे। इनका नाम पहले श्रीधर था और इनके एक भाई था जिसका नाम श्रीपति था। दोनों भाई बड़े प्रतिभाशाली और मेधावी थे। उन्होंने वेद, वेदांग, इतिहास, पुराण, षड्दर्शन शास्त्र और स्मृतियों का अध्ययन विशेष मनोयोग से किया था। विद्या-पारंगत होकर उनमें देशाटन की प्रवृत्ति जगी और वे घूमते-घूमते तत्कालीन महासांस्कृतिक केन्द्र धारानगरी में पहुँचे। वहाँ पर न केवल राजा ही विद्वानों और विद्या का आदर करता था अपितु बहुत से सेठ भी राजा का इस बात में अनुकरण करते थे। ऐसा ही उदारमना और दानशील एक सेठ लक्ष्मीपति नाम का था। वह जैन-धर्मावलम्बी था और बाहर से जो विद्वान् अतिथि आते थे उनका स्वागत-सत्कार करने के लिये सदा तैयार रहता था। इसी सेठ के यहाँ ये दोनों भाई पहुँचे। ये आकार-प्रकार से बड़े तेजस्वी और प्रतिभा-सम्पन्न प्रतीत होते थे। लक्ष्मीपति इनसे बहुत प्रभावित हुआ और श्रद्धा पूर्वक इनको निरन्तर भोजन कराने लगा। वे प्रतिदिन उसके यहाँ भोजन करने जाते और उसके मकान और दुकान पर होने वाले सारे व्यापार को भी देखते थे। सेठ बहुत बड़ा व्यवसायी था और उसके वहाँ रुपये का लेन-देन बहुत अधिक होता था। उन दिनों मकान या दुकानों की दीवारों पर तात्कालिक स्मृतिरूप हिसाब लिखने की प्रथा थी। इस सेठ के यहाँ भी यह हिसाब-किताब दीवाल पर लिखा रहता था। श्रीधर और श्रीपति की स्मरण शक्ति इतनी तीव्र थी कि प्रतिदिन देखते-देखते उन दीवारों पर लिखा हुआ सारा हिसाब-किताब उन्हें याद हो गया।

एक बार सेठ के मकान में आग लग गई। उसकी बहुत सी वस्तुएं जलकर भस्म हो गईं, परन्तु सेठ को इन वस्तुओं के जल जाने से इतना दुःख नहीं हुआ जितना दीवार पर लिखे हुए हिसाब-किताब के नष्ट हो जाने से। वह सोचता था कि जो सम्पति नष्ट हो गई है वह तो फिर हो सकती है परन्तु हिसाब-किताब नष्ट हो जाने से उसे अपने व्यापारियों के साथ जिस झंझट और झगड़े का व्यवहार करना पड़ेगा, उससे उसकी धर्म-भावना को भयंकर आघात पहुँच सकता है। सेठ की इस कठिनाई को देख कर इन दोनों भाईयों ने कहा कि दीवार पर जो कुछ लिखा था वह तो हम लोगों को अक्षरशः याद है। यह सुनकर सेठ अत्यन्त प्रसन्न हुआ और इन दोनों भाईयों ने सारा हिसाब-किताब अथ से लेकर इति तक व्योरे के साथ ज्यों का त्यों लिखवा दिया। इस घटना से दोनों भाईयों का उस सेठ के घर में बहुत अधिक आदर-सत्कार होने लगा और वे उसी के घर पर रहने लगे।

इसी सेठ ने इन दोनों भाईयों का साक्षात्कार वर्धमानाचार्य से करवाया। ये दोनों भाई बड़े ही शान्त और संयमी थे और उनका चरित्र बहुत ही उदात्त था। इसलिये सेठ ने सोचा कि आचार्य के दर्शन करके ये लोग बहुत प्रसन्न होंगे। श्रीधर और श्रीपति जब वर्धमानाचार्य के पास पहुँचे तो वे उनके तेज और तप से अत्यन्त प्रभावित हुए। आचार्य ने भी सुन्दर लक्षणों से युक्त उनके आकार-प्रकार को देखकर संतोष प्राप्त किया। दोनों भाई निरन्तर आचार्य के पास आने जाने लगे और शास्त्रचर्चा करके संतोष ग्रहण करने लगे।

धीरे-धीरे उनके मन में दीक्षा के लिये इच्छा जगी और उनकी प्रार्थना पर तथा सेठ की अनुमति पर वर्धमानाचार्य ने उन दोनों को दीक्षा प्रदान की। दीक्षा लेते ही उन्होंने जैन-शास्त्रों का अध्ययन बड़ी लगन तथा तत्परता के साथ प्रारम्भ किया और वे थोड़े ही समय में उनमें पारंगत हो गए। वर्धमानाचार्य ने यह देखकर, उनकी योग्यता से प्रभावित होकर उनको आचार्यपद प्रदान किया। उस समय से वे क्रमशः जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के नाम से प्रख्यात हुए।

वर्धमानाचार्य को इन दोनों भाईयों की प्रतिभा एवं योग्यता पर विश्वास था और उन्होंने समझ लिया था कि चैत्यवासियों के मिथ्याचार का प्रतिकार इन्हीं के द्वारा हो सकता है। इसीलिये उन्होंने इन दोनों को यह भार ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया और आदेश दिया कि तुम लोग अणहिलपत्तन को जाओ और वहाँ सुविहित साधुओं के लिये जो विघ्न-बाधाएं हों उनको अपनी शक्ति और बुद्धि से दूर करो :—

जिनेश्वरस्ततः सूरिरपरो बुद्धिसागरः ।
 नामस्यै विभ्रुतो पूज्यैविहारेऽनुमतौ तदा ॥४३॥
 वदे शिक्षेति तैः श्रीमत्पत्तने चैत्यसूरिभिः ।
 विघ्नं सुविहितानां स्यात्तत्रावस्थानधारणात् ॥४४॥
 युवाभ्यामपनेतव्यं शक्त्या बुद्ध्या च तत्किल ।
 यद्विदानोन्तने काले नास्ति प्राज्ञो भवत्समः ॥४५॥

इन दोनों ने भी गुरु की आज्ञा को सिर पर धारण कर गुर्जर प्रदेश की ओर विहार करना प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे वे अणहिलपत्तन (पाटण) में पहुंच गये।

पत्तन में इनको बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। चैत्यवासियों का प्रमुख गढ होने के कारण, इन लोगों को वहाँ कहीं रहने का भी स्थान न मिला। वे घर-घर घूमते फिरे। अन्त में वे वहाँ के राजा दुर्लभराज के पुरोहित सोमेश्वर के मकान पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपनी प्रतिभा एवं विद्वत्ता के संकेत स्वरूप वेद मंत्रों का उच्चारण किया और उन्होंने वेद के ब्राह्म, पेट्य तथा देवत रहस्यों का बड़ी योग्यता पूर्वक उद्घाटन किया। उस वेद-ध्वनि को सुनकर पुरोहित सोमेश्वर स्तम्भित सा हो गया। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि उसकी समग्र इन्द्रियों की चेतनता उसकी श्रुतियों में ही आ गई है। उसने अपने भाई द्वारा इन दोनों भाईयों को बुलवाया। उनके आने पर सोमेश्वर अपना आसन छोड़कर खड़ा हो गया और उनको आसन प्रदान किया। परन्तु वे अपने शुद्ध कम्बलों पर बैठ गये। पुरोहित को आशीर्वाद देते समय दोनों आचार्यों ने जो शब्द कहे, उनमें न केवल उनका अगाध पाण्डित्य प्रकट हो रहा था, अपितु धार्मिक सहिष्णुता और उदारता भी प्रकट हो रही थी। उन्होंने कहा :—

अपाणिपादो ह्यमनो ग्रहीता, पश्यत्यक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
 स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता, शिवो ह्यरूपी स जिनोऽवताद् वः ॥

१. तदध्वानध्याननिर्मग्नचेताः स्तम्भितवत् सदा ।

समग्रेन्द्रियचैतन्यं, श्रुत्योरेव स नीतवान् । ५२ । (प्र० च० :)

यह सुनकर पुरोहित बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उनके प्रति बड़ी सहानुभूति दिखाते हुए पूछा कि “आप कहां पर ठहरे हुए हैं ?” इसके उत्तर में उन्होंने अपनी सारी कठिनाई पुरोहित के सामने रखी। उन्होंने बतलाया कि यहां चैत्यवासियों का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण हमको कोई ठहरने का स्थान नहीं देता। राजपुरोहित ने विद्वानों और महात्माओं का आदर करना अपना कर्तव्य समझकर अपनी “चन्द्रशाला” में इनको रहने के निमित्त स्थान दे दिया। आचार्य-द्वय भी अपने साधुओं सहित वहां रहने लगे और ४२ दोषों से मुक्त निस्पृहभाव से भिक्षा ग्रहण करने लगे।

गणधर साधर्देशक वृत्ति तथा युग० गुर्वावली में इस प्रसंग को कुछ विस्तार के साथ दिया गया है। उन ग्रन्थों के अनुसार वर्धमानसूरि अपने १८ शिष्यों सहित पाटन गये थे और वहां कोई स्थान न मिलने पर कहीं किसी खूली पडशाल में डेरा डाला। तब जिनेश्वर पंडित ने कहा कि “गुरु महाराज” इस तरह बैठे रहने से क्या होगा ? गुरुजी ने कहा—“तो फिर क्या किया जाय ?” जिनेश्वर बोले—“यदि आपकी आज्ञा हो तो वह सामने जो बड़ा सा मकान दिखाई देता है, वहां मैं जाऊं और देखूं कि कहीं हमें कोई आश्रय मिल सकता है या नहीं ? गुरुजी ने कहा—“अच्छी बात है, जाओ।” फिर गुरुजी के चरणों को नमस्कार करके जिनेश्वर उस मकान पर पहुँचे।

वह बड़ा मकान नृपति दुर्लभराज के राजपुरोहित का था। उस समय पुरोहित स्नानाभ्यंगन करवा रहा था। जिनेश्वर ने एक सुन्दर भाव वाला संस्कृत श्लोक बनाकर उसको आशीर्वाद दिया। उसे सुनकर पुरोहित खुश हुआ, बोला, कोई विचक्षण व्रती मालूम होता है।

पुरोहित के मकान के अन्दर के भाग में बहुत से छात्र वेद-पाठ कर रहे थे। इनके पाठ में उन्हें कहीं-कहीं अशुद्ध उच्चारण सुनाई दिया। तब जिनेश्वर ने कहा “यह पाठोच्चार ठीक नहीं है, ऐसा करना चाहिये।”

यह सुनकर पुरोहित ने कहा—अहो ! शूद्रों को वेदपाठ करने का अधिकार नहीं है। इसके उत्तर में जिनेश्वर ने कहा—हम शूद्र नहीं हैं। सूत्र और अर्थ दोनों ही दृष्टि से हम चतुर्वेदी ब्राह्मण हैं।

पुरोहित सुनकर सन्तुष्ट हुआ। बोला—किस देश से आ रहे हो ?

जिनेश्वर—दिल्ली की तरफ से।

पुरोहित—कहां पर ठहरे हुए हो ?

जिनेश्वर—“शुल्कशाला (दाणचौकी) के दालान में हम मय अपने गुरु के सब १८ यति हैं। यहां का सब यतिगण हमारा विरोधी होने से हमें कहीं कोई उतरने की जगह नहीं दे रहा है।

पुरोहित ने कहा—मेरे उस चतुःशाला वाले घर में एक पडदा लगाकर, एक पड-शाल में आप लोग ठहर सकते हैं। उधर के एक दरवाजे से बाहर आ जा सकते हैं। आइये और सुख से रहिये।

प्रभावकचरितकार के अनुसार इन साधुओं के आने से पुरोहित के घर पर नगर के पण्डितों और विद्वानों का जमघट होने लगा। प्रतिदिन मध्याह्न को याज्ञिक, स्मार्त, दीक्षित, अग्निहोत्री आदि ब्राह्मण आते और शास्त्र-चर्चा करते। कहते हैं कि वहां ऐसा विद्याविनोद होने लगा, जैसा ब्रह्मा की सभा में ही संभव हो सकता था। इसकी प्रसिद्धि नगर में फैली और चैत्यवासी लोग भी वहां आये। इन वसतिवासी साधुओं की इतनी प्रतिष्ठा देखकर उनको बहुत क्रोध आया और उन्होंने आचार्य वर्धमान तथा उनके शिष्यों से कहा कि—‘आप नगर से बाहर चले जाईये, क्योंकि यहां पर चैत्य-वाह्य श्वेताम्बर लोग नहीं ठहर सकते।’ इस कथन पर राज-पुरोहित ने आपत्ति की और कहा कि—‘इस बात का निर्णय तो राज-सभा में होगा। ऐसा कहे जाने पर वे सब अपने समुदाय सहित राजा के पास गये। जिनपालोपाध्याय और सुमति गणि के प्रबन्धों के अनुसार यह घटना कुछ दूसरे ढंग से हुई है। कहा जाता है कि जब वसतिवासी साधुओं के नगर में आने की बात चारों ओर फैल गई तो चैत्यवासियों ने उसका प्रतिकार करने का निश्चय किया। उन दिनों चैत्यालयों में पाठशालाएं लगा करती थीं। जिनमें विभिन्न वर्गों के बहुत से विद्यार्थी पढ़ने आया करते थे। चैत्यवासियों ने इन्हीं बच्चों को अपने हाथ की कठपुतली बनाया। उनको बतासे इत्यादि का प्रलोभन देकर इस बात के लिये राजी कर लिया कि वे नगर में यह समाचार फैलायें कि ‘कुछ बाहरी गुप्तचर यतियों के वेष में नगर में आए हुए हैं, जिनको कि राजपुरोहित ने अपने घर पर शरण दे रखी है।’ फैलते-फैलते यह सारी खबर राजा के कान में पहुँची और उसने तुरन्त पुरोहित को बुलाकर पूछा। पुरोहित ने इस बात को बिल्कुल ही झूठ बतलाया और उसने कहा कि, मेरे मकान पर जो महात्मा लोग ठहरे हैं वे साक्षात् धर्म की मूर्ति हैं और उन ठहरे हुये साधुओं पर जो भी दोष लगाया गया है वह बिल्कुल झूठा है। उसने यह भी घोषणा की कि यदि कोई इन साधुओं को गुप्तचर सिद्ध कर दे तो मैं एक लाख पारुथ्य (एक तरह की स्वर्ण मुद्रा) इनाम में दूंगा। प्रभावकचरित के अनुसार पुरोहित ने राजसभा में केवल यही कहा कि मैंने केवल गुण-प्राहकता की दृष्टि से ही इन साधुओं को आश्रय दिया है और इन चैत्यवासियों ने इनका बहुत अपमान किया है। इसमें यदि मेरा कोई अपराध हो तो मैं दण्डग्रहण करने के लिये तैयार हूँ। कहते हैं कि राजा समदर्शी था। वह मुस्कराकर बोला :—

मत्पुरे गुणिनः कस्माद्देशान्तरत आगताः ।

वसन्तः केन वार्येत को दोषस्तत्र दृश्यते ॥

इस पर चैत्यवासियों ने राजा को याद दिलाया कि उस नगर के संस्थापक चापोत्कट वंशीय वनराज का पालन-पोषण श्री शीलगुणसूरिजी ने किया था और इसी के फलस्वरूप वनराज ने “वनराज-विहार” नामक पार्श्वनाथ मन्दिर की स्थापना करके यह व्यवस्था दे दी

१. मध्याह्ने याज्ञिकस्मार्तदीक्षितानग्निहोत्रिणः ।
आहूय दर्शितौ तत्र निर्व्यूढौ तत्परीक्षया ॥६२॥
यावद् विद्या विनोदोऽयं विरिञ्चेरेव पर्यदि [प्र० च०]
२. मया च गुणप्राह्यत्वात् स्थापितावाश्रये निजे ।
भट्टपुत्रा ग्रमीभिर्मै प्रहिताश्चैत्यवासिभिः ॥६५॥

थी कि 'यहाँ केवल चैत्यवासी यतिजन ही ठहर सकते हैं।' राजा ने अपने पूर्वजों की व्यवस्था का पालन करना अपना धर्म बतलाते हुए कहा कि—“गुणियों का सम्मान भी तो अवश्य होना चाहिये” इसलिये राजा ने चैत्यवासियों से आये हुए मुनियों को वहाँ रहने देने के लिये आग्रह किया। कहते हैं कि इसी समय ज्ञानदेव नामक शैवाचार्य जो कि राजा का गुरु था वहाँ आ पहुँचा। राजा ने सत्कार पूर्वक गुरु का स्वागत करके उनसे निवेदन किया—‘हे प्रभो ! ये जैन ऋषि लोग यहाँ आये हुए हैं, इनको आप उपाश्रय प्रदान करें।’ ऐसा सुनकर वह तपस्वी शैव हंसते हुए बोला “महाराज ! आप गुणियों का सत्कार कर रहे हैं, यह बहुत अच्छी बात है। मैं इसको अपने उपदेशों से होने वाले फलों की निधि समझता हूँ। वस्तुतः शिव और जिन एक ही हैं। केवल मूर्खतावश इनको और मान लिया गया है। दर्शनों में भेद मानना मिथ्या-मति का चिह्न है।”^१ ऐसा कहकर उन्होंने “त्रिपुरुष प्रासाद” नामक मुख्य शिव-मन्दिर के पास ही कणहट्टी में उपाश्रय बनवाने के लिये अनुमति प्रदान की और एक ब्राह्मण को यह कार्य करने के लिये नियुक्त किया और थोड़े दिनों में ही उपाश्रय तैयार हो गया। संभवतः इसी समय से वसतियों अर्थात् उपाश्रयों की परम्परा शुरु हो गई। प्रभावकचरितकार ने लिखा है:—

ततः प्रभृति सञ्जज्ञे वसतीनां परम्परा ।

महद्भिः स्थापितं वृद्धिमश्नुते नात्र संशयः ॥८६॥

गणधर सार्द्धं शतक बृहद्वृत्ति तथा युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार चैत्यवासी लोग केवल उक्त दो ही प्रयत्न करके चुप नहीं बैठ गये अपितु उन्होंने एक वाद-विवाद में नवागन्तुक मुनियों को नीचा दिखलाने का भी प्रयत्न किया। वाद-विवाद राजा दुर्लभराज^२ के सम्मुख होना तय हुआ। स्थान पंचासर पार्श्वनाथ का बड़ा मन्दिर चुना गया। कहते हैं कि निश्चित दिवस पर सूर्याचार्य के नेतृत्व में ८४ चैत्यवासी आचार्य खूब सज-धज कर वहाँ पर उपस्थित हुए। ठीक समय पर राजा भी वहाँ आ गया और आचार्य वर्धमान तथा उनके शिष्य आदि भी वहाँ पर पधारे। राजा ने दोनों पक्षों के लोगों को ताम्बूल आदि से सत्कृत करना चाहा। चैत्यवासियों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। परन्तु जब वर्धमान के पक्ष की बारी आई तो उन्होंने उत्तर दिया कि साधुओं को ताम्बूल भक्षण का निषेध है और उसका खाना गोमांस भक्षण के बराबर है:—

“ब्रह्मचारी यतीनां च विधवानां च योषिताम् ।

ताम्बूलभक्षणं विप्र गोमांसान्न विशिष्यते ।”

इसके पश्चात् शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। एक ओर से पण्डित जिनेश्वर और दूसरी ओर से सूर्याचार्य थे। शास्त्रार्थ सूर्याचार्य ने प्रारम्भ किया। उनका कहना था कि ‘जिनगृह-

१. गुणिनामचर्चनां यूयं, कुरुष्वे विधुर्नसाम् । सोऽस्माकमुपदेशानां, फलपाकः श्रियां निधिः ॥८५॥

शिव एव जिनो बाह्यत्यागात् परपदस्थितः । दर्शनेषु विभेदो हि, चिह्नं मिथ्यामतेरिदं ॥८६॥ [प्र० च]

२. श्रीमात् दुर्लभराजाख्यस्तत्र चासीद् विशांपतिः ।

गीष्पतेरप्युपाध्यायो नीतिविक्रमशिक्षणे ।४८। [प्रभावक चरित]

राज्यप्रधानपुरुषंराकारितः श्रीदुर्लभराजमहाराजोऽपि महता भटचटपरिवारोऽप्युपागत्योपविष्टस्तत्र (जिनेश्वरसूरिचरित्र कथाकोष परिशिष्ट पृ० १२)

वास ही मुनियों के लिये समुचित है और वहीं पर निरपवाद ब्रह्मव्रत का पालन संभव हो सकता है।” उनका कहना था कि—“वसतिवास अपवाद से रहित नहीं है, इसलिये त्याज्य है।” सूर्याचार्य ने अनेक युक्तियों के द्वारा अपने पक्ष का समर्थन किया, परन्तु पंडित जिनेश्वर ने उन सभी युक्तियों का खण्डन बड़ी योग्यता के साथ करते हुए वसतिमार्ग का प्रतिपादन किया। उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट और कटु आलोचना करते हुए चैत्यवास के तत्कालीन कलुषित और अपवाद पूर्व वातावरण को मुनि-जीवन के लिये सर्वथा अनुपयुक्त तथा असंगत बतलाया। पंडित जिनेश्वर की वाक्पटुता, अकाट्य तर्क शैली तथा प्रकाण्ड-पाण्डित्य से न केवल उनके प्रतिपक्षी ही पराभूत और पराजित हुए अपितु वहां पर बैठे हुए निष्पक्ष विद्वान् तथा गणमान्य लोग भी अत्यन्त प्रभावित हुए। कहा जाता है कि इसी के फलस्वरूप राजा दुर्लभराज ने सं० १०६६-१०७८ के मध्यकाल में करडी हट्टी (प्रभावकचरितानुसार, व्रीहिहट्टी) में वसतिमार्गियों के निवास के लिये एक स्थान प्रदान किया और इस प्रकार गुजरात में वसति-मार्ग का सर्वप्रथम आविर्भाव हुआ।

खरतरविरुद्ध-प्राप्ति

गणधरसार्द्ध शतक बृहद्वृत्ति एवं युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में आचार्य जिनेश्वर से सम्बन्धित और भी कई घटनायें दी हुई हैं, परन्तु आचार्य जिनवल्लभ तथा उनके गच्छ एवं संदेश को समझने के लिए हमें उनकी विशेष आवश्यकता नहीं है। ऊपर के वर्णन से इतना स्पष्ट है कि आचार्य जिनेश्वर ने जो उग्र आन्दोलन चलाया वह चैत्यवासियों के निर्मूलन का आन्दोलन था। इसका प्रमाण हमें उनके चैत्यवास विरोधी उस विचारधारा में भी मिलता है जिसकी अभिव्यक्ति इनके विभिन्न ग्रन्थों में भी स्थान स्थान पर हुई है।

इन्हीं के प्रारंभ किये हुए कार्य को उनके अनुयायी अभयदेवाचार्य, देवभद्राचार्य, वर्धमानाचार्य, जिनवल्लभाचार्य, जिनदत्तसूरि, जिनपतिसूरि आदि ने अपने-अपने ढंग से सम्पन्न करने की परम्परा को जारी रखा। और यह कहना भी असंगत न होगा कि इन्हीं के प्रयत्नों के फल स्वरूप १३ वीं शती के अन्तिम चरण तक चैत्यवास प्रथा नष्ट हो गई। इसी प्रसंग को लेकर मुनि जिनविजयजी लिखते हैं^१ :—

“शास्त्रोक्त यतिधर्म के आचार और चैत्यवासी यतिजनों के उक्त व्यवहार में परस्पर बड़ा असामंजस्य देखकर और श्रमण भगवान् महावीर उपदिष्ट श्रमण धर्म की इस प्रकार प्रचलित विप्लवदशा से उद्विग्न होकर जिनेश्वरसूरि ने उसके प्रतिकार के निमित्त अपना एक सुविहित-मार्ग-प्रचारक नया गण स्थापित किया और उन चैत्यवासी यतियों के विरुद्ध एक प्रबल आन्दोलन शुरु किया। X X चौलुक्य नृपति दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासी

१. कथाकोष प्र० पृ० ४।

पक्ष के समर्थक अग्रणी सूर्याचार्य जैसे महाविद्वान् और प्रबल सत्ताशील आचार्य के साथ शास्त्रार्थ कर, उसमें विजय प्राप्त किया। X X अनेक प्रभावशाली और प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने उनके पास यति दीक्षा लेकर उनके सुविहित शिष्य कहलाने का गौरव प्राप्त किया। उनकी शिष्य-सन्तति बहुत बढ़ी और वह अनेक शाखा-प्रशाखाओं में फैली। उसमें बड़े-बड़े विद्वान्, क्रियानिष्ठ और गुणगरिष्ठ आचार्य-उपाध्यायादि समर्थ साधु-पुरुष हुए। नवाङ्गवृत्तिकार अभयदेवसूरि, संवेगरंगशालादि ग्रन्थों के प्रणेता जिनचन्द्रसूरि, सुरसुन्दरीचरित्र के कर्ता धनेश्वर अपरनाम जिनभद्रसूरि, आदिनाथ चरित्रादिके रचयिता वर्धमानसूरि, पार्श्वनाथ चरित्र एवं महावीर चरित्र के कर्ता गुणचन्द्र गणि अपरनाम देवभद्रसूरि, संघपट्टकादिक अनेक ग्रन्थों के प्रणेता जिनवल्लभसूरि—इत्यादि अनेकानेक बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् और शास्त्रकार जो उस समय उत्पन्न हुए और जिनकी साहित्यिक उपासना से जैन वाङ्मय-भंडार बहुत कुछ सुसमृद्ध और सुप्रतिष्ठित बना - इन्हीं जिनेश्वरसूरि के शिष्यों प्रशिष्यों में से थे।”

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य जिनेश्वर से उद्भूत आचार-विचार की इस परम्परा को जहाँ इस परम्परा के अनुयायी लोग 'सुविहित' नाम प्रदान कर रहे थे, वहाँ उसके लिये एक दूसरे नामकरण का भी विधान हो रहा था। यह तो स्पष्ट ही है कि तत्कालीन चैत्यवासियों के विपरीत यह एक उग्र, प्रखर और कट्टर सुधारवादी परम्परा थी, जो न केवल चैत्यवासियों से पृथक् थी अपितु उन वसतिवासियों के मार्ग से भी पृथक् थी जो तत्कालीन चैत्यवासी शिथिलता को चुपचाप सहन करते हुए चले जा रहे थे। इसलिये स्वाभाविक था कि यह परम्परा अपनी उग्रता और कट्टरता की विशेषता को लेकर जनता में प्रसिद्ध हो जाती; सम्भवतः इसी आधार पर जनता ने इनको 'खरतर' कहना प्रारम्भ किया। इतिहास में ऐसे ही उदाहरण अन्यत्र मिलते हैं, ईसाई समाज में 'प्युरीटन' नाम की उत्पत्ति इसी प्रकार के उग्र सुधारवाद के वातावरण को लेकर हुई और अपने ही देश में 'उदासी सम्प्रदाय' के नामकरण का आधार भी ऐसा ही प्रतीत होता है। इस प्रकार के नामों का जन्म स्वभावतः उसी समय होता है, जब इन नामों की आधारभूत विशेषता सब से अधिक आकर्षक, नवीन तथा विरोध प्राप्त होती है। जिनेश्वराचार्य की विचारधारा के लिये इस प्रकार का युग स्पष्टतः उस समय से प्रारम्भ होता है जब वह चैत्यवासियों के दुर्भेद्य गढ़ "अणहिलपुरपत्तन" में अपने प्रभाव को दिखलाते हैं। खरतरगच्छीय परम्परा के अनुसार "खरतर" विरुद्ध जिनेश्वराचार्य को तत्कालीन राजा दुर्लभराज द्वारा दिया गया था। इस बात को लेकर बहुत निराधार विवाद चला है, परन्तु मेरी समझ में इसमें विवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। राजा ने यह विरुद्ध दिया हो अथवा न दिया हो, आचार्य जिनेश्वर की विचार-धारा की वह मूलभूत विशेषता जिसके कारण इस विरुद्ध की कल्पना की जा सकती है, जनता के हृदय पर अवश्य ही अपना प्रभाव जमा चुकी होगी और उसी के फलस्वरूप जनता ने उनका जो नामकरण किया, वह समाज के मस्तिष्क पर अमिट अक्षरो में लिख गया। व्यक्ति चाहे वह चक्रवर्ती राजा ही क्यों न हो समाज-सागर का एक क्षुद्र बुद-बुद है, जो अपना क्षणिक अस्तित्व दिखा कर चला जाता है। परन्तु समाज एक प्रवहमान सरिता है जो अक्षुण्ण रूप से अपनी युग-युग की सिद्धियों और स्मृतियों को समेटे चलता रहता है।

इसलिए समाज के मानस-पटल पर आचार्य जिनेश्वर के सुधारवाद की खरतरता ने जो प्रभाव डाला उसकी स्थायी अभिव्यक्ति होना निश्चित था। चाहे कोई राजा उसको मानता या न मानता, चाहे कोई आचार्य या सम्प्रदाय उसको स्वीकार करता या नहीं करता। किसी विरुद्ध के महत्त्व को बढ़ाने के लिए राजमान्य होने की आवश्यकता नहीं। वसतिमार्ग को मान्यता किसने दी थी? चैत्यवासी नाम को रखने वाला कौन था? वर्तमान युग में हवाई जहाज को चीलगाड़ी कहने वाला और मोटर सायकिल को फटफटिया कहने वाला कौन था? इसका उत्तर यही है कि समाज या जनता। अतः इस प्रकार के नामकरणों के मूलकर्त्ता के विषय में विवाद करना भाषाविज्ञान के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करना है।

जब यह कहा गया कि दुर्लभराज की राजसभा में “खरतर-विरुद्ध” की सृष्टि हुई, तो चाहे राजा ने अपने मुख से उस शब्द का उच्चारण किया हो या न किया हो, यह एक ऐसा सत्य कथन था जिससे कोई इनकार नहीं कर सकता, क्योंकि जिस विशेषता ने जिनेश्वर की विचार-धारा को “खरतरविरुद्ध” दिया उसका सर्वप्रथम सफल और सार्थक विस्फोट यहीं हुआ था।^१

कुछ लोगों ने शंका उठाई है कि दुर्लभराज की अध्यक्षता में आचार्य जिनेश्वर और सूर्याचार्य का उक्त शास्त्रार्थ हुआ ही नहीं। इस प्रसंग में प्रभावकचरितकार का मौन रहना भी प्रमाण रूप में रखा जा सकता है, परन्तु प्रथम तो प्रभावकचरितकार^२ से पूर्ववर्ती सुमति-गणि^३ और जिनपालोपाध्याय^४ के प्रबन्धों में तथा उनके भी पूर्ववर्ती आचार्य जिनवल्लभ के पट्टधर युगप्रधान जिनदत्तसूरि प्रणीत गणधरसार्द्धशतक^५, गुरुपारतन्व्य स्तोत्र^६ आदि काव्यों

१. हमारे इन विचारों की पुष्टि सुरत्राण अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि रचित पोषधविधि प्रकरण वृत्ति की प्रशस्ति से भी होती है:—
“यैः पूज्यैरणहिल्लपत्तनपुरे द्यौसिद्धिशून्यक्षमा (१०८०) वर्षे दुर्लभराजपर्वदि पराजित्य प्रमाणोक्तिभिः।
सूरीन् चैत्यनिवासिनः खरतरख्यातिजनैश्चार्यपिते, श्रीमत् सूरिजिनेश्वराः समभवन्स्तत्पट्टशोभाकराः ॥३॥
(तत्कालीन निखित प्रति से, बीकानेर भुवनभक्तितज्ञानभण्डार, प्रति सं० १००, पत्र ६७)
२. श्रीमान् दुर्लभराजाख्यस्तत्र चासीद् विशांपतिः।
गीष्पतेरप्युपाध्यायो नीतिविक्रमशिक्षणे ॥४८॥ प्रभावकचरित
३. राज्यप्रधानपुरुषैराकारितः श्रीदुर्लभराजमहाराजोऽपि महता भटचटपरिवारेणागत्योपविष्टस्तत्र ।
(जिनेश्वरचरित्र कथाकोष परिशिष्ट पृ० १२)
४. श्रीदुर्लभराजश्च पञ्चाशरीयदेवगृहे गुष्माकभागमनमालोक्यते। (युगप्रधानाचार्य गुर्वावली पृ० ३)
५. अणहिल्लवाडए नाड्यव्य दंसियसुपत्तसंदोहे । पहुरपए बहुकविदूसगे य सन्नायगारागुगए ॥६५॥
सद्धिद्वयदुल्लहराए सरसइभ कोवसोहिए सुहए । मज्जे रायसहं पविसिउए लोयागमारागुमयं ॥६६॥
(गणधरसार्द्धशतक)
६. पुरमो दुल्लहमहिवल्लहस्स अणहिल्लवाडए पयडं । मुक्का वियारिऊणं सीहेए व दब्बलिगिगया ॥१०॥
(जिनदत्तसूरि रचित गुरुपारतन्व्यस्तोत्र)

में इस घटना का स्पष्ट उल्लेख मिलता है और दूसरे प्रभावकचरितकार के लिए इस विषय में मौन धारण करने के लिए एक उपयुक्त कारण भी था ।

प्रभावकचरित अनेक प्रभावक चरित्रों के साथ-साथ सूर्याचार्य के चरित्र का भी वर्णन करता है जो उक्त शास्त्रार्थ में जिनेश्वराचार्य के साथ पराजित हुये बताये जाते हैं, इसलिये यदि सूर्याचार्य के गौरव को घटाने वाली किसी घटना का इसमें उल्लेख किया जाता तो वह ठीक न होता । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि प्रभावकचरितकार बहुत ही उदारमना होते हुए भी स्वयं एक चैत्यवासी आचार्य थे; अतः सामाजिक शिष्टाचार की दृष्टि से भी उनके द्वारा चैत्यवासी प्रधानाचार्य की पराजय का उल्लेख किया जाना ठीक न होता । साथ ही मुनि जिनविजयजी के शब्दों में—“प्रभावक चरित के वर्णन से यह तो निश्चित ही ज्ञात होता है कि सूर्याचार्य उस समय चैत्यवासियों के एक बहुत प्रसिद्ध और प्रभावशील अग्रणी थे । ये पंचाशरा पार्श्वनाथ के चैत्य के मुख्य अधिष्ठाता थे । स्वभाव से बड़े उदग्र और वाद-विवाद प्रिय थे । अतः उनका इस वाद-विवाद में अग्ररूप से भाग लेना असंभवनीय नहीं परन्तु प्रासंगिक ही मालूम देता है । शास्त्राधार की दृष्टि से यह तो निश्चित ही है कि जिनेश्वराचार्य का पक्ष सर्वथा सत्यमय था । अतः उनके विपक्ष का उसमें निरुत्तर होना स्वाभाविक ही था । इसमें कोई संदेह नहीं कि राजसभा में चैत्यवासी पक्ष निरुत्तरित होकर जिनेश्वर का पक्ष राज सम्मानित हुआ और इस प्रकार विपक्ष के नेता का मानभंग होना अपरिहार्य बना । इसलिये संभव है कि प्रभावकचरितकार को सूर्याचार्य के इस मानभंग का उनके चरित में कोई उल्लेख करना अच्छा नहीं मालूम दिया हो और उन्होंने इस प्रसंग को उक्त रूप में न आलेखित कर अपना मौन भाव ही प्रकट किया हो”^१ अतः यह ध्रुव सत्य है कि आचार्य जिनेश्वर का सूर्याचार्य के साथ दुर्लभराज की राजसभा में शास्त्रार्थ हुआ और उसमें सूर्याचार्य पराजित हुए ।

कुछ लोग अर्वाचीन पट्टावलियों^२ के अनुसार इस वाद-विवाद के समय के विषय में भी निरर्थक वाद-विवाद को खड़ा करते हैं । यह चर्चा किस संवत् में हुई थी ? उस के सम्बन्ध में युगप्रधान जिनदत्तसूरि, जिनपालोपाध्याय, सुमतिगणि, प्रभावकचरितकार आदि मौन हैं । इसका कारण भी यही है, कि सब ही प्रबन्धकारों ने जनश्रुति, गीतार्थश्रुति के आधार से प्रबन्ध लिखे हैं और वे भी सब १०० और २५० वर्ष के मध्य काल में । वस्तुतः समग्र लेखकों ने संवत् के सम्बन्ध में मौनधारण कर ऐतिह्यता की रक्षा की है अन्यथा संवत् के उल्लेख में असावधानी होना सहज संभाव्य था । अतः यह सहज सिद्ध है कि महाराजा दुर्लभराज का राज्यकाल १०६६ से १०७८ तक का माना जाता है, उसी के मध्य में यह घटना हुई है ।

१. कथाकोष प्रस्ता० पृ० ४१.

२. अर्वाचीन किन्हीं पट्टावलियों में सं० १०८० का उल्लेख मिलता है तो किसी में १०२४ का, जो श्रवण परम्परा का आधार रखता है । इस परम्परा में भी ६००, ८०० वर्ष के अन्तर में २४ वर्ष का लेखन फरक रह जाय यह स्वाभाविक है । इसे चर्चा का रूप देना निरर्थक ही है ।

आ० जिनेश्वर की साहित्य-सर्जना और शिष्य-परिवार

आचार्य जिनेश्वर न केवल वाक्चातुरी और शास्त्रचर्चा के ही आचार्य थे अपितु लेखिनी के भी प्रौढ़ आचार्य थे। आपने 'प्रमालक्ष्म' वृत्ति सह और आपके भ्राता श्रीबुद्धि-सागरसूरि ने बुद्धिसागर-व्याकरण तथा छन्दःशास्त्र^१ रचकर जैन वाङ्मय में जैन-दर्शन और व्याकरण साहित्य की जो अभूतपूर्व श्रीवृद्धि की है वह साहित्य संसार के लिये संस्मरणीय है। आपके प्रणीत निम्न ग्रन्थ और प्राप्त होते हैं:—

१. अष्टक प्रकरण वृत्ति	र० सं० १०८० जालोर। श्लो० ३३७४, प्र०
२. चैत्यवन्दनक	सं० १०६६ जालोर; (पत्र ३५, थाहरु भं०)
३. कथाकोष प्रकरण स्वोपज्ञवृत्ति सह	सं० ११०८ श्लो० ५०००, प्र०
४. पञ्चलिङ्गी प्रकरण ^२	प्र०
५. निर्वाण लीलावती कथा	सं० १०६२ अप्राप्त
६. षट्स्थान प्रकरण (श्रावक वक्तव्यता)	श्लो० १०३ प्र०
७. सर्वतीर्थ-महर्षि कुलक	गा० २६,
८. वीरचरित्र	अप्राप्त
९. छन्दोनुशासन	(जैसलमेर ज्ञान भंडार, प्रतिलिपि मेरे संग्रह में)

आचार्य जिनेश्वरसूरि का शिष्य समुदाय भी अति विशाल था। आपने अपने स्व-हस्त से जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि, धनेश्वरसूरि^३ अपरनाम जिनभद्रसूरि और हरिभद्रसूरि को आचार्य पद तथा धर्मदेव गणि,^४ सुमति गणि, सहदेव गणि^५ सुमति गणि^६ और विमल गणि को उपाध्याय पद प्रदान किया था। चार आचार्य^७ और तीन उपाध्याय जहां शिष्य हों वहां मुनिमण्डल का अत्यधिक संख्या में होना स्वाभाविक ही है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि का स्वर्गवास कब और कहां हुआ निश्चित नहीं है। किन्तु आपकी सं० ११०८ में रचित कथाकोष प्रकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति प्राप्त है। अतः इसके बाद ही आप इस नश्वर देह को छोड़ चुके हों, तथा आचार्य अभयदेव ने स्थानाङ्गसूत्र की वृत्ति सं० ११२० में पूर्ण की है उसमें विद्यमान, राज्ये, इत्यादि शब्दों का प्रयोग न होने से सं० ११२० के पूर्व ही जिनेश्वरसूरि का स्वर्गवास हो चुका था—मान सकते हैं।

१. उल्लेख देवभद्रीय महावीर चरित्र प्रशस्ति।
२. आचार्य जिनपतिसूरि प्रणीत टीका सह जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार सूरत से प्रकाशित
३. आपकी रचित 'सुरसुन्दरी कहा' प्राकृत भाषा में उपलब्ध है। इसकी रचना सं० १०६५ चन्द्रावती में हुई है।
४. आपके हरिसिंहाचार्य, सर्वदेव गणि, सोमचन्द्र (जिनदत्तसूरि) आदि प्रमुख शिष्य थे।
५. आपके अशोकचन्द्राचार्य शिष्य थे। अशोकचन्द्र को जिनचन्द्रसूरि ने आचार्य पद दिया था।
६. आपके देवभद्राचार्य (पूर्व नाम गुणचन्द्र गणि) शिष्य थे जिनने आ० जिनवल्लभ और आचार्य जिनदत्त को आचार्य पद प्रदान किया था।
७. प्रसन्नचन्द्राचार्य भी आपही के शिष्य थे।

आ० जिनेश्वर के पश्चात् उनके पट्ट पर जिनचन्द्रसूरि (अभयदेवसूरि के बृहद् गुरुभ्राता) हुए। आपके सम्बन्ध में कोई इतिवृत्त प्राप्त नहीं है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि आप बहुश्रुतज्ञ गीतार्थ थे आपने अपने लघु गुरु-बन्धु, गीतार्थ, विख्यात कीर्त्तियुक्त श्रीअभयदेव-सूरि की अभ्यर्थना से 'संवेगरङ्गशाला' नामक प्राकृत कथाग्रन्थ की १००५० श्लोक बृहत्परि-माण में सं० ११२५ में रचना पूर्ण की।

अभयदेवसूरि

जिनचन्द्रसूरि के पट्टधर गच्छनायक के रूप में हमें आचार्य अभयदेवसूरि के दर्शन होते हैं। आपके प्रारम्भिक जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में हमें केवल प्रभावक-चरित में ही किञ्चित् उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसके अनुसार आचार्य जिनेश्वरसूरि सं० १०८० के पश्चात् जाबालि-पुर (जालोर) से विहार करते हुए मालव प्रदेश (मध्यभारत) की तत्कालीन प्रसिद्ध राज-धानी धारानगरी में पधारे। चातुर्नास भी संभवतः वहीं किया। आपका प्रवचन अहर्निश होता था।

इसी नगरी में श्रेष्ठी महीधर नामका एक विचक्षण व्यापारी रहता था। धनदेवी नामकी पत्नी थी और अभयकुमार नामक सौभाग्यशाली पुत्र था। आचार्य जिनेश्वर का प्रभावशाली व्याख्यान (प्रवचन) सुनने के लिये वहां की प्रायः समग्र जनता उपस्थित हुआ करती थी। महीधरपुत्र अभयकुमार भी सर्वदा प्रवचन सुना करता था। आचार्यश्री के वैराग्य-पोषक, आत्मतत्त्व-निर्देशक, सिध्दान्तों का विवेचनीय प्रतिपादक, शान्तरससंबर्धक उपदेश से अभयकुमार प्रभावित हुआ। अभयकुमार ने संसार की नाशशीलता, क्षणिकता समझकर, स्वविचारों को दृढकर, माता-पिता की अनुमति प्राप्त करके श्रीजिनेश्वरसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। आचार्य ने अभयकुमार का नाम अभयदेवमुनि रखा।

श्रीजिनेश्वरसूरि के पास ही स्वशास्त्र और परशास्त्र का विधिवत् अध्ययन अभय-देव मुनि ने किया। आत्मशुद्धि के लिये अभयकुमार ने दीक्षा ग्रहण की थी। इसलिये वे उग्र तपश्चर्या भी करने लगे। आपकी योग्यता और प्रतिभा देखकर आचार्य जिनेश्वर ने आपको आचार्य पद प्रदान किया था।

उस समय के प्रमुख-प्रमुख आचार्य सैद्धान्तिक-आगमों का अध्ययन छोड़कर समयोचित धनुर्वेद, आयुर्वेद, ज्योतिष, सामुद्रिक, काम-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र आदि विषयों में पारङ्गत होते जा रहे थे। मन्त्र-तन्त्र और यन्त्रविद्या के चमत्कारों से भिन्न भिन्न स्थलों पर राजाओं पर प्रभावे जमाते जा रहे थे। चैत्यवास की प्रथा प्रौढता को प्राप्त कर चुकी थी, जिसका परिचय पहले दिगा जा चुका है। ऐसी अवस्था में आगमों के अभ्यास की सुरक्षित परम्परा नष्ट हो जाने से शुद्ध क्रियाचार का पालन भी असंभव-सा होता जा रहा था। आचारांग और सूत्रकृतांग पर आचार्य शीलांक कृत विवेचन के अतिरिक्त पूरे अंग साहित्य पर कोई विवेचन प्राप्त ही नहीं था। जैन-आगमों में मुख्य स्थान ११ अंग का ही है। इनमें नव अंग तो अछूत ही से थे। मूलपाठ भी लेखकों की अशुद्ध-परम्परा के कारण अशुद्धतर होते

जा रहे थे। वाचनान्भेदों की बहुलता मूल-आगमों को कूट आगम सदृश कर रहे थे। जो कुछ वाचन-मनन की प्रणाली थी वह कूट पाठों की बहुलता से नष्ट होती जा रही थी।

ऐसी परिस्थिति देखकर श्रीअभयदेवसूरि ने अपनी समयज्ञता का परिचय दिया। अपनी बहुश्रुतज्ञता का उपयोग समाज के लिये ही और आगम-ग्रन्थ कूट ग्रन्थ न होकर सर्वदा के लिये वाचन-मुलभ रहें इस आशय से अपनी लेखिनी तृतीय स्थानाङ्गसूत्र पर उठाई और सकुशल सफलता पूर्वक इसकी टीका सं० ११२० में पूर्ण की। इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य प्रवास इत्यादि में नहीं हो सकते। और न इनके करने में काल-विकाल या ग्राह्या ग्राह्य के फेर में ही पड़ा जा सकता है। अतएव एक मात्र अपने पवित्र संकल्प की पूर्ति का ध्यान रखते हुए श्रीअभयदेवसूरि ने अपना कार्य क्षेत्र अणहिलपुर पतन चुना और वहीं श्रीजिनेश्वर-सूरि द्वारा पवित्रित करडि हट्टी में निवास किया। प्रायः सं० ११२० से ११२८ तक का समय आपका वहीं पूर्ण हुआ। मध्य में ११२४ में आप अवश्य धवलका रहे थे और वहां धनपति बहुल और नन्दिक सेठ के घर में रहकर पञ्चाशक पर टीका की रचना पूर्ण की थी।

इतने लम्बे समय तक एक स्थान पर ही रहने का एक कारण और भी था। श्री अभयदेवसूरि ने ज्यों ही टीका-लेखन का कार्य प्रारम्भ किया त्यों ही उनके मस्तिष्क में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं यदि इन टीकाओं का संशोधन अपने ही सुविहित विद्वानों से कराकर प्रामाण्य की मोहर लगवा दूंगा तो पर्याप्त न होगा, क्योंकि आज सुविहितों का समुदाय अत्यल्प है, चैत्यवासी समुदाय अत्यन्त विशाल है और पूज्य श्री जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवास उन्मूलन का कार्य प्रारम्भ किया है उससे समग्र चैत्यवासी आचार्य क्षुब्ध हो रहे हैं; अतः वे यदि इसे अमान्य कर देंगे तथा इसमें दूषण शोधते रहेंगे तो टीकाएं एकपक्षीय हो जायेंगी; जो सचमुच में मेरे भगीरथ प्रयत्न पर पानी फेर देंगी। अतः ऐसी अवस्था में अपने किसी चैत्यवासी प्रौढ़ एवं दिग्गज आचार्य का आश्रय लें और उससे प्रामाणिकता की मोहर लगवावें तो सर्वश्रेष्ठ होगा। ऐसा विचार कर, हृदय की अत्यधिक विशालता से चैत्यवासी आचार्यों की तरफ दृष्टिपात किया तो उन्हें उस समय के सर्वश्रेष्ठ विद्वान्, उदार दृष्टिवाले, शान्तमना द्रोणाचार्य दिखाई पड़े, जो समग्र चैत्यवासी आचार्यों के प्रधान मुकुट स्वरूप थे। इसलिये आचार्य अभयदेव ने उनसे सम्पर्क साधा और संशोधन कार्य के लिये उन्हें तैयार किया। आचार्य द्रोण ने भी अपने समग्र आचार्यों की चर्चा की परवाह न करते हुए, अपने विपक्षी के एक शिष्य के कार्य को हाथ में लिया। इससे उस समय के प्रमुख-प्रमुख चैत्यवासी आचार्य द्रोणाचार्य पर कुपित भी हुए, किन्तु महामना द्रोण ने उन्हें यह कहकर शान्त किया:—

आचार्याः प्रतिसन्न सन्ति महिमा येषामपि प्राकृतै-
 र्भर्तुं नाऽध्यवसीयते सुचरितैस्तेषां पवित्रं जगत् ।
 एकेनाऽपि गुणेन किन्तु जगति प्रज्ञाधनाः साम्प्रतं, ।
 यो घत्तेऽभयदेवसूरिसमतां सोऽस्माकमावेद्यताम् ।

आचार्य द्रोण ने अपनी गीतार्थता तथा उदार दृष्टि का परिचय भी अभयदेवसूरि प्रणीत समग्र टीकाओं का अवलोकन कर, संशोधन कर, प्रामाण्य की मोहर लगाकर दिया। आचार्य अभयदेव ने भी अपनी कृतज्ञता का प्रदर्शन प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ की टीका के अन्त में

“नमः प्रस्तुतानुयोगशोधिकायै श्रीद्रोणाचार्यप्रमुखपर्णदे”^१ आदि पूज्य-शब्दों द्वारा प्रकट किया। इस प्रकार दोनों का सौजन्य, मिलनसारिता, समयज्ञता, सचमुच ही अन्ध-समाज के सम्मुख “सर्च लाइट” के समान प्रकाशकारिका सिद्ध हुई।

आचार्य अभयदेव ने निम्नलिखित ग्रन्थों पर टीकाएँ बनाई हैं:—

ग्रन्थनाम	रचनासमय	स्थल	श्लोक परिमाण
१. स्थानाङ्ग सूत्र वृत्ति	११२०	पाटण	१४२५०
२. समवायाङ्ग सूत्र वृत्ति	११२०	”	३५७५
३. भगवती सूत्र वृत्ति	११२८	”	१८६१६
४. ज्ञाता सूत्र वृत्ति	११२०	”	३८००
५. उपासकदशा सूत्र वृत्ति			८१२
६. अन्तकृद्दशा सूत्र वृत्ति			८६६
७. अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र वृत्ति			१६२
८. प्रश्नव्याकरण सूत्र वृत्ति			४६००
९. विपाक सूत्र वृत्ति			६००
१०. औपपातिक सूत्र वृत्ति			३१२५
११. प्रज्ञापना तृतीय पद संग्रहणी			१३३
१२. पञ्चाशक सूत्र वृत्ति	११२४	धोलका	७४८०
१३. सप्ततिका भाष्य			१६२
१४. बृहद् वन्दनकभाष्य			३३
१५. नवपद प्रकरण भाष्य			१५१

इनके अतिरिक्त कतिपय स्तोत्र आदि साहित्य भी उपलब्ध है:—

१. पञ्चनिर्ग्रन्थी	२. आगम अष्टोत्तरी
३. निगोद षट्त्रिंशिका	४. पुद्गल षट्त्रिंशिका
५. आराधना प्रकरण गा० ८५	६. आलोचनाविधि प्रकरण गा० २५
७. स्वधर्मावात्सल्य कुलक	८. जयतिहुअण स्तोत्र गा० ३०
९. वस्तु पार्श्वस्तव (देवदुत्थिय) गा० १६	१०. स्तम्भन पार्श्वस्तव गा० ८
११. पार्श्वविज्ञप्तिका (सुरनरकिन्नर ० प ० २२, जैसलमेर भंडार)	
१२. विज्ञप्तिका (जैसलमेर भं०) प ० २६	१३. षट्स्थान भाष्य गा० १७३
१४. वीरस्तोत्र गा० २२	१५. षोडशक टीका [पत्र ३७]
१६. महादंडक	१७. तिथि पयन्ना
१८. महावीर चरित्र गा० १०८ (अपभ्रंश)	१९. उपधानविधि पंचाशक प्रकरण गा० ५०

१. शास्त्रार्थनिर्णयसुसौरभलम्पटस्य, विद्वन्मधुव्रतगणस्य सदैव सेव्यः ।
श्रीनिवृत्ताख्यकुलसन्नदपद्मकल्पः, श्रीद्रोणसूरिरनवद्ययशःपरागः ॥
शोधितवान् वृत्तिमिमां युक्तो विदुषां महासमूहेन ।
शास्त्रार्थनिष्कनिष्कषणकषपट्टककल्पबुद्धीनाम् ॥

[भगवती वृत्ति प्रशस्तिः]

प्रभावक चरित और सुमतिगणि तथा जिनापालोपाध्याय के प्रबन्धों के अनुसार शासनदेव की प्रेरणा और समय-समय पर सहायता देने के वचन से प्रभावित होकर आचार्य ने टीका रचना का कार्य हाथ में लिया और विवादास्पद तथा शंकापूर्ण स्थलों पर शासन देवता जया, विजया, जयन्ति, अपराजिता, पद्मावती आदि देवीवर्ग महाविदेह स्थित सीमन्धर तीर्थकर से उत्तर प्राप्त कर आचार्य को देती थी। इससे टीका सर्वाङ्ग सुन्दर बन सकी है।

इस प्रकार का मन्तव्य युक्त नहीं कहा जा सकता। यदि हम मान भी लें कि देवियों ने तीर्थकर से उत्तर प्राप्त करके दिया हो तो, आचार्य अभयदेव को स्थान-स्थान पर “प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि” “इह च बद्द्वो वाचनाभेदाः” “कस्यांश्चिद् वाचनायाम-परमपि सम्बन्धसूत्रमुपलभ्यते” “सत्सम्प्रदायहीनत्वात्” “तत्त्वं तु केवलीगम्यम्” इत्यादि शब्दों का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं रहती तथा अन्य किसी भी स्थल पर इस बात का उल्लेख आचार्य अवश्य करते। जब आचार्य द्रोण के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन आचार्य न भूल सके तो भला ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तु प्राप्त करने वाले शासनदेवियों को कैसे भूल जाते? वस्तुतः वह समय चमत्कार प्रदर्शन का युग था। अतिशयोक्ति का समय था। वस्तु के अभाव में भी ख्याति कराने के लिये इस प्रकार से परवर्ती समुदाय चमत्कार का आश्रय लिया करते थे। अतः तत्कालीन ऐसी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर प्रबन्धकारों ने चमत्कार का आश्रय लिया होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

रचना के समय अहर्निश जागरण और रचना प्रारंभ से अन्त तक अत्युग्र आचाम्ल तप का सेवन इत्यादि अनेक कारणों से आचार्य का शरीर व्याधि-जर्जरित हो गया।^१ केवल व्याधि से शरीर ही जर्जरित नहीं हो गया था किन्तु दुर्जनों के कुवाक्यों ने मन पर भी बुरा आघात पहुँचाया था। कोई कहता था कि टीकाओं की रचना में इन्होंने उत्सूत्र-प्ररूपणा की है और कोई अन्य मिथ्या प्रचार^२ कर इनके हृदय को दुखाता था। यही कारण है कि आचार्य अनशन ग्रहण करने को तैयार हो गये थे। किन्तु शासन का सौभाग्य था इसलिये आचार्य अनशन के विचार को अमल में न ला सके, अपितु दूसरा ही कार्य उन्होंने किया; वह कार्य था स्तम्भन पार्श्वनाथ का प्रकटीकरण।

व्याधिग्रस्त अवस्था में भी आचार्य कमशः प्रवास करते हुए खंभात पधारे और

१. आचार्य को क्या रोग हुआ था? इस सम्बन्ध में सब ही प्रबन्धकार रोग का नाम पृथक्-पृथक् लिखते हैं। प्रभावक चरित प० १३० के अनुसार रक्तविकार, उपदेशसप्ततिका के अनुसार कुष्ठरोग, तीर्थकल्प के पृ० १०४ पंक्ति २६ के अनुसार अतिसार रोग हुआ था। कुछ भी हो, चाहे रक्तविकार हो, चाहे कुष्ठरोग हो और चाहे अतिसार हो, यह तो निश्चित है कि आचार्य व्याधि से पीड़ित अवश्य थे।

२. प्रभावक चरित (अभयदेव चरित प० १३०-१३१)

वहां से निकट ही सेढी नदी के पार्श्ववर्ती स्थान खंखराप्रलाश में पहुँच कर “जयतिहुअण वर” इत्यादि नूतन पद्यों से भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति की। और उसी समय भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति भूमि से स्वयमेव प्रगट हुई और वही मूर्ति खंभात में नूतन देवालय बनाकर प्रतिष्ठित की गई जो आज भी मौजूद है। अशातावेदनीय का नाश होने से और भगवान् पार्श्वनाथ के प्रभाव से आचार्यश्री का रोग शान्त हो गया।

सुमति गणि रचित गणधरसार्द्धशतक वृत्ति, उ० जिनपाल कृत युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, जिनप्रभसूरि कृत विविध तीर्थकल्प और उपदेशसप्ततिका के अनुसार पार्श्वनाथ प्रतिमा प्रकट करने के पश्चात् आचार्यश्री ने नवाङ्गों पर टीका रची थी और प्रभावक चरित, प्रबन्ध-चिन्तामणि और पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह के अनुसार नवाङ्ग टीका की पूर्णाहूति होने के पश्चात् स्तम्भन पार्श्वनाथ का प्रकटीकरण हुआ था।

इन दोनों कार्यों में से (स्तम्भन पार्श्वनाथ स्थापना और नवाङ्ग वृत्ति रचना) प्रथम कौनसा कार्य हुआ ? इस पर भी जरा विचार करना आवश्यक है। आज भी हम अपने प्रत्यक्ष जीवन में अनुभव करते हैं कि आज की की हुई वार्ता जनता के मुख पर फैलती हुई कुछ समय बाद दूसरा ही रूप ले लेती है। यदि यही वार्ता का समय ५०-१०० वर्ष व्यतीत हो जाय तो उस वार्ता का रूपान्तर मात्र ही हमें प्राप्त होगा। इसी प्रकार आचार्य के जीवन-वृत्त से सम्बन्धित समग्र ग्रन्थ १२५ और २५० वर्ष के मध्य में रचे गये हैं। अतः प्रारम्भ का अन्तिम और अन्तिम का प्रारम्भ स्वरूप ले ले तो कोई आश्चर्य नहीं।

मेरे नम्र मतानुसार यह भी सम्भव है कि वह समय चमत्कार का समय था। स्तम्भन पार्श्वनाथ का भूमि से प्रकट होना नवाङ्ग-वृत्ति रचना की अपेक्षा साधारण जनता की दृष्टि में अत्यधिक महत्त्व रखता है। चमत्कार चमत्कार ही है जो साधारण से साधारण व्यक्ति भी इसकी जानकारी रखने में अपनी ज्ञान का अनुभव करता है और साहित्य-सृजन केवल विद्वान् ही जान पाते हैं। इस दृष्टि से पार्श्वनाथ की घटना चमत्कारपूर्ण होने से पूर्व में स्थान प्राप्त कर चुकी है। वस्तुतः नवाङ्ग टीका का कार्य आचार्य ने पूर्व में किया था और उपरि उल्लिखित अर्हनिश जागरणादि कार्यों से आचार्य व्याधि-पीडित होने पर स्तम्भनक ष्ठारे और उसी समय वहीं पर पार्श्वनाथ प्रतिमा का प्रकटीकरण किया।

एक प्रश्न यहां अवश्य ही विचारणीय हो सकता है कि आचार्य ने अपने टीका-ग्रन्थों के प्रारम्भ और अन्त में भगवान् महावीर के साथ श्रीपार्श्वनाथ को भी स्मरण किया है, वह भी अधिकता से। इसलिये पार्श्वनाथ स्थापना के पश्चात् ही टीकाओं की रचना की हो। यह दलील मानी जा सकती है और नहीं भी; क्योंकि पार्श्वनाथ स्थापना के पूर्व भी वे भगवान्

१. सेढी नदी वस्तुतः खंभात के पास नहीं है किन्तु मही नदी है। हां, खेडा मातर के पास सेढी नदी अवश्य है और उसके किनारे थांभरा नामक एक ग्राम भी है। सम्भव है ‘थांभरापुरटिठय’ इत्यादि में इसी को स्तम्भनपुर कहा हो। कालान्तर से किसी अज्ञात संयोगवश स्तम्भन पार्श्व-प्रभु की प्रतिमा खंभात में लाई गई हो और इसी निमित्त से पिछले कुछ समय से खंभात का नाम स्तम्भतीर्थ, स्तम्भनपुर प्रचलित हो गया हो।

पार्श्वनाथ को अपना आराध्यतम देव समझते हों तो उनका नाम दे सकते हैं। केवल नाम से हम निश्चित करने में असमर्थ हैं कि स्थापना के पश्चात् टीका-प्रणयन हुआ हो।

आप केवल जैनागमों के ही उद्भट विद्वान् नहीं थे अपितु तर्क-शास्त्र और न्याय-शास्त्र के भी प्रकाण्ड पंडित थे। उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् प्रसन्नचन्द्रसूरि, वर्द्धमानसूरि, हरिभद्रसूरि और देवभद्रसूरि ने आप ही के पास विद्याध्ययन किया था और आपको ही वे अपने गुरु-रूप में, स्वयं को विनेय रूप में मानते थे। आचार्य जिनवल्लभसूरि ने अपने चित्रकूटीय वीरचैत्य-प्रशस्ति में लिखा है :—

सत्तर्कन्यायचर्चाचित्रचतुरगिरः श्रीप्रसन्नेन्दुसूरिः,
सूरिः श्रीवर्द्धमानो यतिपतिहरिभद्रो मुनोऽ देवभद्रः ।
इत्याद्याः सर्वविद्यार्णवसकलभुवः सञ्चरिष्णूरुकीर्त्ति-
स्तम्भायन्तेऽधुनापि श्रुतचरणारमारजिनो यस्य शिष्याः ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अभयदेव ने लगभग ६२००० श्लोक प्रमाण साहित्य की रचना कर जैनागमों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। वह सचमुच में श्लाघ्यतम प्रयत्न था। आपकी प्रभावशालिता के सम्बन्ध में हम कुछ न लिखकर केवल मुनि जिनविजयजी के शब्द ही यहां उद्धृत करते हैं^१ :—

“जिनेश्वरसूरि के अनुक्रम में शायद तीसरे परन्तु ख्याति और महत्ता की दृष्टि से सर्वप्रथम ऐसे महान् शिष्य श्रीअभयदेवसूरि थे जिन्होंने जैनग्रन्थों में सर्वप्रधान जो एकादशाङ्ग सूत्र हैं उनमें से नव अंग सूत्रों पर सुविशद संस्कृत टीकायें बनाईं। अभयदेवाचार्य अपनी इन व्याख्याओं के कारण जैन साहित्याकाश में कल्पान्तस्थायी नक्षत्र के समान सदा प्रकाशित और सदा प्रतिष्ठित रूप में उल्लिखित किये जायेंगे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के पिछले सभी गच्छ और सभी पक्ष वाले विद्वानों ने अभयदेवसूरि को बड़ी श्रद्धा और सत्यनिष्ठा के साथ एक प्रमाणभूत एवं तथ्यवादी आचार्य के रूप में स्वीकार किया है और इनके कथनों को पूर्णतया आप्तवाक्य की कोटि में समझा है। अपने समकालीन विद्वत्समाज में भी इनकी प्रतिष्ठा बहुत उँची थी। शायद ये अपने गुरु से भी बहुत अधिक आदर के पात्र और श्रद्धा के भाजक बने थे।”

जिनवल्लभसूरि

यद्यपि अभयदेवाचार्य ने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं विपुल साहित्य से विद्वत्समाज में सदा के लिये अपना स्थान बना लिया और इस कार्य द्वारा श्री वर्द्धमान और श्री जिनेश्वर द्वारा प्रचारित सुविहित-सरिता को प्रगति प्रदान करने में उन्होंने एक अत्यन्त ठोस कार्य

१. कथाकोष प्रकरण प्रस्तावना पृ० १२

किया, परन्तु इसके करने में उन्हें जो चैत्यवासियों से समझौता करना पड़ा, उसके कारण सुविहित क्रान्ति की जो प्रचण्ड ज्वाला श्री जिनेश्वर ने एकाएक उत्पन्न कर दी थी वह कुछ दिनों के लिये मन्द पड़ गई और जनता के चित्त से वह लगभग उतरसी गई। उसी क्रान्ति की सुषुप्त और विस्मृतप्राय चिनगारियों को लेकर जैन समाज के जन-जन के मन में पुनः आग लगाने और सुविहित विचार-धारा के लिये अदम्य उत्साह एवं लगन उत्पन्न करने तथा चैत्यवास के विरुद्ध एक व्यापक और विकराल आन्दोलन को पुनः जागरित करने का श्रेय श्रीजिनवल्लभसूरि को है। श्रीजिनवल्लभसूरि आचार्य अभयदेव के पट्टधर थे और इनकी काव्य प्रतिभा, विद्वत्ता तथा वाक्पटुता की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त थी।

अध्याय : २

कवि का जीवन-वृत्त और देन

आचार्य जिनवल्लभसूरि का जीवन-वृत्त

आचार्य जिनवल्लभसूरि ने वि० सं० ११६३ में स्वप्रणीत अष्ट सप्ततिका अपरनाम चित्रकूटीय वीर-चैत्य-प्रशस्ति नामक ग्रन्थ में अपनी स्वयं की आत्मकथा का जो संक्षेप में आलेखन किया है, उसका सारांश इस प्रकार है:—

निर्मल 'चन्द्रकुल' में श्री वर्द्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि हुये जो सिद्धान्त-सम्मत साध्वाचार का उग्रता से पालन करने वाले तथा प्रगाढ और प्रतिभा सम्पन्न आगमज्ञ थे। एवं जिन्होंने राज्य सभा में सिद्धान्त-विरुद्ध आचरण वाले आचार्यों की प्ररूपणा और मान्यताओं को शास्त्र-विरुद्ध ठहराकर गुर्जर प्रदेश (गुजरात) में संविग्न साधुओं (सुवि-हितों) के विहार मार्ग को सर्वदा के लिये प्रशस्त किया।

ऐसे प्रकृष्ट गीतार्थ जिनेश्वरसूरि के शिष्य श्रुतज्ञान रूपी ऐश्वर्य से अन्धकार रूपी स्मर को नाश करने में महेश्वर के समान श्री अभयदेवसूरि हुये। जिन्होंने स्वगुरूपदेश और स्वयं की विशद प्रज्ञा से श्रमण भगवान् महावीर के वंशज गणधरों द्वारा ग्रथित स्थानाङ्ग सूत्र से विपाक सूत्र पर्यन्त नवाङ्गों— जिनका गम्भीरार्थ उस समय तक अनुद्घाटित था— पर श्री संघ के तोष के लिये टीकाओं की रचना की।

आचार्य अभयदेव का यश सौरभ तो विश्वव्यापी था ही, और उनके प्रमुख शिष्यों— प्रसन्नचन्द्रसूरि, वर्द्धमानसूरि, हरिभद्रसूरि एवं देवभद्रसूरि आदि की वैदुष्य कीर्ति से आज भी दिग्दिगन्त स्तम्भित है।

ऐसे सुविहित शिरोमणि और श्रेष्ठ गीतार्थ श्री अभयदेवसूरि से लोकों में अर्च्यं कूर्चपुरगच्छीय श्री जिनेश्वरसूरि का शिष्य, गणि पदधारक जिनवल्लभ(में) ने उपसम्पदा और सिद्धान्त-ज्ञान प्राप्त किया।

यहां ग्रन्थकार स्वयं के लिये कहता है कि—विद्या को योग्य स्थान न मिलने से विश्व में भ्रमण करती हुई पीडित हो गई थी, मुझे योग्य पात्र समझ कर सूक्ष्म शरीर द्वारा मेरे में समाविष्ट हो गई और भूरिकाल से प्रीति की तरह वृद्धि को प्राप्त होती गई ।

कदाचित् मैं विहार (भूमण) करता हुआ चित्तौड़ आया । वहां के समुदाय ने मुझे सद्गुरु के रूप में स्वीकार किया । उस समय अम्बक, केहिल और वद्धमानदेव आदि प्रमुख व्यापारियों का समुदाय चित्तौड़ में रहता था और शुद्ध देव एवं सत्गुरु की उपासना करता रहता था । चित्तौड़ में उस समय पंक्ति बद्ध विशाल जैन-मन्दिर थे ।

मेरे उपदेश से चित्तौड़ के निवासियों ने शास्त्र-सम्मत विधिपक्ष, विधि-चैत्य और सुविहित साधुओं का स्वरूप समझ कर, चैत्यवासियों की मान्यता और प्ररूपणा का त्याग कर सुविहित पक्ष के अनुयायी बने । उस समय वहां का समुदाय अपने को ऐसा मानने लगा, मानो इस क्रूर भस्मकाल में भी हमें नवीन अर्हच्छासन प्राप्त हुआ है और इसी श्रद्धा से वे कुपथ से विमुख होकर धर्म-कर्म करने लगे ।

आ० जिनवल्लभ ने स्वप्रतिबोधित विधिपथानुयायी श्रेष्ठियों के कतिपय नाम इस प्रकार दिये हैं—

धकंटवंशीय सोमिलक, वद्धमान का पुत्र वीरक, पल्लिका पुरी (पाली) में प्रख्यात प्रद्युम्नवंशीय माणिक्य का पुत्र सुमति, क्षैमसरीय (संभवतः खींवसर निवासी) भिषग्वर सर्वदेव और उसके तीनों पुत्र रासल, धन्धक एवं वीरक, खण्डेलवंशीय मानदेव और पद्मप्रभ का पुत्र प्रल्हक, पल्लिका में विश्रुत शालिभद्र का पुत्र साधारण और पल्लिका में चन्द्र समान ऋषभ का पुत्र सड्डक आदि ।

इन श्रेष्ठियों ने चित्तौड़ में धर्माराधन हेतु विधि-चैत्य का अभाव महसूस कर नवीन चैत्य निर्माण का संकल्प किया । चैत्यवासियों के गढ़ में विधि-चैत्यों का निर्माण केषधारियों के लिये कदापि सह्य नहीं था । उन्होंने निर्माण कार्य का ध्वंस करने के लिये भरपूर प्रयत्न किये, किन्तु उनके सारे प्रयत्न असफल रहे और अन्त में साधारण आदि उपरोक्त श्रेष्ठियों के प्रयत्नों से निर्माण कार्य पूरा हुआ । इस विशाल महावीर चैत्य की प्रतिष्ठा (वि० सं० ११६३) में बड़े महोत्सव से सम्पन्न हुई ।

कल्याणक आदि पर्व दिवसों में अब धार्मिक समुदाय बड़े भक्तिभाव और आडम्बर से उत्सव मनाता है तथा अर्चन-पूजन करता हुआ कल्याणकारी मार्ग की ओर अग्रसर हो रहा है ।

इस चैत्य की अर्चा निमित्त प्रत्येक सूर्य संक्रान्ति पर दो पास्त्य चित्तौड़ के धर्मदाय विभाग से देने का महाराजा श्री नरवर्मा ने आदेश दिया है ।

जिनवल्लभसूरि के इस अन्तरङ्ग प्रमाणभूत संक्षिप्त आत्मकथा के अतिरिक्त उनके योग्य शिष्य युगप्रधान दादोपनामधारक श्री जिनदत्तसूरि ने गणधरसार्द्धशतक में ६१ पद्यों में अपने गुरु की जो स्तुति को है उसकी टीका करते हुए उन्हीं के प्रशिष्य श्रीसुमति गणि ने आचार्य जिनवल्लभसूरि का विस्तार से जीवन-वृत्त दे दिया है । इसी का आधार ले

कर आचार्य का जीवन-चरित परवर्ती कई लेखकों ने लिखा है। श्रीसुमतिगणि के गुरुभ्राता श्री जिनपालोपाध्याय ने 'खरतरगच्छालङ्कार युगप्रधानाचार्य गुर्वावली' में जिनवल्लभसूरि का जो जीवन-चरित लिखा है, वह लगभग अक्षरशः सुमतिगणि द्वारा दिए हुए चरित से मिलता है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि सुमतिगणि की भाषा आलङ्कारिक वर्णनों से परिपूर्ण है तो, उपाध्यायजी की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इसलिये इसी वृत्ति को आधार मानकर हम भी उनका संक्षेप में जीवन चरित दे रहे हैं।

बाल्यकाल और दीक्षा

बालक जिनवल्लभ ने अपना पठन-पाठन आसिका (हांसी) नामक स्थान के एक नौ यालय में प्रारम्भ किया। कूर्चपुरीय जिनेश्वराचार्य ने इस बालक की प्रतिभा की सब से पहले परख की। उन्होंने देखा कि बालक जिनवल्लभ अपने सभी सहपाठियों से अधिक मेधासम्पन्न है। इसी बीच में एक चमत्कार हुआ। बालक जिनवल्लभ को चैत्यालय के बाहर एक पत्र पड़ा मिला, जिसमें 'सर्पाकषिणी' और 'सर्पमोचिनी' नाम की दो विद्याएं लिखी हुई थीं। बालक ने दोनों को कण्ठस्थ कर लिया, परन्तु ज्योंही उसने सर्पाकषिणी विद्या को पढ़ा त्योंही बड़े-बड़े भयंकर सर्प उसकी ओर आने लगे; परन्तु वह बालक उस स्थान पर निर्भयता पूर्वक खड़ा रहा और उसने अनुमान किया कि यह इसी विद्या का प्रभाव है। जैसे ही उसने दूसरी विद्या का उच्चारण करना प्रारम्भ किया वैसे ही सब सर्प भाग गये। इस घटना को सुनकर जिनेश्वराचार्य बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने समझ लिया कि यह बालक कोई सात्विक गुण-सम्पन्न होनहार व्यक्ति है। अतः उन्होंने उसको शिष्य बनाने की मन में ठान ली। उन दिनों चैत्यालयों में आचारशिथिलता बहुत आ गई थी और प्रलोभन आदि देकर भी शिष्यों को फांसना बुरा न समझा जाता था। इसलिये जिनेश्वराचार्य ने न केवल उस बालक को द्राक्ष, खजूर आदि देकर वश में किया अपितु उसकी माता को भी द्रव्य देकर और मीठी-मीठी बातें बनाकर जिनवल्लभ को अपने अनुकूल कर लिया और तुरन्त ही उसको दीक्षा दे दी।

विद्याभ्यास

जिनेश्वराचार्य ने बड़े मनोयोग के साथ जिनवल्लभ को पढ़ाना प्रारम्भ किया। उनके शिष्यत्व में शीघ्र ही उन्होंने तर्क, अलङ्कार, व्याकरण, कोष आदि अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। जिनवल्लभ की प्रखर बुद्धि जैसी विद्याध्ययन में सफल होती थी वैसे ही व्यावहारिक क्षेत्र में भी। एक बार जिनेश्वराचार्य किसी काम से आसिका से बाहर गये। जाते समय उन्होंने उस चैत्यालय तथा उससे सम्बन्धित वाटिका, विहार, कोष्ठागार इत्यादि की व्यवस्था का सारा भार जिनवल्लभ को सौंप दिया। जब वे वापिस आये तो यह जानकर

बहुत प्रसन्न हुए कि जिनवल्लभ ने सारा प्रबन्ध बड़ी कुशलता के साथ किया और उसमें कोई भी कमी नहीं आने दी।

अपने गुरु के प्रवास काल में बालक जिनवल्लभ को संयोगवश एक वस्तु और मिली, जिसका महत्त्व संभवतः उस समय उनको न मालूम हुआ होगा, परन्तु कौन कह सकता है कि उनके जीवन की दिशा को बदलने में उसने अप्रत्यक्ष रूप से बहुत बड़ा काम नहीं किया ! घटना इस प्रकार है :—

जब जिनेश्वराचार्य दूसरे ग्राम में चले गये तब बाल-सुलभ कौतूहलवश उन्होंने एक पुस्तकों से भरी हुई पेटो की छान-बीन प्रारम्भ की। उसमें उनको एक सिद्धान्त-पुस्तक मिली। उस पुस्तक में उन्होंने जो पढ़ा उससे उन्हें पता चला कि चैत्यवासियों का जो आचार-विचार है वह (दसवैकालिक आदि) सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है। उसमें लिखा था— “साधु को ४२ दोषों से रहित होकर गृहस्थों के घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन उसी प्रकार लाना चाहिए जिस प्रकार मधुकर विभिन्न फूलों से रस को एकत्र करता है। इस वृत्ति के द्वारा साधु की देहधारणा हो जाती है और किसी को कष्ट भी नहीं होता। साधुओं को एक स्थान पर निवास नहीं करना चाहिए और न सचित्त फूल-फलादि को स्पर्श ही करना चाहिये।” यह पढ़ते ही बालक जिनवल्लभ का मन उद्वेलित हो उठा और उन्होंने सोचा, “अहो ! अन्य एव स कश्चिद् व्रताचारो, येन मुक्तौ गम्यते, विसदृशस्त्वस्माकमेष समाचारः, स्फुटं दुर्गति-गर्तायां निपततां एतेन न कश्चिदाधारः” अर्थात् “अहो ! जिससे मुक्ति प्राप्त होती है वह तो व्रत और आचार कोई दूसरा ही है, हमारा तो यह आचार बिल्कुल विपरीत ही है। हम तो स्पष्टतया ही दुर्गति के गड्ढे में पड़े हुए हैं और हम बिल्कुल निराधार हैं।”

अभयदेवसूरि से विद्याध्ययन

महापुरुषों के जीवन का यह एक व्यापक रहस्य है कि उनके मन में उठने वाले महत्त्वपूर्ण संकल्पों की सिद्धि का मार्ग स्वतः ही तैयार हो जाता है। जिनवल्लभ के विषय में भी यही हुआ। उनके मन में साधु के सच्चे व्रताचार के लिये जो उत्कण्ठा थी उसके लिये समुचित साधन स्वतः ही उपस्थित हो गये। जिनेश्वराचार्य ने स्वयं सोचा कि जिनवल्लभ को सिद्धान्त-ग्रन्थों की शिक्षा दिलवाना आवश्यक है। उस समय सिद्धान्त-ग्रन्थों के ज्ञान में श्रीअभयदेवसूरि की बड़ी प्रसिद्धि थी। उन्होंने जिनवल्लभ को उन्हीं आचार्य के पास पाटण में भेज दिया। सिद्धान्त-ग्रन्थ पढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि पढ़ने वाला व्यक्ति अधिकारी हो; यही अधिकार प्रदान करने के लिए उन्हें वाचनाचार्य बनाकर भेजा।^१ जिनवल्लभगणिके साथ उनके गुरुभ्राता जिनशेखर भी गये।

उन दिनों चैत्यवासियों और वसतिवासियों में पर्याप्त संघर्ष रहा करता था, अतः एक चैत्यवासी आचार्य के शिष्य को आगम की वाचना देना स्वीकार कर लेना एक वसति-

१. यहां से आपकी ख्याति “जिनवल्लभ गणिके” के नाम से हुई।

वासी आचार्य के लिये संकट से खाली नहीं था। इसलिये श्रीअभयदेवसूरि के मन में भी संशय उठा कि वह जिनवल्लभ को वाचना दें या नहीं? परन्तु जब उनको विश्वास हो गया कि जिनवल्लभ के मन में सिद्धान्त-वाचना के लिये उत्कृष्ट अभिलाषा है और उसके लिये उपयुक्त पात्रता भी है तो उन्होंने सोचा कि:—

“मरिज्जा सह विज्जाए, कालम्मि भ्रागए विऊ।

अपत्तं च न वाइज्जा, पत्तं च न विमाराए ॥”

अर्थात्—अवसान समय के आने पर विद्वान् मनुष्य अपनी विद्या के साथ भले मर जाय, परन्तु अपात्र को शास्त्रवाचना न करावे और पात्र के आने पर उसका (वाचना न कराके) अपमान न करे। इसलिये उन्होंने गणि जिनवल्लभ को वाचना देना स्वीकार कर लिया। जैसे-जैसे जिनवल्लभगणि अपने विद्याभ्यास से उन्हें सन्तुष्ट करते गये वैसे ही वे विद्यादान में अधिकाधिक उत्साही होते गये। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने थोड़े से समय में ही सारे सिद्धान्त-ग्रन्थों का अध्ययन पूर्ण कर लिया। जिनवल्लभगणि की प्रखरबुद्धि और ज्ञान पिपासा को देखकर आचार्य ने उन्हें एक बहुत बड़े ज्योतिषज्ञ के पास भेजा। इस विद्वान् ने आचार्य से पहले ही कह रखा था कि आपका कोई योग्य शिष्य हो तो उसे मेरे पास भेजें, जिससे मैं उसको अपना समग्र ज्योतिष-ज्ञान सिखला दूँ। योग्य शिष्य को पाकर किस गुरु का मन प्रसन्न न होगा? वह ज्योतिषाचार्य भी जिनवल्लभगणि जैसे छात्र को पाकर बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने उन्हें अपनी सारी विद्या सिखा दी। उन्होंने कौन-कौन से ग्रन्थ पढ़े इसका तो पता नहीं चलता, परन्तु इस सम्बन्ध में सुमतिगणि और जिनपालोपाध्याय दोनों ने ही यही लिखा है कि उन्होंने “सर्व ज्योतिषशास्त्र” पढ़े थे।

जिनवल्लभगणि की विद्वत्ता का वर्णन करते हुए उक्त दोनों लेखकों ने जिन लेखकों का और ग्रन्थों का उल्लेख किया है उनसे पता चलता है कि उन्होंने जैन-सिद्धान्त और ज्योतिष शास्त्र के अतिरिक्त और भी बहुत ग्रन्थ पढ़े थे। पत्तन में उन्होंने जो अध्ययन किया उसमें जैन-दर्शन और ज्योतिष शास्त्र के अतिरिक्त किन्हीं अन्य ग्रन्थों के अध्ययन करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः यह मानना पड़ेगा कि इनके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ अध्ययन किया उसके लिए तो अधिकांशतः वे चैत्यवासी जिनेश्वराचार्य के ही ऋणी थे। यही कारण है कि वे अपने प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक काव्य में जहां अपने ‘सद्गुरु अभयदेवाचार्य’

१. पाके धानुरवाचि कः ? नव भवतो भीरोर्मनः प्रीतये ?

सालङ्कारविदग्धया वद कया रज्यन्ति ? विद्वज्जनाः ।

पाणो किं मुरजिद् विभति ? भुवि तं ध्यायन्ति ? के वा सदा,

के वा सद्गुरवोत्र चारुचरणश्रीसुश्रुता विश्रुताः ॥१५८॥

उत्तरम्—“श्रीमदभयदेवाचार्यः”

का स्मरण करते हैं तो “मद्गुरवो जिनेश्वरसूरयः” कह कर उन चैत्यवासी आचार्य को भी नहीं भूलते ।

इससे सिद्ध होता है कि जिनेश्वराचार्य भी बड़े प्रकाण्ड पण्डित थे । उन्होंने जो ग्रन्थ संभवतः जिनवल्लभ को पढ़ाये, उसमें पाणिनीय आदि के आठों व्याकरण, मेघदूतादि काव्य, रुद्रट, उद्भट, दण्डी, वामन और भामह आदि के अलङ्कार ग्रन्थ, ८४ नाटक, जयदेव आदि के छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ, भरत नाट्य और कामसूत्र, अनेकान्त जयपताकादि जैन न्यायग्रन्थ तथा तर्ककंदली, किरणावली, न्यायसूत्र तथा कमलशीलादि जैनेतर दार्शनिक ग्रन्थ थे । एक और ग्रन्थ या ग्रन्थकार जिसका उल्लेख उनकी विद्वत्ता के प्रसंग में मिलता है वह है “शङ्करनन्दन” । यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि शङ्करनन्दन से अभिप्राय किससे है ? संभवतः यह कोई वेदान्ती आचार्य रहा हो ।

चैत्यवास त्याग और उपसम्पदा ग्रहण

पत्तन में विद्याध्ययन समाप्त करने के पश्चात् जब वे अपने गुरु जिनेश्वराचार्य के पास वापिस जाने लगे तो आचार्य अभयदेवसूरि ने कहा कि “बेटा ! सिद्धान्त के अनुसार जो साधुओं का आचार-व्रत है वह तुम सब समझ चुके, अतः उसके अनुसार जिस प्रकार आचरण कर सको वैसा ही प्रयत्न करना ।” यह वस्तुतः जिनवल्लभगणि के अन्तरात्मा की पुकार थी । उनके मन में चैत्यवास के प्रति अरुचि और वसतिवास के प्रति उत्कट प्रेम पहिले से ही उत्पन्न हो चुका था, अतः जिनवल्लभगणि ने भी अभयदेवाचार्य के चरणों पर गिर कर कहा कि “गुरुदेव ! आपकी जो आज्ञा है वैसा ही निश्चित रूप से करूंगा ।” इस वचन का पालन उन्होंने मार्ग में ही करना प्रारंभ कर दिया । जैसे ही मरुकोट (मरोट) में पहुंचे, (जहाँ कि उन्होंने आते समय देवगृह की स्थापना की थी) तो उन्होंने देवगृह में एक विधिवाक्य के रूप में निम्नलिखित श्लोक लिखा, जिसका पालन करके अविधिचैत्य भी विधिचैत्य होकर मुक्ति का साधन बन सके:—

अत्रोत्सूत्रिजनकमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा,
साधूनां अन्नताभयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि ।
जातिज्ञातिकदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलमि—
त्याज्ञाऽऽत्रेयमनिश्चिते विधिकृते श्रीजैनचैत्यालये ॥१॥

अब उन्होंने जिनेश्वराचार्य से पृथक् होने का दृढ़ संकल्प कर लिया था । यह कोई सरल कार्य नहीं था । उस बूढ़े की जिनवल्लभजी पर प्रगाढ़ ममता थी और इनका भी उनके प्रति अनुराग और भक्तिभाव होना स्वाभाविक था । अतः इस सुदृढ़ स्नेह-बन्धन को काट कर

१. कः स्यादम्भसि बारिवायसवति ? क्व द्वीपिनं हन्त्ययं ?
लोके प्राह हयः प्रयोगनिपुणैः कः शब्दधातुः स्मृतः ?
ब्रूते पालयितात्र दुर्धरतरः कः क्षुभ्यतोम्भोनिधे—
ब्रूहि श्रीजिनवल्लभ ! स्तुतिपदं कीदृग्विधाः के सताम् ? ॥१५६॥

उत्तरं—“मद्गुरवो जिनेश्वरसूरयः”

नकल भागना, त्याग-मार्ग स्वीकार करना साधारण कार्य न था। जिनवल्लभगणि के मन में भी परिस्थिति की गम्भीरता आई और उन्होंने सोचा कि संभवतः जिनेश्वराचार्य के चैत्य में पहुँच कर पूर्वस्मृतियां अत्यधिक वेग से जागृत हो उठेंगी और उस समय अपने संकल्प पर दृढ़ रहना कठिन हो जायगा। इसीलिये उन्होंने वहाँ न जाकर निकटवर्ती माइयड ग्राम में ही रह कर अपने गुरु को पत्र लिखकर मिलने के लिये बुलाया। पत्र में उन्होंने लिखा था—“मैं गुरु से विद्याध्ययन करके माइयड ग्राम में आ गया हूँ, यदि भगवन् ! यहीं आकर मुझ से मिलेंगे तो अति कृपा होगी।” यह पत्र पढ़कर जिनेश्वराचार्य को बहुत आश्चर्य और दुःख हुआ। परन्तु फिर भी वे बड़े समारोह के साथ शिष्य को लेने माइयड ग्राम गये। यह सुनते ही कि गुरुजी अनुग्रह करके पधारे हैं, जिनवल्लभगणि गद्गद हो गये और तत्काल उनके सामने पहुँचे और विधिवत् प्रणाम किया। स्नेह की सरिता उमड़ उठी। गुरु ने क्षेमकुशल पूछी, उसका उन्होंने यथोचित उत्तर दिया। इसी समय उनको अपना ज्योतिष का ज्ञान दिखाने का भी अवसर उपस्थित हुआ। एक ब्राह्मण वहाँ आया और उसने ज्योतिष की कई समस्याओं को उपस्थित किया। जिनवल्लभगणि द्वारा उनका समुचित समाधान देखकर जिनेश्वराचार्य बहुत ही आश्चर्यचकित हुए और उनके हृदय में अपार हर्ष एवं उल्लास उत्पन्न हो गया। ऐसी अवस्था में जिनवल्लभगणि के आसिका न जाने से उनके मन में जो शंका उत्पन्न हुई थी वह एक पहेली बनकर उनके मन में फिर उठी और उन्होंने पूछा कि, जिनवल्लभ ! यह क्या बात है कि तुम सीधे आसिका के अपने चैत्यवास में न आये और मुझे यहाँ बुलाया ? यह जिनवल्लभगणि के संकल्प, संयम और धैर्य की परीक्षा का समय था। कोई साधारण जन होता तो ममता और मोह के ऐसे पारावार में डूब गया होता, परन्तु जिनवल्लभगणि ने अत्यंत दृढ़ता के साथ विनीत स्वर में कहा—“भगवन् ! सद्गुरु के श्रीमुख से जिन-वचनामृत का पान करके भी अब उस चैत्यवास का सेवन कैसे करूँ ? जो कि मेरे लिये त्रिष-वृक्ष के समान है।” यह सुनते ही आचार्य जिनेश्वर की आशाओं पर तुषासपात हो गया। उस समय उनकी दशा बड़ी दयनीय थी। वे बोले—“जिनवल्लभ ! मैंने यह सोचा था कि मैं अपना उत्तराधिकार देकर और चैत्यालय, गच्छ तथा श्रावक संघ का सारा भार तुम्हें सौंप कर स्वयं सद्गुरु के पास जाकर वसतिवास को स्वीकार करूँगा।” उनके यह वचन सुनकर जिनवल्लभगणि का मुख हर्षोल्लास से जगमगा उठा और वे बोले—“भगवन् ! यह तो बहुत ही सुन्दर बात है। हेय वस्तु का परित्याग करके उपादेय वस्तु का ग्रहण करना ही विवेक का काम है, अतः अपने दोनों एक साथ ही सद्गुरु के समीप चलकर सन्मार्ग को स्वीकार करें।” यह सुनकर जिनेश्वराचार्य ने एक दीर्घ निःश्वास ली और करुण स्वर में कहा कि—“बेटा ! मुझ में इतनी निःस्पृहता कहां कि गच्छ चैत्य आदि को ऐसे ही छोड़ दूँ ? हाँ, जब तुम तुल गये हो तो अवश्य वसतिवास को स्वीकार करो।”

इस प्रकार गुरु से अनुमति प्राप्त करके वे पुनः पत्तन में गये और अभयदेवसूरि को अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम किया। आचार्य अभयदेव भी हृदय में अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने सोचा कि मैंने इसको जैसा योग्य समझा था वैसा ही सिद्ध हुआ। उनके मन में यह दृढ़ विश्वास था कि—“जिनवल्लभ ही हमारा उत्तराधिकारी (पट्टधर) होने के सर्वथा योग्य है, परन्तु क्या उसको समाज स्वीकार करेगा ? वह एक चैत्यवासी आचार्य का शिष्य था,

पर इससे क्या ? क्या पङ्क से पङ्क उत्पन्न नहीं होता ?” इस प्रकार सोचते हुए भी अभय-देवसूरि जैसे प्रभावशाली आचार्य-शिरोमणि भी जिस बात को न्याय, धर्म और समाजहित की दृष्टि से सर्वथा उचित समझते थे, उसको अन्धविश्वासी समाज का विरोध सहन करके भी करते। संभवतः वे भी यही सोचकर सतुष्ट हो गए कि “यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयं नाचरणीयम्” अतः आचार्यश्री के मन की बात मन में ही रह गई और उन्होंने स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए समाज के सामने मत्था टेककर अपनी अन्तरात्मा की पुकार के विरुद्ध अपने दूसरे शिष्य वर्धमान को आचार्य-पद देकर जिनवल्लभगणि को उपसम्पदा प्रदान की और सर्वत्र विचरण करने की अनुमति प्रदान की। तत्पश्चात् आचार्य अभयदेव के संकेतानुसार प्रसन्नचन्द्राचार्य की आज्ञा से उनके पश्चात् देवभद्राचार्य ने इनको पट्टधर बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु जब जिनवल्लभगणि को यह पद प्राप्त हुआ, तो उनके जीवन का सूर्य अस्त होने वाला था।

चित्रकूट गमन

उपसम्पदा ग्रहण करके वे कुछ दिन गुर्जरप्रदेश में विहार करते रहे, परन्तु यहां उन्हें सुविहित सिद्धान्त-प्रचार में वैसी सफलता नहीं मिली जैसी कि वे चाहते थे। उस समय गुजरात चैत्यवासियों का सब से बड़ा गढ था। यहां पर जिनवल्लभगणि जैसे क्रान्तिकारी विचारक, कटु आलोचक और निर्भय वक्ता की दाल गलना सरल न था। यह तो अभयदेवाचार्य जैसे सुलझे हुए और व्यवहार-कुशल व्यक्ति का ही काम था, जो चैत्यवासियों के प्रधानाचार्य आचार्य द्रोणसूरि तक से समुचित सन्मान प्राप्त कर सके और अपने नवाङ्गों की टीका पर उनकी छाप लगवा कर चैत्यवासियों द्वारा मान्य भी करा सके। परन्तु जिनवल्लभगणि दूसरे ही प्रकार के व्यक्ति थे, वे जिनका विरोध करते थे उसका बड़े उग्ररूप में; और उन्हें किसी विषय में और किसी समय शिथिलता तनिक भी पसन्द नहीं थी। इनकी असफलता का एक कारण यह भी हो सकता है चैत्यवास त्याग करने से चैत्यवासी इनको अपना शत्रुसा समझने लगे होंगे और चैत्यवास के संसर्ग में रहने के कारण वसतिमार्गियों से उन्हें समुचित आदर एवं सहयोग न मिला होगा। इसी कारण संभवतः उन्होंने गुर्जरप्रदेश को छोड़ कर मेदपाट (मेवाड़) में जाना स्वीकार किया। यद्यपि वहां भी सर्वत्र चैत्यवासियों का जोर था, परन्तु नये प्रदेश में एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए अपना स्थान बना लेना अधिक सरल होता है। ‘घर का जोगी जोगिया, आन गांव का सिद्ध’ यह कहावत प्रसिद्ध ही है। इसी के अनुसार महात्मा गौतम बुद्ध को जो आदर बाहर मिला वह उनकी जन्मभूमि कपिलवस्तु में नहीं; भगवान् महावीर को भी लिच्छवी गण में सफलता तब ही मिली जब वे अन्यत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। यही बात आधुनिक काल में आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द के जीवन में भी हुई। अतः जिनवल्लभगणि को मेदपाट में अधिक सफलता प्राप्त होना स्वाभाविक ही था।

मेदपाट प्रदेश में जाकर उन्होंने पहिले पहल चित्रकूट (चित्तोड़) में कुछ दिन बिताने का निश्चय किया। वहां पर उनके गुरु आचार्य अभयदेव की कीर्ति और प्रतिष्ठा पर्याप्त थी। अतः वहां के लोग उनका कोई बिगाड़ तो न कर सके परन्तु फिर भी उन्हें कुछ क्षुद्रजनों का

पर्याप्त विरोध सहन करना पड़ा। वहाँ के श्रावकों से उन्होंने रहने के लिये स्थान मांगा तो उत्तर मिला—“यहाँ एक चण्डिकामठ है वहाँ यदि ठहरना चाहें तो ठहर जाय।” गणिजी उनके दुष्ट अभिप्राय को अच्छी तरह से समझते थे, परन्तु फिर भी वे देवगुरु के प्रसाद पर विश्वास रख के वहीं पर ठहर गये। चण्डिका देवी भी उनके ज्ञान, ध्यान और अनुष्ठान से प्रसन्न हुई और उनकी सिद्धिदात्री बन गई। उनके पास प्रतिदिन अनेक दार्शनिक ब्राह्मण आने लगे। इनमें से प्रत्येक निज-निज शास्त्रों के विषय में उनसे वार्तालाप करता था और उनके उत्तर से सन्तोषलाभ करता था। धीरे धीरे उनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि और उनके पाण्डित्य का प्रभाव व सुयश सर्वत्र फैल गया। जैन श्रावक भी उनकी ओर आकर्षित हुए और उनको विश्वास होने लगा कि यही एक साधु है जो सर्व संशयों को दूर करके हमारे हृदय के अन्धकार को दूर कर सकता है। गणिजी जी में जो बात सब से अधिक आकर्षण करने वाली थी वह यह थी कि उनकी ‘कथनी’ और ‘करणी’ एक थी। वे जिन सिद्धान्तवचनों की व्याख्या अपने बचनों में करते थे उन्हीं को वे अपने आचरण में भी उतारते थे। यही कारण है कि साधारण, सड्डक, सुमति, पल्हक, वीरक, मानदेव, धन्धक, सोमिलक, वीरदेव आदि श्रावकों ने जिन-वल्लभगणि को सद्गुरु के रूप में स्वीकार किया।

गणिजी के चमत्कार

चित्तकूट में रहते हुए जिनवल्लभगणि ने कई चमत्कारपूर्ण कार्य किए। इनका साधारण नाम का एक भक्त-श्रावक एक बार उनके पास आया। वह चाहता था कि अपने जीवन में परिग्रह की एक सीमा निर्धारित करलूँ। इसका संकल्प लेने के लिये जब वह उनके पास आया तो उन्होंने पूछा कि तुम अपने सर्व संग्रह की सीमा कितनी रखना चाहते हो? साधारण श्रावक का वैभव साधारण ही था, अतः उसने सर्व संग्रह की सीमा २० हजार की रखनी चाही। परन्तु जिनवल्लभगणि जो अपने ज्योतिष ज्ञान से उसके भावी ऐश्वर्य को देख सकते थे, अतः उन्होंने उस सीमा को और बढ़ाने के लिये कहा। तब साधारण ने तीस सहस्र कहे। परन्तु जिनवल्लभगणि ने कहा कि “यह पर्याप्त नहीं है और अधिक बढ़ाओ।” साधारण को इस पर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसके गृह की समस्त वस्तुओं का मूल्य ५०० भी नहीं होता था, फिर भी गणिजी के बारंबार आग्रह करने पर उसने एक लाख का सर्व परिग्रह निश्चित किया। स्वल्प कालान्तर में ही उसकी सम्पत्ति इतनी बढ़ी कि वह एक लक्षाधीश कहलाने लगा और वह सम्पूर्ण संघ में अग्रगण्य हो गया। इस चमत्कार से वे सारे सेठ भी उनकी ओर आकर्षित हो गये; जो साधुओं के पास धर्म और चरित्र की शिक्षा के लिये नहीं अपितु ऋद्धि-सिद्धि दोहने के लिये जाते हैं।

एक दूसरा चमत्कार उन्होंने और दिखलाया। उनके ज्योतिषज्ञान की कीर्ति सर्वत्र फैल गई थी। एक ज्योतिषि ब्राह्मण उनके यश को सहन न कर सका और वह जिनवल्लभ-गणि को नीचा दिखाने की दृष्टि से उनके पास आया। उपासकों द्वारा आसन देने के पश्चात् निम्नलिखित वार्तालाप प्रारम्भ हुआ:—

जि०—भद्र! आपका निवास स्थान कहां है? और आपने किस शास्त्र का अभ्यास किया है?

ब्रा०—मेरा निवास स्थान यहां ही है और मैंने अभ्यास व्याकरण, काव्य, अलङ्कार आदि सब ही शास्त्रों का किया है।

जि०—ठीक है, परन्तु विशेष रूप से किस विषय का किया है ?

ब्रा०—ज्योतिष का।

जि०—चन्द्र और आदित्य के लग्नों के विषय में आप क्या जानते हैं ?

ब्रा०—इसमें क्या है ? बिना गणना किये ही एक दो या तीन लग्नों का प्रतिपादन कर सकता हूँ।

जि०—बहुत सुन्दर ज्ञान है।

ब्रा०—लग्न के विषय में क्या आप भी कुछ जानते हैं ?

जि०—हां कुछ थोड़ा सा।

ब्रा०—अच्छा, तो आप कुछ कहें।

जि०—भूदेव ! आप बतलाइये, मैं दस या बीस कितने लग्नों का प्रतिपादन करूँ ?

यह बात सुनकर ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो गया और उसके आश्चर्य का तो ठिकाना ही न रहा, जब उन्होंने शीघ्र गणना करके उन लग्नों को बतला दिया। इसके बाद गणिजी आकाश की ओर संकेत करके बोले—“विप्रवर ! देखो वह आकाश में दो हाथ का जो मेघ-खण्ड दिखाई पड़ता है, क्या आप बता सकते हैं कि उससे कितनी वर्षा होगी ?” ब्राह्मण बेचारा हतप्रभ हो गया। उसको निरुत्तर देख कर गणिजी ने बतलाया कि वह मेघखण्ड दो घड़ी के भीतर सम्पूर्ण गगनमण्डल में व्याप्त होकर इतनी जल-वृष्टि करेगा कि दो “भाजन” भर जायेंगे। सचमुच ऐसा हुआ भी। इसके परिणाम स्वरूप वह ब्राह्मण जब तक वहां रहा तब तक उनके चरणों की वन्दना करके ही भोजन करता था।

षट्कल्याणक प्ररूपणा और विधि-चैत्यों की स्थापना

जिनवल्लभगणि जैन-सिद्धान्त के कितने ममज्ञ थे और उसका प्रतिपादन वे कितने निर्भय होकर करते थे; इस बात का प्रमाण उनके द्वारा की गई छठे कल्याणक की प्ररूपणा में मिलता है। साधारणतया प्रत्येक तीर्थंकर के निम्नलिखित पाँच कल्याणक माने जाते हैं:—

१. देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में प्रवेश करना। २. जन्म ग्रहण करना। ३. संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या (दीक्षा) ग्रहण करना। ४. तपश्चर्या द्वारा केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करना। ५. निर्वाण (मुक्ति) प्राप्त करना।

भगवान् महावीर के विषय में यह विशेष माना जाता है कि पहिले उन्होंने देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में प्रवेश किया और वहाँ से उस गर्भ को इन्द्र-आदेश से हरिणगमेपी देव द्वारा महारानी त्रिशला के गर्भ में लाया गया। सूत्रग्रन्थों में जैसा कि आगे बतलाया गया है, इस गर्भापहरण को भी उपर्युक्त पाँच के समान ही एक कल्याणक माना गया है। जिनवल्लभगणि ने कल्पसूत्रादि के पाठ पर सम्यग् विमर्श कर इसको छठा कल्याणक प्रसिद्ध किया। अन्य पाँच कल्याणकों के उपलक्ष में तो उस समय चैत्यवासी लोग भी एक उत्सव मनाकर भगवान् की पूजा किया करते थे, परन्तु गर्भापहरण नाम का कल्याणक तत्कालीन जनता में विस्मृत हो

चुका था। इसलिये जब आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के आने पर जिनवल्लभगणि ने श्रावकों को कहा कि आज हमें श्रमण भगवान् महावीर का छठा कल्याणक मनाना है तो वे बड़े आश्चर्य में पड़ गये। परन्तु जब उनको आगमों के प्रमाण देकर समझाया गया तो वे लोग छठे कल्याणक को मनाने के लिये सहर्ष तैयार हुए। वहाँ के सभी देवालय चैत्यवासियों के थे; अतः प्रश्न यह था कि उसको कहाँ मनाया जाय? प्रथम तो जिनवल्लभगणि के नेतृत्व में सभी श्रावक एक चैत्यालय पर गये, परन्तु उनको देखते ही उस चैत्यालय की एक आर्या धरना देकर द्वार पर बैठ गई। उसका कहना था कि ऐसा काम कभी भी नहीं हुआ, गर्भापहार का उत्सव किसी ने नहीं मनाया, इसलिये मैं अपने जीते जी कदापि न होने दूंगी। बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब उसने अपना हठ नहीं छोड़ा तो जिनवल्लभगणि सारे श्रावकों को लेकर वापिस अपने स्थान पर लौट आये। अन्त में एक श्रावक के घर पर ही भगवान् की मूर्ति की स्थापना कर वह उत्सव सम्पन्न किया गया।

इस घटना से जिनवल्लभगणि के श्रावकों को अपनी उपासना के लिये एक स्वतंत्र देवगृह की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः उन्होंने गणिजी के सामने दो देवालय बनाने की इच्छा प्रकट की। गणिजी ने भी उनके इस पुण्य प्रयत्न को श्रावकों का आवश्यक कर्त्तव्य व आचार बतलाया और श्रावकों ने भी निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया। सत्कार्य में विघ्न होते ही हैं। इस कार्य में भी अकारण ही वसुदेव नामक सेठ विघ्नरूप बनकर उपस्थित हुआ और उसने इन देवगृह-निर्माण करने वाले श्रावकों को कापालिक तक कह डाला। एक दिन बाहर जाते हुए गणिजी को वह मिल गया, तो उन्होंने बड़े प्रेम पूर्वक उससे कहा कि 'भद्र वसुदेव! गर्व करना ठीक नहीं है। जो श्रावक देवालय बनवा रहे हैं उनमें कोई ऐसा भी होगा जो तुम्हें कभी बन्धन मुक्त करेगा।' उस समय तो वसुदेव सम्भवतः इन शब्दों के मर्म को न समझ सका। परन्तु कुछ दिनों बाद जब वह किसी अपराध के कारण राजा का कोपभाजन हुआ और उसे ऊंट के साथ बांध के ले जाने की आज्ञा हुई तो जिनवल्लभगणि के भक्त-श्रावक साधारण नाम के सेठ ने ही उसको छुड़ाया। अन्त में उक्त दोनों मन्दिर पूर्ण हो गये और वाचनाचार्य जिनवल्लभगणि ने पार्श्वनाथ और महावीर विधि-चैत्यों की स्थापना कर दी।

नवीन विधिचैत्यों के निर्माण का यही कारण देते हुये स्वयं आचार्य जिनवल्लभ स्वप्नीत अष्टसप्ततिका अपरनाम चित्रकूटीय वीर-चैत्य-प्रशस्ति पद्य ६६-६७ में लिखते हैं:—

क्षुद्राचीर्णकुबोधकुग्रहहते स्वं धार्मिकं तन्वति,
द्विष्टानिष्टनिकृष्टधृष्टमनसि क्लिष्टे जने भूयसि ।
ताद्ग्लोकपरिग्रहेण निविडद्वेषोपरागग्रह-
ग्रस्तैतद्गुरसात्कृतेषु च जिनावासेषु भूम्नाधुना ॥६६॥
तत्त्वद्वेषविशेष एष यदसन्मार्गं प्रवृत्तिः सदा,
सेयं धर्मविरोधबोधविधुतिर्यत्सत्पथे साम्यधीः ।
तस्मात्सत्पथमुद्विभावयिषुभिः कृत्यं कृतं स्यादिति
श्रीवीरास्पदभाप्तसम्मतमिदं ते कारयाञ्चक्रिरे ॥६७॥

आचार्य जिनवल्लभ के ही प्रपौत्र पट्टधर श्रीजिनपतिसूरि ने जिनवल्लभीय संघपट्टक की बृहद्वृत्ति में, ३३ वें पद्य की व्याख्या करते हुये इन्हीं दोनों पद्यों को उद्धृत किया है और उन पर व्याख्या लिखी है:—

व्याख्या:—श्रीवीरास्पदं-श्रीमहावीरजिनगृहं आप्तसम्मतं-सद्गुरुणामनुमतं इदं-प्रत्यक्षं ते प्रागुक्ताः श्रावकाः कारयाञ्चक्रिरे-विरचयाम्बभूवुः । अथ तत्तान्यदेवगृहसद्भावेऽपि तदबहुमानादपरविधापनेन तेषां भगवदाशातनाप्रसङ्गात् किमिति ते कारयामासुः ? इत्यत आह—क्षुद्राणां-लिङ्गिनां आचीर्णानि-सिद्धान्तोक्तमपि श्रीमहावीरस्य षष्ठं गर्भापहारकल्याणकं लज्जनीयत्वात् न कर्त्तव्यमित्यादिकाः आचरणाः ततश्च आचीर्णानि च कुबोधश्च कुग्रहश्च तैः हते-दूषिते स्वं धार्मिकं तन्वति-वयमेव धार्मिका इति सर्वत्र प्रख्यापयन्ति । द्विष्टं-मात्सर्यवत् अनिष्टं-अपायकरणप्रवणं निकृष्टं-अधर्मं धृष्टं-पापं कुर्वतोऽनुपजायमानं शङ्कं मनः-चित्तं यस्य स तथा तस्मिन्, किलष्टे-धार्मिकान्प्रति क्रूराध्यवसाये एवम्बोधे सम्प्रति भूयसि-प्रभूते जने-लोके सति । अथ यद्येवम्बोधो भूयात् लोकः सम्प्रति ततः किमायातमपरचैत्यविधापनस्य ? इत्यत आह—तादृग्लोकपरिग्रहेण-प्रागुक्तविशेषणविशिष्ट-जनाधीनत्वेन निविडद्वेषोऽप्यग्राहण-तीव्रगुणवत्मात्सर्योदग्रस्वमतानुरागाभिनिवेशेन ग्रस्ताः-वशीकृता ये एतद्गुरवः-प्रागभिहितनामाचार्यास्तत् सात्कृतेषु देयेर्थां सातितद्वितः, ततश्च गुरुदक्षिणीकरणेन तदायत्तीकृतेषु जिनावासेषु-चैत्यसन्नेषु भूमना-बाहुल्येन अधुना सञ्जातेषु सत्षु । ननु यदि सम्प्रति जिनालया दुष्टलोकपरिगृहीता लिङ्गिगुरुणामायत्ताश्च तत् किमेतावता द्वेषकारित्वात् आगमविरुद्धायायित्वाच्च तेषामेव पातकं भविष्यति, भवतां तु पूजावन्दनादिकं कुर्वाणानां धर्म एव ? इत्यत आह—तत्त्वद्वेषविशेषः सन्मार्गे मात्सर्यप्रकर्ष एषः । यद् असन्मार्गे-कुमार्गे प्रवृत्तिः-गमनपूजनव्यवहारः लिङ्गिपरिगृहीतो हि जिनालयादि सर्वोऽपि असन्मार्गः, ततश्च सत्पथमेव बुध्यमाना अपि यन्नित्यं असन्मार्गे प्रवर्तन्ते तन्नूनं तेषां सत्पथे द्वेषो मनसि विपरिवर्तते, कथमन्यथा तद्येव प्रवृत्तिः ? अतस्तत्र प्रवर्तमानानां धार्मिकाणामपि अविध्यनुमोदनमुग्धजनस्थिरीकरणादिना पापमेव । सदा ग्रहणात् कदाचिदपवादेन तथापि प्रवृत्तिरनुज्ञाता । सेयं-सैषा धर्मविरोधेन सद्धर्मविद्वेषेण बोधविधुतिः-सद्बोधनाशो यत् सत्पथे-सन्मार्गे कुपथेन साम्यधीः-तुल्यताबुद्धिः । सत्पथकुपथयोः ह्यालोकतमसोरिव महदन्तरम्, सत्पथपरिज्ञानेऽपि नित्यं कुपथप्रवृत्तौ तु तेषां सत्पथकुपथयोः साधारण्यं चेतसि निविशमानं लक्ष्यते । तथा च नूनं ते धर्मविद्वेषिणः सद्बोधविधुरा इति । यस्मादेव तस्मात् सत्पथ-विधिमागं उद्विभावयिषुभिः-विधिचैत्यविधापनेन प्रकाशयद्भिः अस्माभिः कृत्यं-कर्त्तव्यं कृतं-विहितं स्यात् । विधिमागमासेदुषां ह्येतदेव कर्त्तव्यं यत् कुपथपाथोधिपातुकभक्तिको द्विधीर्षया विधिमागस्य प्रकाशनं, न चासौ सम्प्रति विधिचैत्यनिर्माणं विना प्रकाशयितुं शक्यते । शेषचैत्यानां प्रायेण सर्वेषामपि लिङ्गिपरिग्रहेणाऽऽप्रातत्वात् इति हेतौ अस्माद्धेतोस्ते वीरास्पदमित्यादि पूर्वव्याख्यातम् । इत्यानुष्ङ्गकवृत्तिद्वयार्थः ।

अर्थात् भगवान् महावीर का गर्भापहार कल्याणक सिद्धान्त-सम्मत होने पर भी वेषधारी इसे लज्जनीय मानकर, त्याज्य मानते हैं और इस दिवस धार्मिक अनुष्ठान करने वाले श्रावकों को न केवल हेय दृष्टि से ही देखते हैं अपितु धर्मारोधन में बाधक भी होते हैं,

तथा चैत्यों में प्रवेश भी नहीं करने देते हैं। साथ ही कदाग्रह-ग्रस्त एवं मात्सर्य से पीडित होकर भी स्वयं को धार्मिक और अन्य को अधार्मिक कहते हैं। ऐसी अवस्था में शास्त्रसम्मत और कुपथसम्मत आयतन का भेद आवश्यक होने से विधिचैत्य का निर्माण शास्त्रयुक्त है। विधिमार्ग का प्रकाशन विधिचैत्य के निर्माण से ही सम्भव है। इसीलिये नवीन महावीर चैत्य का निर्माण श्रावकों ने किया है।

इसी चित्रकूटीय वीर चैत्य प्रशस्ति पद्य ७८ में आ० जिनवल्लभ ने इस नूतन निर्मा-
पित महावीर विधिचैत्य की प्रतिष्ठा का समय शक संवत् १०२८ अर्थात् विक्रम संवत् ११६३
दिया है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि वि० सं० ११५८ और ११६० के पूर्व ही
जिनवल्लभ गणि गुजरात से चलकर चित्तौड़ आये और वहां रहते हुये तत्रस्थ श्रेष्ठियों को
आयतन विधि (विधिपक्ष) का उपासक बनाया एवं उन्हें उपदेश देकर नूतन विधि-चैत्यों का
निर्माण करवाया। इसी बीच अर्थात् वि० सं० ११६० के आस-पास चित्तौड़ में ही महावीर
स्वामी के षट् कल्याणकों का सैद्धान्तिक रूप से प्रतिपादन किया होगा।

षड्यन्त्र का भाण्डाफोड़

जिनवल्लभ गणि के बढ़ते हुए प्रभाव को कुछ लोग सहन न कर सके और वे
उसको कम करने के लिये तरह-तरह के उपाय करने लगे। किन्हीं मुनिचन्द्राचार्य ने अपने
दो शिष्यों को जिनवल्लभजी के पास भेजा। प्रत्यक्ष में तो वे गणिजी से सिद्धान्तवाचना के
लिये आये थे परन्तु अप्रत्यक्ष में वे एक षड्यन्त्र का आयोजन कर रहे थे। जिनवल्लभगणि
शुद्ध मन से उन दोनों को सिद्धान्तों का अध्ययन कराते थे, परन्तु वे दोनों येन-केन-प्रकारेण
जिनवल्लभगणि के श्रद्धालु श्रावकों में उनके प्रति असद्भाव उत्पन्न करने में लगे हुए थे और
अपने सब कारनामों का समाचार अपने गुरु मुनिचन्द्राचार्य को लिखते रहते थे। एक बार
संयोगवश उनका लिखा पत्र जिनवल्लभजी के हाथ आगया और सारा भण्डाफोड़ हो गया।
सारा प्रसंग जानकर उनके मन में खेद उत्पन्न हुआ और उनके मुख से निकल पड़ा :—

ग्रासीज्जनः कृतघ्नः, क्रियमाणघ्नस्तु साम्प्रतं जातः।

इति मे मनसि वितर्को, भवितालोकः कथं भविता ॥१॥

[किये हुए उपकार को न मानने वाले कृतघ्न पुरुष पहिले भी थे किन्तु प्रत्यक्ष में
किये जाने वाले उपकार को न मानने वाले भी कृतघ्न इस समय देखे जाते हैं। मुझे रह-
रहकर मन में विचार आता है कि आगे होने वाले लोग कैसे होंगे ?]

जिनवल्लभगणि बड़े स्पष्टवादी थे और उनकी आलोचना बड़ी कटु होती थी।
सभी विद्वान् लोग बैठे हुए थे, बहुत से ब्राह्मण विद्वान् भी आये हुए थे। इस बार व्याख्यान
में निम्नलिखित गाथा आगई —

धिञ्जार्ईण गिहीणं, जाईणं (जई) पासत्थाईण वावि वट्ठुरां।

जस्स न मुञ्जइ दिट्ठी, अमूढविट्ठि तयं विति ॥१॥

इस गाथा की व्याख्या उ.होंने बड़े विस्तार के साथ की और इस प्रसंग में चैत्य-
वासियों के साथ-साथ ब्राह्मणों की भी तीव्र आलोचना की। ब्राह्मण लोग इस बात को सहन

न कर सके और क्रुद्ध होकर व्याख्यान से उठ गये। उन्होंने एकत्र होकर सोचा कि किसी प्रकार जिनवल्लभ के साथ विवाद करके इनको निष्प्रभ करना चाहिये। परन्तु जिनवल्लभ-गणि इससे तनिक भी भयभीत नहीं हुए और उन्होंने निम्नलिखित पद्य भोजपत्र पर लिख कर उनके पास भेजा:—

मर्यादाभङ्गभीतेरमृतमयतया धैर्यगाम्भीर्ययोगाद्,
न क्षुभ्यन्ते च तावन्नियमितसलिलाः सर्वदेते समुद्राः ।
श्राहो ! क्षोभं व्रजेयुः क्वचिदपि समये दैवयोगात् तदानां,
न क्षोणी नाद्रिचक्रं न च रविशशिनौ सर्वमेकाग्रं स्यात् ॥१॥

[अर्थ—अमृत के समान स्वच्छ जल से परिपूर्ण नियमित जल वाले ये समुद्र धीरता, गम्भीरता और मर्यादाभंग के डर से क्षोभ को प्राप्त नहीं होते हैं। यदि दैवयोग से ऐसे इन समुद्रों में कदाचित् क्षोभ उत्पन्न हो जाय तो पृथ्वी, पर्वत, सूर्य, चन्द्र तक का भी पतन चले। सारा जगत् जलमय ही हो जाय।]

यह श्लोक वृद्ध ब्राह्मण ने पढा और अन्य कुपित हुए ब्राह्मणों को समझा-बुझाकर शान्त किया।

प्रतिबोध और प्रतिष्ठाएँ

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनवल्लभगणि ने द्रोह, दर्प और विरोध के सामने कभी सिर नहीं झुकाया, साथ ही वे यह भी समझते थे कि मनुष्य कितना निरीह प्राणी है जो लोभादि का शिकार सहज ही में हो जाता है। ऐसे लोगों पर वे क्रोध नहीं करते थे, क्योंकि वे दया के पात्र होते हैं। इस प्रकार के लोग भी उनके पास आते थे, तो वे उनको आध्यात्मिक रोगी समझ कर उनकी चिकित्सा-विधान किया करते थे, शत इस बात की थी कि उस व्यक्ति में पूर्ण श्रद्धा होनी आवश्यक थी। एक बार गणदेव नाम का एक श्रावक उनके पास आया, उसे स्वर्ण(सोना) सिद्धि की आवश्यकता थी। उसने सुन रखा था कि जिनवल्लभ जी के पास स्वर्णसिद्धि है, वह उनके स्थान पर बारंबार आने लगा। गणिजी को उसका यह भाव ज्ञात हो गया। उन्होंने लिप्ता की लपट से दग्ध होते हुए उसके हृदय को परख लिया। अतः उन्होंने ऐसे उपदेशामृत की वृष्टि करना आरंभ किया कि वह सेठ स्वर्णार्थी से धर्मार्थी हो गया। तब गणिजी ने पूछा “भद्र ! कहो, क्या तुम्हें स्वर्णसिद्धि की आवश्यकता है ?” तो उसका यही उत्तर था कि “मैं तो श्राद्ध-धर्म का ही व्यवहार करना चाहता हूँ।” यही सेठ बाद में इनके लिखित “द्वादशकुलक” नामक उपदेशों को लेकर वाग्जड (वागड़) प्रदेश में गया और उनका प्रचार करके जिनवल्लभगणि की कीर्तिपताका फैलाई। इसके फलस्वरूप वहाँ की सारी जनता में गणिजी के प्रति अपार श्रद्धा और स्नेह का वातावरण बन गया।

इसके पश्चात् उनकी कीर्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई और वे अपने ज्ञान और चारित्र के लिये प्रसिद्ध होते गये। दूर-दूर स्थानों से श्रावक लोग उनको आमन्त्रित करने लगे। नागपुर

१. जिसका लाभ सूरिजी के पट्टघर, युगप्रधान पद विभूषित, दादा श्रीजिनदत्तासूरिजी को प्राप्त हुआ।

(नागोर) में जाकर उन्होंने नेमिनाथ विधिचैत्य की प्रतिष्ठा की^१ और तत्रस्थ संघ ने आदर पूर्वक सर्व सम्मति से इनको गुरु-रूप में स्वीकार किया। इधर नरवरपुर के श्रावकों के हृदय में भी यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि जिनवल्लभजी को अपने गुरु-रूप में स्वीकार करके उनके द्वारा देवमन्दिर और देवप्रतिमा की स्थापना करवायें। उनकी प्रार्थना स्वीकार हुई और जिनवल्लभगणिजी ने नरवरपुर जाकर उनको कृतार्थ किया। जिन-जिन मन्दिरों में उन्होंने प्रतिष्ठा करवाई, उनकी विशेषता यह थी कि उनमें यह स्पष्ट आदेश^२ लिखवा दिया गया था कि “वहां रात्रि के समय पूजा, अर्चना, स्त्री का प्रवेश तथा ऐसे ही अन्य कार्य जो चैत्य-वासियों के मन्दिरों में होते थे; नहीं होंगे।” इस प्रकार जिनवल्लभगणि का सन्देश स्पष्टतया सफल होने लगा था। अब इनको सन्तोष हो चला था कि उन्होंने अपने गुरु अभयदेवाचार्य को जो वचन दिया था, वे उसके अनुसार आचरण करने में पूर्ण सफल हो रहे हैं।

प्रवचनशक्ति

जिनवल्लभगणि की व्याख्यानपटुता तथा प्रवचनशक्ति की भी बहुत प्रसिद्धि हुई। एक बार विक्रमपुर^३ के आस-पास विहार कर रहे थे। मरुकोट्ट निवासियों ने उनके प्रवचन की प्रशंसा सुनकर उनको अपने नगर में बुलाना चाहा। बहुत मानपूर्वक वीनती करने पर जिनवल्लभगणि विक्रमपुर होते हुए मरुकोट्ट पधारे। वहाँ पहुंचने पर श्रावकों ने एकत्र होकर बड़े विनीत भाव से प्रार्थना की कि ‘हे भगवन्! हम लोग आपके श्रीमुख से भगवद् वचनों पर प्रवचन सुनना चाहते हैं।’ जिनवल्लभगणि ने कहा—‘श्रावकों की यह इच्छा सर्वथा उचित और श्लाघ्य है।’ अतः शुभ दिन से प्रवचन प्रारम्भ हुआ। अपने व्याख्यान के लिए उन्होंने श्रीधर्मदासगणि कृत उपदेशमाला की निम्नांकित गाथा को चुना:—

संवच्छरमुसभजिणो, छम्मासा वद्धमाणजिणचंदो ।

इय विहरिया निरसणा, जइज्ज एभ्रोवमाणेरं ॥३॥

इसी गाथा को लेकर वाचनाचार्य जिनवल्लभजी ने अनेक दृष्टान्त, उदाहरण आदि देते हुए, सिद्धान्त-प्ररूपण करते-करते छः महीने लगा दिये। इसको देख कर सभी लोग आश्चर्यचकित हुए और कहने लगे, ‘ये तो स्वयं भगवान् तीर्थकर मालूम पड़ते हैं, अन्यथा इस प्रकार की अमृतस्त्राविणी वाणी कहाँ मिल सकती है।’

समस्या-पूर्ति

व्याख्यान देने और शास्त्रार्थ करने में जो प्रसिद्धि गणिजी ने प्राप्त की, वही समस्या-त के क्षेत्र में भी उन्हें सहज सुलभ हुई। समस्या-पूर्ति में न केवल उनकी काव्य-प्रतिभा,

१. इसका उल्लेख तत्कालीन ही देवालय के निर्मापक सेठ धनदेव के पुत्र कवि पद्मानन्द अपने वैराग्य-शातक में भी करते हैं :—

“सिक्तः श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरोः शान्तोपदेशामृतैः, श्रीमन्नागपुरे चकार सदनं श्रीनेमिनाथस्य यः ।

श्रेष्ठी श्रीधनदेव इत्यभिषया ख्यातश्च तस्याङ्गजः, पद्मानन्दशतं व्यधत्त सुधियामानन्दसम्पत्तये ॥”

२. ये लेख चित्तौड़, नरवर, नागोर, मरुकोट्ट आदि के मन्दिरों में उत्कीर्ण करवाये गये थे।

३. जैसलमेर राज्यवर्ती बीकमपुर।

छन्दयोजना तथा प्रबन्धपटुता का परिचय मिलता है, अपितु उनकी प्रत्युत्पन्नमति एवं उक्ति-सौष्ठव का भी ज्ञान हमें होता है। एक समय की बात है वे कहीं जा रहे थे, एक विद्वान् उनको मार्ग में मिल गया। उसने उनके पाण्डित्य की प्रसिद्धि पहले से ही सुन रखी थी, अतः परीक्षा करने की दृष्टि से उसने निम्नलिखित समस्यापद उनके सामने रखा:—

“**कुरङ्गः किं भृङ्गो मरकतमणिः किं किमशनिः**”

इस पद को सुनते ही गणिजी ने इसकी पूर्ति तुरन्त ही इस प्रकार कर डाली:—

चिरं चित्तोद्याने चरसि च मुखाब्जं पिबसि च,
क्षणादेणाक्षीणां विरहविषमोहं हरसि च।

नृप! त्वं मानार्द्रि दलयसि च किं कौतुककरं,

कुरङ्गः किं भृङ्गो मरकतमणिः किं किमशनिः ॥१॥

इसको सुनकर वह विद्वान् अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बोला—मैंने आपके विषय में जैसा सुना था वैसा ही आपको पाया। ऐसा कह कर वह उनके चरणों पर गिर पड़ा।

ऐसी ही दूसरी घटना धारानगरी की है। उस समय धारा में श्रीनरवर्मा^१ नामक नृपति राज्य कर रहे थे। एक बार राजसभा में दो पण्डित बाहर से आये। उन्होंने पण्डितों के सामने यह समस्यापद रखा:—

“**कण्ठे कुठारः कमठे ठकारः**”

राजसभा के सभी पण्डितों ने अपनी बुद्धि के अनुसार इस समस्या की पूर्ति की, परन्तु उन दोनों विदेशी पण्डितों का चित्त प्रसन्न नहीं हुआ। तब किसी ने राजा से कहा—हे देव! पण्डितों के द्वारा की हुई समस्या-पूर्ति इन दोनों को पसन्द नहीं आई। तब राजा ने पूछा कि इन दोनों को सन्तुष्ट करने का कोई अन्य उपाय सम्भव है? इस पर राजा को उत्तर मिला कि, चित्रकूट (चित्तौड़) में जिनवल्लभगणि नाम के श्वेताम्बर साधु हैं जो सब विद्याओं में निपुण माने जाते हैं। तब राजा ने साधारण नाम के सेठ के पास एक पत्र भेजा, जिसमें उससे अनुरोध किया गया था कि वह अपने गुरु जिनवल्लभगणि के द्वारा इस समस्या की पूर्ति करवा कर शीघ्र ही भेजे। प्रतिक्रमण के बाद जब गणिजी को पत्र सुनाया गया तो उन्होंने तत्काल ही इस प्रकार उस समस्या को पूर्ण किया:—

रे रे नृपाः श्रीनरवर्मन्नृप-प्रसादनाय क्रियतां नताङ्गः।

कण्ठे कुठारः कमठे ठकारश्चक्रे यदश्वोग्रखुराग्रघातः ॥१॥

यह पूर्ति जब राजसभा में पहुंची तो न केवल विदेशी विद्वान् ही सन्तुष्ट हुए अपितु स्वयं राजा भी जिनवल्लभगणि का सदा के लिए भक्त हो गया। यही कारण है कि जब गणिजी कुछ काल उपरान्त धारानगरी पधारे तो राजा ने उनको तीन लाख मुद्रा या तीन ग्राम लेने के लिए बहुत कुछ आग्रह किया। परन्तु जब यह आग्रह उस अपरिग्रही और निस्पृह साधु ने स्वीकार नहीं किया तो राजा ने गणिजी की अनुमति से चित्रकूट में श्रावकों द्वारा निर्मापित दो विधिचैत्यों की पूजा के लिए यह धन दान में दे दिया। इसी बात का उल्लेख

१. देखें, ओझाजी कृत राजपूताने का इतिहास, पृ० १६५।

उनके गुरुभ्राता जिनशेखराचार्य के प्रशिष्य श्रीअभयदेवसूरि ने जयन्तविजय नामक काव्य (२० सं० १२७८) में भी किया है :—

तच्चिद्व्यो जिनवल्लभो प्रभुरभूद् विश्वम्भराभामिनी-

भास्वद्भालललामकोमलयशःस्तोमः शमाराभमूः ।

यस्य श्रीनरवर्मभूपतिशिरःकोटीररत्नाङ्कुर-

ज्योतिजलिजलेरपुण्यत सदा पादारविन्दद्वयी ॥१॥

कश्मीरानपहाय सन्ततहिमव्यासङ्गवैराग्यतः,

प्रोम्भीलद्गुणसम्पदा परिचिते यस्यास्यपङ्के रहे ।

सान्द्रामोदतरङ्गिता मगवती वाग्देवता तस्थुषी,

धारालामलभव्यकाध्यरचनाव्याजादनृत्यन्चिरम् ॥२॥^१

जिनवल्लभप्रणीत चित्रकूटीय वीरचैत्यप्रशस्ति (पद्य ६३) में केवल यह उल्लेख मिलता है कि—महावीर चैत्य की प्रतिष्ठा के समय चैत्य की अर्चा के लिए भूपति नरवर्मा ने प्रत्येक सूर्य संक्रान्ति पर पारुस्थ द्वय देने का चित्तौड़ के धर्मदाय विभाग को आदेश दिया है। अतः यह निश्चित है कि प्रतिष्ठा से सम्बन्धित इस प्रशस्ति रचना के अनन्तर अर्थात् वि० सं० ११६३ के पश्चात् ही आचार्य का नरवर्मा से साक्षात्कार और उसके द्वारा तीन लाख मुद्रा या तीन ग्रामों का चित्तौड़ के विधि-चैत्यों की अर्चा के लिये दान आदि की घटनायें घटित हुई हैं।

आचार्यपद और स्वर्गवास

जिनवल्लभगणि की प्रसिद्धि और प्रभाव को सुनकर श्रीदेवभद्राचार्य को अपने गुरु प्रसन्नचन्द्राचार्य का अन्तिम वाक्य स्मरण हो आया। उन्होंने सोचा कि मैं अभी तक अपने गुरुश्री के आदेश के अनुसार जिनवल्लभगणि को श्रीअभयदेवाचार्य का पट्टधर नहीं बना सका। ऐसा विचार कर उन्होंने जिनवल्लभगणि को पत्र लिखा। उस पत्र में लिखा था— “तुम शीघ्र ही अपने समुदाय सहित विहार कर चित्रकूट आओ, मैं भी वहीं पर आ रहा हूँ।” जिनवल्लभगणि उस समय नागपुर (नागौर) में थे, वहाँ से वे विहार करके चित्रकूट (चित्तौड़) पहुँचे। देवभद्राचार्य भी अपने समुदाय सहित वहाँ पधारे। देवभद्राचार्य उस समय के परम प्रतिष्ठित गीतार्थसाधु और विद्वान् थे। इनके द्वारा रचित महावीरचरियं, पासनाहचरियं, कहा-रयणकोस इत्यादि महाग्रन्थ आज भी जैन कथा-साहित्य में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। उन्होंने उस समय पं० सोमचन्द्र (जो कि आगे चल कर जिनवल्लभसूरि के पट्टधर युगप्रधान

१. इसी प्रकार का उल्लेख उ० जिनपाल ने चर्चरी टीका में भी किया है। यथा:—

“मिथ्यादृष्टयोऽन्यदर्शनस्थिता अपि श्रीनरवर्ममहाराजपण्डिताः पञ्चविंशतितमोऽयं तीर्थकर इति प्रतिपादयन्तो वन्दन्ते किङ्करभावस्थिता बहुमानातिशयप्रवर्तितसादरवचनाः।

(पृ० २४)

लब्धप्रसिद्धिभिरत्यन्तप्रसिद्धैः सुकविभिर्नरवर्ममहाराजसम्बन्धिभिः सादरं यो महितः।

(चर्चरी टीका पृ० ४)

श्रीजिनदत्तसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए) को भी बुलाया था, परन्तु वे किसी कारणवश न आ सके। आचार्य देवभद्रसूरि ने विधिवत् जिनवल्लभगण को श्रीअभयदेवसूरि के पट्ट पर स्थपित किया और उस समय से वे जिनवल्लभसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। परन्तु वे इस पद पर अधिक समय तक न रह सके। उन्होंने ज्योतिष-गणना के अनुसार अपनी आयु छह वर्ष और समझी थी, परन्तु वह महिने ही बीते थे कि एकाएक उनका शरीर अस्वस्थ हो गया। यह देखकर उनको आश्चर्य हुआ और उन्होंने पुनर्गणना की तो पता चला कि पहले कुछ अङ्क छूट गये थे जिसके कारण छ महिने के स्थान पर छ वर्ष आये। ऐसा निश्चय हो जाने पर उन महानुभाव ने अन्तिम आराधना की तैयारी धैर्य और सन्तोष के साथ कर दी। संघ एकत्र हुआ। सर्व जीवों के प्रति आपने मैत्रीभाव को प्रकट करते हुए अपराधों की क्षमा याचना की। अरि-हंत, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म का शरण अंगीकार किया और तीन दिन का अनशन किया। इस प्रकार तैयार होकर सं. ११६७ कार्तिक कृष्णा अमावस्या दीपावलि की मध्य-रात्रि में पञ्चपरमेष्ठि का स्मरण करते हुए इस असार-संसार को त्याग कर श्री जिनवल्लभ-सूरि ने चतुर्थ देवलोक की यात्रा की।

शिष्य-परम्परा

उपलब्ध प्रबन्ध ग्रन्थों के अनुसार आचार्य जिनवल्लभसूरि का स्वहस्तदीक्षित शिष्य-समुदाय अत्यधिक विशाल नहीं था। प्रबन्धों के अनुसार जिस समय गणि जिनवल्लभ आगमों का अभ्यास करने के लिये आ० अभयदेवसूरि के पास गये, उस समय उनके साथ जिनशेखर नाम का शिष्य था और उपसम्पदा ग्रहण करने पर भी यही साथ रहा। आचार्य अभयदेवसूरि के स्वर्गारोहण के पश्चात् अनुमानतः सं० ११४० के आसपास आप 'गुर्जर' प्रदेश छोड़कर मेदपाट की राजधानी चित्तकूट पधारे। उस समय सुमति गणि के अनुसार वे 'आत्मतृ-तीय' (अर्थात् दो शिष्य और तीसरे स्वयं) थे। इन दो शिष्यों में एक तो जिनशेखर निश्चित ही हैं और दूसरे संभवतः रामदेवगणि हैं। इन दो के अतिरिक्त अन्य भी आपके शिष्य हों, परन्तु इसका उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु शिष्यों की संख्या अत्यल्प होते हुए भी 'परम्परा' आप की अत्यन्त विस्तृत और विपुल थी। इनके शिष्य जिनशेखर की शिष्य-परम्परा को हों ले लीजिये—वही जिनशेखर जो आगे चलकर जिनशेखरसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए; जिनका विहार और निवास रुद्रपल्ली में अधिक हुआ और इस कारण जिनकी परम्परा रुद्रपल्लीशाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। रुद्रपल्ली शाखा एक खरतरगच्छ की ही शाखा थी जिसका अस्तित्व १७ वीं शती के अन्तिम चरण तक रहा है। इन जिनशेखरसूरि की रुद्रपल्ली परम्परा में जयन्त-विजय महाकाव्यकार अभयदेवसूरि, वीतरागस्तुति तथा ऋषभपंचसिका विवरणकार प्रभानंद-सूरि, कुमारपालप्रबन्ध, षड्दर्शन समुच्चय टीका आदि ग्रन्थों के टीकाकार सोमतिलकसूरि, सम्यक्त्व सप्तति के टीकाकार संघतिलकाचार्य, प्रश्नोत्तरमाला और दानोपदेश के टीकाकार देवेन्द्रसूरि, संदेशरासक के टीकाकार लक्ष्मीचंद्र, आचारदिनकर के प्रणेता वर्धमानसूरि, जिनपंजरस्तोत्र के रचयिता कमलप्रभाचार्य आदि अनेक धुरन्धर विद्वान् आचार्य हुए हैं। जिन्होंने साहित्य-सर्जन और संवर्धन में अपना अमूल्य योग दिया है।

१. परिचय के लिये आगे देखें, टीकाग्रन्थ और टीकाकार

यह एक परम्परा नहीं थी, यह तो एक शाखा थी। वस्तुतः आपकी जो पट्ट-परम्परा चली और जो आज तक अक्षुण्ण रूप से चलती आ रही है, उस परम्परा के प्रणेता हैं आपके पट्टधर युगप्रधान जिनदत्तसूरि^१।

श्वेताम्बर जैन समाज में गौतम गणधर के सहश प्रातःस्मरणीय आचार्यों में श्री जिनदत्तसूरि का नाम शताब्दियों से निरन्तर बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है। समाज में प्रथम दादाजी के नाम से ये अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। भारत के कोने-कोने में 'दादा-वाड़ी' के नाम से ख्यात समस्त स्थलों पर एवं यत्र-तत्र मन्दिरों में इनकी पादुकाएँ अथवा मूर्तियाँ विद्यमान हैं, जहाँ निष्ठा और विश्वास के साथ इनकी निरन्तर अर्चना होती है। शताब्दियों से इनके चमत्कार श्रद्धालु भक्त जनों को प्राप्त होते रहे हैं और आज भी होते हैं।

अम्बिका देवी प्रदत्त युगप्रधान पदधारक श्री जिनदत्तसूरि का वि० सं० ११३२ में धोलका निवासी क्षपणक भक्त वाछिग की धर्मपत्नी बाहड़देवी की कुक्षि से हुआ था। सं० ११४१ में धर्मदेवोपाध्याय ने इनको दीक्षा प्रदान कर सोमचन्द्र नाम रखा था। अशोकचन्द्राचार्य ने इनको बड़ी दीक्षा प्रदान की थी। हरिसिंहाचार्य से इन्होंने समस्त शास्त्रों की वाचना प्राप्त की थी। श्रीजिनवल्लभसूरि की आज्ञानुसार श्रीदेवभद्राचार्य ने सं० ११६६ वैशाख शुक्ला प्रतिपदा को चित्तौड़नगरी में बड़े महोत्सव के साथ इनको आचार्य पद देकर जिनवल्लभसूरि के पट्ट पर स्थापित किया था। आचार्य पद के समय सोमचन्द्र नाम परिवर्तित कर जिनदत्तसूरि नामकरण किया गया था।

आचार्यपदानन्तर, देवलोकस्थ हरिसिंहाचार्य के संकेतानुसार आचार्यश्री नागोर होकर अजमेर आये और अजमेर के नृपति अर्णोराज चौहान को प्रतिबोध दिया। जयदेवाचार्य, रमलविद्या के जानकार जिनप्रभाचार्य, विमलचन्द्र गणि, मन्त्रवादी जयदत्त, गुणचन्द्र आदि प्रमुख चैत्यवासी आचार्यों ने भी चैत्यवास परम्परा का त्याग कर उनके पास उपसम्पदा ग्रहण की थी। आचार्य द्वारा प्रतिबोधित श्रावकों में मेहर, भाखर, वासल, भरत, धनदेव, ठ० आशाधर, साधारण, रासल, देवधर आदि मुख्य थे। त्रिभुवनगिरि के महाराजा कुमारपाल को प्रतिबोध देकर इन्होंने अपना भक्त बनाया था। सवा लाख से अधिक व्यक्तियों को स्वकीय उपदेश से प्रतिबोध देकर, जैन बनाकर, ओसवंश में सैकड़ों नये गोत्र स्थापित किये थे। इनका विहारस्थल प्रमुखतया बागड और राजस्थान प्रदेश रहा। रुद्रपल्ली, अजमेर, त्रिभुवनगिरि, धारापुरी, गणपद्र आदि स्थानों में नवीन निर्मापित विधि-चैत्यों की प्रतिष्ठायें इन्हीं के करकमलों से हुई थीं। सं० १२११ आषाढ वदि ११, परम्परा की मान्यता के अनुसार आषाढ सुदि ११ को अजमेर में जिनदत्तसूरि का स्वर्गवास हुआ था।

जिनदत्तसूरि ने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनके रचित ग्रन्थ परिमाण में छोटे होते हुये भी अतिशय अर्थ-गाम्भीर्य और महनीय कवित्व से ओत-प्रोत हैं। इन रचनाओं में सूरिजी को अपूर्व विद्वत्ता, प्रकृष्ट प्रतिभा और विशिष्ट व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। इनके द्वारा प्रणीत निम्नांकित साहित्य प्राप्त है:-

१. विशेष परिचय के लिये देखें, युगप्रधान जिनदत्तसूरि एवं स्वामी सुरजनदास लिखित दादाजी और उनका साहित्य

- | | |
|---------------------------|-------------------------------------|
| १. चर्चरी | १३. श्रुतस्तव |
| २. उपदेश रसायन | १४. पार्श्वनाथ मन्त्रगर्भित स्तोत्र |
| ३. चैत्यवन्दन कुलक | १५. महाप्रभावक स्तोत्र |
| ४. कालस्वरूपकुलक | १६. अजित शान्ति स्तोत्र |
| ५. संदेह दोलावली | १७. चक्रेश्वरी स्तोत्र |
| ६. उपदेश कुलक | १८. योगिनी स्तोत्र |
| ७. उत्सूत्रपदोद्घाटन कुलक | १९. सर्वजिनस्तुति |
| ८. गणधरसाङ्ग शतक | २०. वीर स्तुति |
| ९. गणधरसप्ततिका | २१. विशिका |
| १०. 'तं जयउ' स्तोत्र | २२. पदव्यवस्था |
| ११. 'मयरहिय' स्तोत्र | २३. शान्तिपर्व विधि |
| १२. 'सिग्धमवहरउ' स्तोत्र | २४. आरात्रिक वृत्तानि |

श्रीजिनदत्तसूरि का शिष्य समुदाय भी अत्यन्त विशाल था। इनकी परम्परा नव शताब्दियों से चली आ रही है। इसमें अनेकों शाखाएं और प्रशाखाएं भी समय-समय पर फूटी हैं और उनमें एक नहीं सौकड़ों धुरन्धर आचार्य एवं उपाध्याय हुए हैं, जिनमें अलौकिक प्रतिभा, अद्वितीय विद्वत्ता तथा अनोखी तत्परता के साथ-साथ दृष्टि की वह उदारता एवं विशालता भी थी जो अनेकान्तवादी जैन-धर्म की प्रमुख देन है। यही कारण है कि इस गच्छ की परम्परा के मनीषियों ने जितना साहित्य-सर्जन किया है उसकी आज श्वेताम्बर समाज के समग्र गच्छों द्वारा निर्मित साहित्य-निधि से तुलना की जा सकती है। इन मनीषियों ने आगम, कर्म साहित्य, कथानुयोग, प्रकरण, व्याकरण, दर्शन, न्याय, लक्षण, छन्द, कोष, साहित्य, ज्योतिष, वैद्यक, नाट्य, नीति और कामशास्त्र आदि सभी विषयों पर अपनी लेखनी चलाकर, मौलिक एवं टीकाएं रचकर केवल जैन-साहित्य की ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य की अनुपमेय सेवा की है।^१ इन मनीषियों ने केवल साहित्य-सर्जन ही नहीं अपितु उस साहित्य के संरक्षण, संवर्धन तथा संप्रचलन में भी अत्यधिक योग दिया है जिसकी सृष्टि जैनेतर विद्वानों ने की थी। इस परम्परा के आचार्य प्रायः विद्वान् हुए हैं और इन्होंने अपनी 'करनी' और 'कथनी' को सदा ही पाण्डित्य की शान पर पैनी करके रखा है। यही कारण है कि इस गच्छ और परम्परा के अनेक विद्वानों की कृतियां और सिद्धियां अपने गच्छ के सीमित परिधि से ऊपर उठकर सर्वगच्छीय सन्मान प्राप्त कर सकी है।

इस जिनवल्लभीय खरतरगच्छ परम्परा के प्रमुख-प्रमुख आचार्य, उपदेशक और साहित्य-सर्जकों का शताब्दी के अनुसार उल्लेख करना यहां अप्रासंगिक न होगा:—

१३ वीं शती—युगप्रधान जिनदत्तसूरि, पंचवर्गपरिहार नाममाला के प्रणेता जिन-भद्रसूरि, रुद्रपल्ली की राजसभा में पद्मप्रभ को पराजित करने वाले मणिधारी जिनचन्द्रसूरि, षट्त्रिंशद्वादविजेता युगप्रवरामगम जिनपतिसूरि, सनत्कुमार महाकाव्य प्रणेता उ० जिनपाल

१. देखें म. विनयसागर द्वारा संपादित 'खरतर गच्छ साहित्य सूची' (मणिधारी अष्टम शताब्दी समारोह ग्रन्थ)।

गणधरसाहस्रशतक बृहद्वृत्तिकार सुमति गणि, षष्टिशतकप्रकरणकार नेमिचन्द्र भण्डारी आदि ।

१४ वीं शती—प्राकृत द्वयाश्रय टीकाकार पूर्णकलश गणि, अभयकुम्भर चरितकार उ० चन्द्रतिलक, प्रत्येकबुद्ध चरित्र, श्रावकधर्म विवरण रचयिता उ० लक्ष्मीतिलक, न्यायालङ्कार टिप्पण और संस्कृत द्वयाश्रय महाकाव्य के टीकाकार उपाध्याय अभयतिलक, जिनचन्द्रसूरि, प्रगट प्रभावी दादा जिनकुशलसूरि, मुहम्मद तुगलक प्रतिबोधक विविधतीर्थकल्प आदि अनेकों ग्रन्थों के निर्माता जिनप्रभसूरि, षडावश्यक बालावबोधकार तरुणप्रभाचार्य आदि ।

१५ वीं—गौतमरासकार उ० विनयप्रभ, अंजनासुन्दरी चरित्रकार साध्वी गुणसमृद्धि महत्तरा, विज्ञप्ति त्रिवेणी आदि ग्रन्थों के निर्मापक उ० जयसागर, पंच महाकाव्यों के प्रसिद्ध टीकाकार उ० चारित्रवर्धन, नेमिनाथ महाकाव्यकार कीर्तिरत्नसूरि, जैसलमेर, पाटण, खंभात आदि प्रसिद्ध भंडारों के संस्थापक तथा सहस्रों मूर्तियों के प्रतिष्ठापक आचार्य जिनभद्रसूरि आदि ।

१६ वीं—अनेक ग्रन्थों के बालावबोधकार उ० मेरुसुन्दर, आचाराङ्ग दीपिकाकार जिनहंससूरि, सूत्रकृताङ्ग दीपिकाकार उ० साधुरंग, महोपाध्याय सिद्धान्तरुचि, कमलसंयमोपाध्याय आदि ।

१७ वीं—सम्राट् अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि. उ० साधुकीर्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीकाकार महोपाध्याय पुण्यसागर, शतदलकमलकाव्यकार उ० सहजकीर्ति, कर्मचन्द्रवंशप्रबंधकार महो० जयसोम, अनेकग्रन्थ प्रणेता उ० गुणविनय, सहस्रदल कमलगर्भित अरजिनस्तव चित्रकाव्य के प्रणेता उ० श्रीवल्लभ, उ० सूरचन्द्र, अष्टलक्षी आदि सैकड़ों ग्रन्थों के प्रणेता उ० समयसुन्दर, चिन्तामणि नव्यन्याय के अध्येता वादी हर्षनन्दन, नैषधकाव्य टीकाकार जिनराजसूरि, प्रश्नोत्तरशतं आदि के प्रणेता उ० विनयसागर अदि ।

१८ वीं—प्रसिद्ध भाषा साहित्य निर्मापक जिनहर्ष, कल्पसूत्र उत्तराध्ययन सूत्रादि के टीकाकार लक्ष्मीवल्लभ, मस्तयोगी आनन्दधन, धर्मवर्द्धन, अध्यात्मज्ञानी उ० देवचन्द्र, गौतमीय महाकाव्य प्रणेता उ० रामविजय (रूपचन्द्र), आदि ।

१९ वीं—क्रियोद्धारक उ० क्षमाकल्याण, उ० शिवचन्द्र, चारित्रनंदी, ज्ञातासूत्र टीकाकार कस्तूरचन्द्र, मस्तयोगी ज्ञानसार आदि ।

२० वीं—योगी चिदानंदजी, आबू तीर्थोद्धारक ऋद्धिसागर, बालचन्द्राचार्य, स्याद्वादानुभवरत्नाकरादि प्रणेता चिदानंदजी बंबई के सर्वप्रथम उपदेशक मुनि मोहनलालजी, कृपाचन्द्रसूरि जिनऋद्धिसूरि, अप्रतिहतवादी जिनमणिसागरसूरि, कवीन्द्रसागरसूरि उ० लब्धिमुनि, बुद्धिमुनि, इतिहासविद् कान्तिसागर आदि । प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखक भी इसी परम्परा का है ।

इस वल्लभीय परंपरा में आज भी चार शाखाएं (बृहत्, लघुआचार्य, मंडोवरा, लखनउ) विद्यमान हैं और उनके श्रीपूज्य तथा आद्यपक्षीय पिप्पलक आदि के यतिगण भी विद्यमान हैं । साधुओं की भी तीन शाखाएं (क्षमाकल्याण, जिनकृपाचन्द्रसूरि, मोहनलालजी परंपरा) मौजूद हैं, जिनमें आज भी अनेक विद्वान् साधुगण एवं साध्वीगण हैं और साहित्योपासना कर रहे हैं ।

इस वल्लभीय खरतरगच्छ परम्परा के आचार्यों की साहित्यसेवा का उल्लेख करते हुए मुनि जिनविजयजी कथाकोष प्रकरण की प्रस्तावना में लिखते हैं: -

“इस खरतरगच्छ में उसके बाद अनेक बड़े बड़े प्रभावशाली आचार्य, बड़े बड़े विद्या-

उपाध्याय, बड़े बड़े प्रतिभाशाली पण्डित-मुनि और बड़े बड़े मान्त्रिक, तान्त्रिक, ज्योतिषविद्, वैद्यक विशारद आदि कर्मठ यतिजन हुये जिन्होंने अपने समाज की उन्नति, प्रगति और प्रतिष्ठा के बढ़ाने में बड़ा भारी योग दिया। सामाजिक और साम्प्रदायिक उत्कर्ष की प्रवृत्तिके सिवा, खरतरगच्छानुयायी विद्वानों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा देश्य भाषा के साहित्य को भी समृद्ध करने में असाधारण उद्यम किया और इसके फल स्वरूप आज हमें भाषा, साहित्य, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयों का निरूपण करने वाली छोटी बड़ी सैकड़ों-हजारों ग्रन्थकृतियां जैन भण्डारों में उपलब्ध हो रही हैं। खरतरगच्छीय विद्वानों की की हुई यह साहित्योपासना न केवल जैन-धर्म की ही दृष्टि से महत्त्व वाली है, अपितु समूचे भारतीय संस्कृति के गौरव की दृष्टि से भी उतनी ही महत्ता रखती है।

साहित्योपासना की दृष्टि से खरतरगच्छ के विद्वान् यति-मुनि बड़े उदारचेता मालूम देते हैं। इस विषय में उनकी उपासना का क्षेत्र केवल अपने धर्म या समुदाय की वाड़ से बद्ध नहीं है। वे जैन और जैनेतर वाड़-मय का समानभाव से अध्ययन-अध्यापन करते रहे हैं। व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, अलंकार, नाटक, ज्योतिष, वैद्यक और दर्शनशास्त्र तक के अगणित अजैन ग्रन्थों का उन्होंने बड़े आदर से आकलन किया है और इन विषयों के अनेक अजैन ग्रन्थों पर उन्होंने अपनी पाण्डित्यपूर्ण टीकायें आदि रचकर तत्तद् ग्रन्थों और विषयों के अध्ययन कार्य में बड़ा उपयुक्त साहित्य तैयार किया है। खरतरगच्छ के गौरव को प्रदर्शित करने वाली ये सब बातें हम यहां पर बहुत संक्षेप में, केवल सूत्र रूप से, उल्लिखित कर रहे हैं। विशेष रूप से लिखने का यहां अवकाश नहीं है।" [पृ० ३]

विधिपक्ष

आचार्य जिनवल्लभसूरि ने जैन- समाज को जो अमूल्य देन प्रदान की है वह विधिपक्ष के नाम से से अभिहित हुई है। सिद्धान्ततः यह विधिपक्ष आचार्य जिनेश्वरसूरि द्वारा प्ररूपित सुविहित पक्ष ही है। परन्तु यह एक नियम सा है कि कोई भी क्रान्ति प्रारम्भ में अवांछनीय या हेय के ध्वंस पर ही अधिक जोर देती है। अतएव श्री जिनेश्वरसूरि ने चैत्यवास के विरुद्ध जो आन्दोलन खड़ा किया उसमें वे केवल निषेध, खण्डन और विध्वंस के लिये जितना आवश्यक था उतना ही अपने शास्त्रसम्मत पक्ष को जनता के सम्मुख रख पाये थे; उनको इतना अवसर नहीं मिल पाया था कि वे कोई व्यावहारिक विधान उपस्थित कर पाते और न उस समय यह संभव ही था। इस कमी की पूर्ति जिनवल्लभसूरि ने की। उन्होंने अशास्त्रीय, अकर्त्तव्य और अवांछनीय का केवल खण्डन तथा विध्वंस करके ही संतोष न किया; उसके स्थान पर उन्होंने शास्त्रीय, कर्त्तव्य एवं वांछनीय का मण्डन तथा निर्माण करने का भी विशेष प्रयत्न किया। उन्होंने निषेध की अपेक्षा 'विधि' पर अधिक जोर दिया; सम्भवतः इसीलिए इनके पक्ष का नाम "विधिपक्ष" पड़ा। वस्तुतः क्रान्ति की सफलता कोरे विध्वंस में नहीं, सृजन में है। अवांछनीय की अवांछनीयता बतलाने या निषेध में नहीं, उसके स्थान पर वांछनीय के निर्माण या "विधि" में ही निहित है।

अतः उनके इस विधि-पक्ष का व्यावहारिक स्वरूप, जैसा कि पहले संकेत किया जा

चुका है, सर्वप्रथम हमें नये चैत्यों के निर्माण में मिलता है। इन चैत्यों में नये विधिपक्ष के विधान को लागू किया गया और उन अवाञ्छनीय तथा अशास्त्रीय कृत्यों का स्पष्ट निषेध कर दिया गया जिनके कारण 'चैत्यवासियों' का विधान बदनाम हो चुका था। जिन-मन्दिरों के सम्बन्ध में विधि-पक्ष का जो दृष्टिकोण था उसकी झलक उन चैत्यों में उत्कीर्ण श्लोकों से मिलती है जिनमें आचार्य जिनवल्लभसूरि ने प्रतिष्ठा करवाई थी। वे श्लोक निम्नलिखित हैं:—

अत्रोत्सूत्रजनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा,
साधनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि ।
जाति-ज्ञाति-कदाग्रहो न च न च श्राद्धेषु ताम्बूलमि-
त्याज्ञाऽत्रेयमनिश्रिते विधिकृते श्रीधीरचैत्यालये ।
इह न लगुडरासः स्त्रीप्रवेशो न रात्रौ,
न च निशि बलि-दीक्षा-स्नात्र-नृत्य-प्रतिष्ठाः ।
प्रविशति न च नारी गर्भगेहस्य मध्ये-
जुषितमफरणीयं गीतनृत्तादिकार्यम् ।^१

इन दो पद्यों में देवालयों की व्यवस्था का निम्नलिखित विधान किया गया है:—

१. अशास्त्रीय तथा उन्मार्ग में ले जाने वाली समस्त प्रवृत्तियों का त्याग होना चाहिये। भले ही वे 'उपचार' से भक्ति का साधन प्रतीत होती हों, किन्तु जो अन्ततः पतित करने वाली हैं, वे वर्ज्य हैं।

२. रात्रि में प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा, स्नात्र (प्रक्षालन), दीक्षा, बलि (देवतर्पण) आदि श्रेष्ठ कृत्य भी नहीं होने चाहिये; क्योंकि आपाततः ये हिंसा साध्य ही हैं।

३. चैत्यों में 'लगुडरास' (डांडिये, घूमर) अर्थात् रास, रासड़ा आदि जो नर-नारियों द्वारा किये जाते हैं वे भी नहीं होने चाहिये; क्योंकि ये बाह्य भक्ति के साधन होते हुए भी अन्त में केवल चक्षु और श्रोत्र के विकार मात्र ही रह जाते हैं, प्रभु भक्ति के साधन नहीं।

४. चैत्यों में वेश्याओं अथवा नारियों द्वारा नृत्य नहीं होना चाहिये; क्योंकि नारी का नृत्य और उसके अंगोपांगों की चेष्टाएँ आदि केवल विषय-वासना की ही साधक हैं न कि ब्रह्मचर्य की। अतः संयम के स्थान पर 'उत्तेजक' सामग्रियों का 'सात्विकता' की दृष्टि से परिहार होना ही चाहिये।

५. रात्रि के समय नारियों का चैत्य में प्रवेश निषिद्ध है; क्योंकि यह कभी पतन की 'भूमिका' ही सकती है।

६. ताम्बूल आदि भक्षण करके चैत्य में न जाना चाहिये; क्योंकि इससे नम्रता तथा लघुता का नाश, शृंगारिता का उद्दीपन और गर्व का पोषण होता है।

७. चैत्य केवल आत्मसाधना के आलम्बन है। अतः इनमें जातियों या ज्ञातियों का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है केवल भव्यता का। वह 'भव्य' चाहे किसी भी ज्ञाति या कुल का हो, उसको भक्ति करने का अधिकार है। उससे ब्रह्म वंचित नहीं होना चाहिये।

१. संघपट्टक टीका एवं चर्चरी टीका के आधार पर।

वस्तुतः आचार्यश्री का यह प्रतिपादन शास्त्रीय दृष्टि से कितना महत्वपूर्ण है। आचार्यश्री जाति से धर्म का अथवा आलम्बन-भूत साधनों का सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते हैं; वे तो केवल 'भव्यता' का प्रश्रय लेकर गुण-कर्म-विभाग ही स्वीकार करते हैं जो उनकी असीम निर्भीकता का परिचायक है।

इस प्रकार चैत्यों के साथ-साथ साधु-यतिजनों के लिये भी आचार्यश्री ने निम्न-लिखित आदेश दिये हैं जो संघपट्टक की ५ वीं कारिका से स्पष्ट हैं:—

यत्रौद्देशिकभोजनं जिनगृहे वासो वसत्यक्षमा,
स्वीकारोऽथंगृहस्थचैत्यसदनेष्वप्रक्षिताद्यासनम् ।
सावद्याचरितादरः श्रुतपथाऽवज्ञा गुणिर्द्वेषधीः,
धर्मः कर्महरोऽत्र चैत्पथि भवेन्मेरुस्तदाब्धौ तरेत् ।

इस कारिका के अनुसार जो आत्म-साधना की दृष्टि से गृहस्थावास का त्याग कर संयम धारण कर चुके हैं उन्हें अपनी आत्मा को पतन के मार्ग से बचाने के लिये निम्नलिखित कर्तव्यों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये; अन्यथा इसके अभाव में साधुता केवल लम्पटता और वेषाभासमात्र रह जाती है।

१. सर्वप्रथम अन्तरंग शुद्धि के लिये बाह्य शुद्धि की भी आवश्यकता है। अतः अशुद्ध और स्वयं के लिये निर्मित पिण्ड (भोजन) कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह षट्कार्यिक-मर्दन का कारण होने से, उससे अहिंसा महाव्रत का पूर्ण-रूपेण नाश सम्भव है।

२. चैत्यों में निवास और चैत्यों की सार-संभार की चिन्ता, मोह, ममता और माया-लोभ का केन्द्र होने से आत्मसाधना का घातक है और राजसीवृत्ति का पोषक तथा शिथिलाचार का संवर्धक है। अतः साधकों को इनसे निर्लिप्त ही रहना चाहिये।

३. द्रव्य सग्रह और उपासकों के प्रति ममत्व 'मठपतित्व' का सूचक है। द्रव्यसे समस्त अकथ्य कुकृत्यों तथा पापों के होने की भी पूर्ण सम्भावना रहती है और ममत्व से अवर्णनीय कुपथ भी ग्रहण किये जाते हैं। अतः उसका त्याग आवश्यक है।

४. गद्दी आदि का आसन और आस्रव-पूर्ण आचरणाओं का त्याग होना चाहिये; क्योंकि गद्दी आदि 'सुकुमारता' के प्रतिपादक होते-होते 'शैथिल्य' की चरम-सीमा तक पहुँचने वाले हैं और उनके साथ बंधी हुई आस्रव पूर्ण क्रियायें (यथा-अंगराग, तेल, इत्र का उपयोग, ताम्बूल-भक्षण आदि) कामोद्दीपक साधन होने से व्यक्ति को पतन की ओर लै जाने वाली हैं।

५. अपनी शिथिलता का प्रतिपादन करने के लिये सिद्धान्त-मार्ग की अवज्ञा या उन्मार्ग की प्ररूपणा नहीं करनी चाहिये और न अपनी स्वार्थान्धता के कारण सन्मार्ग-प्ररूपक, सुविहित, आत्मसाधक-मुनियों की अवहेलना एवं गुणिजनों के प्रति उपेक्षा ही करनी चाहिये, अन्यथा साधक अपनी वैयक्तिक-साधना को त्याग कर केवल मृग-मरीचि के पीछे ही भ्रमण करता रहेगा।

इस प्रकार अन्य भी अनेक छोटे-मोटे विधान 'विधिचैत्य' और 'साधुगणों' के लिये आचार्यश्री ने बनाये थे; वे यहां विस्तार के भय से नहीं दिये जा रहे हैं। जिन्हें इनका

विस्तृत अध्ययन करना हो, वे संघपट्टक, चर्चरी, उपदेशरसायन, सन्देहदोलावली आदि ग्रन्थों का अध्ययन करें।

वस्तुतः उस समय आचार्य जिनवल्लभ ने अविधिवाद का जड़-मूल से विनाश न किया होता और व्यावहारिक मर्यादायें स्थापित न की होतीं तो आज 'जैन-चैत्य' इस रूप में दृष्टिगत न होते ! होते तो केवल अन्य देवालयों की तरह भोगलिप्सा के साधक व व्यक्तिगत सम्पत्ति-रूप ही होते। जैन-साधु-यतिगण आज के रूप में न रहते और रहते तो मठपति या पण्डों के रूप में। अस्तु, वस्तुतः आज जो जैन-चैत्य और जैन-साधु यत्किञ्चित् प्रमाण में भी शास्त्र-सम्मत दिखाई पड़ते हैं वह आचार्य जिनवल्लभ की कृपा का ही फल है।

अध्याय : ३

विरोधियों के असफल प्रयत्न

आचार्य जिनवल्लभसूरि के व्यक्तित्व और असाधारण प्रतिभा से उत्पीडित परवर्ती कई लेखकों ने असंभाव्य कल्पनाएँ उत्पन्न करके उनके व्यक्तित्व को दूषित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार के अवांछनीय दुष्प्रयत्न करने वालों में (साहित्य में शोध करने पर) हमें सर्वप्रथम उपाध्याय धर्मसागरजी के दर्शन होते हैं। धर्मसागरजी जैसे उद्भट विद्वान् और मेधावी लेखक थे वैसे ही यदि शान्ति-प्रिय और शासनप्रेमी होते तो वे निश्चित ही महापुरुषों की कोटि में आते। पर शोक ! उनकी प्रतिभा और विद्वत्ता का उपयोग सत्यशोध एवं शान्ति-संग्रह में न होकर दुराग्रह, कलह-प्रेम और छिद्रान्वेषण में ही हुआ, जिसके कारण तत्कालीन गणनायकों (विजयदानसूरि तथा हीरविजयसूरि जैसी) को बारंबार बोल (आदेश पत्र) निकाल कर उन्हें गच्छ बहिष्कृत करना पड़ा और उनके उत्सूत्र-प्ररूपणामय ग्रन्थों को जलशरण करवाना पड़ा। अतः ऐसी अवस्था में धर्मसागरजी द्वारा कल्पित विकल्पों का उत्तर देना व्यर्थ ही होता, परन्तु श्री आनन्दसागरसूरि, विजयप्रेमसूरि तथा मानविजय जैसे लोगों ने धर्मसागरजी के चरण-चिह्नों पर आज पुनः चलना प्रारम्भ कर दिया है और आचार्य जिनवल्लभ की धवलकीर्ति पर कीचड़ उछालना प्रारम्भ कर दिया है। अतः उनके आक्षेपों पर पुनः विचार कर लेना और वस्तुस्थिति को विद्वानों के सामने स्पष्ट कर देना आवश्यक हो गया है। सागरजी ने जिनवल्लभगणि के विषय में जो विभिन्न विवाद उठाये हैं उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं:—

१. आचार्य अभयदेवसूरि के पास इन्होंने उपसम्पदा ग्रहण नहीं की थी अर्थात् वे उनके शिष्य नहीं बने थे। २. षट् कल्याणक की प्ररूपणा उनकी उत्सूत्र प्ररूपणा थी। ३. उत्सूत्र-प्ररूपणा के कारण वे संघ-बहिष्कृत थे। ४. पिण्डविशुद्धि आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थों के प्रणेता जिनवल्लभ नाम के दूसरे आचार्य थे। अतः अब इन चारों विकल्पों पर हम क्रमशः विचार करते हैं:—

उपसम्पदा

आचार्य जिनवल्लभसूरि के वृत्त को ऊपर देख चुके हैं। मूल में वे कूर्चपुरीय चैत्य-वासी जिनेश्वराचार्य के शिष्य थे और आचार्य अभयदेवसूरि से सैद्धान्तिक वाचना प्राप्त कर, सुविहित साधुओं के आचरण-व्यवहारों को समझकर तथा चैत्यवास त्यागकर अभयदेवाचार्य

के पास उन्होंने उपसम्पदा (पुनर्दीक्षा) ग्रहण की थी। धर्मसागरजी से चार सताब्दि पूर्व ही श्रीसुमतिगणि और जिनपालोपाध्याय (जिनका दीक्षा पर्याय ११२४ से १३११ तक है) ने अपने ग्रन्थों में यह बात स्पष्टतः स्वीकार की है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य और नवाङ्गटीकाकार श्री अभयदेवसूरि के सतीर्थ्य गुरुभ्राता श्री जिनचन्द्रसूरि ने सं० ११२५ में संवेगरंगशाला नामक कथाग्रन्थ की रचना पूर्ण की जिसकी पुष्पिका में उन्होंने लिखा है:—

“इति श्रीमज्जिमन्त्रसूरिकृता तद्विनेयश्रीप्रसन्नचन्द्रसूरिसमभ्यर्थितेन गुणचन्द्रगणि (ना) प्रतिसंस्कृता जिनवल्लभगणिना च संशोधिता, संवेगररङ्गशालाराधना सम्प्राप्ता।” अर्थात् श्री जिनचन्द्रसूरिप्रणीत उनके विनेय प्रसन्नचन्द्राचार्य की अभ्यर्थना से गुणचन्द्रगणि (जो आचार्य बनने पर देवभद्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए) द्वारा प्रतिसंस्कृत और गणि जिनवल्लभ द्वारा संशोधित संवेगरंगशाला पूर्ण हुई।^१ इससे स्पष्ट है कि यदि जिनवल्लभगणि उपसम्पदा ग्रहण कर आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य न बने होते तो अपने सतीर्थ्य अभयदेवसूरि एवं शिष्य प्रसन्नचन्द्राचार्य, हरिभद्रसूरि तथा वर्धमानसूरि आदि समर्थ विद्वानों के रहते हुए जिनचन्द्रसूरि एक चैत्यवासी गणि से अपनी कृति का संशोधन कभी नहीं करवाते।

सचमुच जिनवल्लभगणि यदि अभयदेवसूरि के शिष्य न बने होते और उत्सूत्रप्ररूपक होते तो उन्हें अभयदेवसूरि के स्वर्गारोहण के पश्चात् अभयदेवसूरि के पट्टधर होने का सौभाग्य कदापि प्राप्त न होता और वह भी तत्कालीन मच्छ के असाधारण प्रतिभाशाली और गीतार्थप्रवर आचार्य देवभद्रसूरि के हाथ, जिनके सम्बन्ध में सुमतिगणि कहते हैं:—

“सत्कर्त्तव्यायचर्चितचतुरगिरः श्रीप्रसन्नेन्दुसूरिः,
सूरिः भीवद्दं मामो यत्पतिहरिभद्रो मुनीद्देवभद्रः ।
इत्याद्याः सर्वविद्यासंवल्लभुवः सञ्चरिष्णूस्कोत्तिः
स्तम्भायन्तेऽधुनापि श्रुतचरणरणमारमजिनो यस्य सिष्याः ॥

आचार्य देवभद्रसूरि द्वारा पट्ट पर स्थापित करना स्पष्ट प्रतिपादन करता है कि गणिजी ने आचार्य अभयदेवसूरिजी के पास में उपसम्पदा ग्रहण करली थी। सं० ११७० में लिखित पट्टावलि में कवि पल्ह भी जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि का पट्टधर स्वीकार करते हैं:—

सुगुरु जिणोसरसूरि नियमि जिणचंदु सुसंजमि ।
अभयदेउ सव्वग नारी, जिणवल्लहु आगमि ॥

आचार्य जिनवल्लभसूरि के प्रपौत्र पट्टधर और उ० जिनपाल तथा सुमति गणि के गुरु, आचार्य जिनपतिसूरि स्वरचित संघपट्टक वृत्ति में लिखते हैं कि—चैत्यवास को चतुर्गति-भ्रमणदायक मानकर जिनवल्लभजी ने आचार्य अभयदेवसूरि के पास उपसम्पदा ग्रहण की थी:—

१. इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सं० ११२५ से पूर्व ही जिनवल्लभगणि चैत्यवास को परित्याग कर उपसम्पदा ग्रहणपूर्वक नवांगटीकाकार श्री अभयदेवसूरि के शिष्य बन चुके थे।

“सुगृहीतनामधेयः, प्रणतप्राणिसन्दोहवितीर्णशुभभागधेयः, चैत्यवासदोषभासनसिद्धान्ताकर्णनापासितकृतचतुर्गंतिसंसारयासजिनभवनवासः, सर्वज्ञशासनोत्तमाङ्गस्थाना (ङ्गा) दिनवाङ्गवृत्तिकृच्छ्रीमदभयदेवसूरिपादसरोजमूले गृहीतचारित्र्योपसम्पत्तिः, करुणासुधातरङ्गणीतरङ्गरङ्गत्स्वान्तः सुविधिमार्गावभासनप्रादुःषद्विशदकीर्तिकौमुदीनिषूदितदिक्सीमन्तिनीवदनध्वान्तः, ‘स्वस्योपसर्गमभ्युपगम्यापि विदुषा दुरध्वविध्वंसनमेवाधेयमिति’ सत्पुरुषपदवीमदवीयसीं विदधानः, समुज्जितसूरिभंगवान् श्रीजिनवल्लभसूरिः’

साथ ही इन्हीं जिनवल्लभ गणि रचित सूक्ष्मार्थविचारोद्धार (साद्धंशतक) प्रकरण पर बृहद्गच्छीय श्रीधनेश्वराचार्यं ने सं० ११७१ में टीका रचना की है। (स्मरण रहे कि जिनवल्लभसूरि का स्वर्गवास ११६७ में हुआ था, उसके चार वर्ष पश्चात् ही इसकी रचना हुई है, अर्थात् ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों समकालीन आचार्य हैं) उसमें १५२ वें पद्य की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं:—

“जिनवल्लभगणि” त्ति जिनवल्लभगणिनामकेन मतिमता सकलार्थसङ्ग्राहिस्थानाङ्गाद्यङ्गोपाङ्गपञ्चाशकादिशास्त्रवृत्तिविधानावाप्तावदातकीर्तिसुधाधवलितधरामण्डलानां श्रीमदभयदेवसूरीणां शिष्येण ‘लिखितं’ कर्मप्रकृत्यादिगम्भीरशास्त्रेभ्यः समुद्धृत्य हृद्घं जिनवल्लभगणिलिखितम् ।” अर्थात् साद्धंशतक के प्रणेता स्थानांगसूत्रादि अंगोपांग और पंचाशक आदि के व्याख्याकार आचार्य अभयदेवसूरि के ही शिष्य थे। इससे भी यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि अभयदेवसूरि इनको उपसम्पदा प्रदान कर अपना शिष्य घोषित कर चुके थे। केवल ये ही नहीं किन्तु धर्मसागरजी के ही पूर्वज तपगच्छीय श्रीहेमहंससूरि अपने कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

“नवाङ्गीवृत्तिकारक श्री अभयदेवसूरि जिणै थंभणं सेठी नदीनें उपकंडी श्रीपार्श्वनाथ तणी स्तुति करी, धरणेन्द्र सहायै श्रीपार्श्वविम्ब प्रत्यक्ष कीधौ, शरीरतणौ कोढ रोगं उपशमाव्यो, तच्छिष्य जिनवल्लभसूरि हुआ, चारित्रनिर्मल अनेकग्रन्थतणौ निर्माण कीधौ ।”

और इसी प्रकार तपागच्छीय आचार्य मुनिमुन्दरसूरि स्वप्रणीत त्रिदशतरङ्गिणी गुर्वावली में लिखते हैं:—

“व्याख्याताभयदेवसूरिरमलप्रज्ञो नवाङ्ग्यां पुन-
भंव्यानां जिनदत्तसूरिरवदाद् दीक्षां सहस्रस्य तु ।
प्रौढः श्रीजिनवल्लभो गुरुरभूद् ज्ञानादिलक्ष्म्या पुन-
ग्रन्थान् श्रीतिलकश्चकार विविधांश्चन्द्रप्रमाचार्यवत् ।”

इसी प्रकार राजगच्छ षट्पावली (विविधगच्छीय षट्पावली संग्रहः, संपा० आचार्यं जिनविजय, पृ० ६४) में लिखा है:—

“श्रीउद्योतनसूरयस्तदन्वये श्रीअभयदेवसूरयः, यैः स्वीयकुष्ठरोगस्फेटनाय ‘जयति-
हुअण०’ स्तवेन श्रीस्तम्भनकपार्श्वनाथं स्तुत्वा धरणेन्द्रः प्रकटीकृतः । रोगो निर्गमितः । तथा-
नवानामङ्गसूत्राणां वृत्तयः कृताः । यथा—

स्तुवेऽहमेवाभयदेवसूरि, विनिर्मिता येन नवाङ्गवृत्तिः ।

श्रुतश्रियं प्रोद्धहतो महर्षेर्बभौ नवाङ्गा वरवेदिकेव ॥४८॥

तच्छिष्याः 'पिण्डविशुद्ध्यादि'प्रकरणकारकाः श्रीजिनवल्लभसूरयः ।

इन अवतरणों से सिद्ध है कि गणिजी नवाङ्गीवृत्तिकारक आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य थे । उपसम्पदा के बिना शिष्यत्व स्वीकृत नहीं हो सकता तो पट्टधर आचार्यत्व की कल्पना कल्पना मात्र ही रह जाती है । अतः यह मानना ही होगा कि जिनवल्लभगणि ने चैत्यवास त्याग कर अभयदेवसूरि से उपसम्पदा ग्रहण की थी । इसीलिये युगप्रधान जिनदत्त-सूरि जैसे समर्थ विद्वान् स्थान-स्थान पर जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि का शिष्य कहते हैं ।

केवल यही नहीं, किन्तु आचार्य जिनवल्लभसूरि स्वयं स्वप्रणीत श्रावकव्रतकुलक में अपने को आचार्य अभयदेवसूरि का शिष्य कहते हैं:—

जुगपवरागमसिरि-अभयदेवमुणिवइपमाणसुभ्देण ।

जिणवल्लहगणिया गहि-वयाइ लिहियाइ मुद्धेण ॥ २८ ॥

इतना ही नहीं किन्तु अष्टसप्ततिका अपरनाम वीर-चैत्य-प्रशस्ति में तो वे अपने को अभयदेवसूरि के पास श्रुताध्ययन करने और उपसम्पदा ग्रहण करने का उल्लेख भी करते हैं:—

लोकाच्यकूचपुरगच्छमहाघनोत्थ-मुक्ताफलोज्ज्वः लजिनेश्वरसूरिशिष्यः ।

प्राप्तः प्रथां भुवि गणिजिनवल्लभोऽत्र, तस्योपसम्पदमवाप्य ततः श्रुतं च ॥५२॥

साथ ही स्वप्रणीत प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतं काव्य में जहां आचार्य अभयदेवसूरि को "के वा सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीमुश्रुता विश्रुताः" इस प्रश्न के उत्तर में "श्रीमदभयदेवाचार्याः" का उल्लेख किया है, उसकी अवचूरि करते हुए तपागच्छनायक श्रीसोमसुन्दरसूरि के शिष्य ने (सं० १४८६ में) 'सद्गुरवः' के स्थान पर 'मद्गुरवः' पाठ स्वीकार किया है:—

"श्री पाके इति वचानात् श्रीधानुः । ममाभयं ददातीति मदभयदस्तस्मिन् यो मदभयं ददातीति, तत्र मम मनः प्रीतियुक्तं भवतीत्यभिप्रायः ।" इस प्रकार आचार्य जिनवल्लभ के स्वयं रचित ग्रन्थों के प्रमाणों से सन्देह का अवकाश ही नहीं रह पाता ।

षट्कल्याणक

शास्त्रीय मतानुसार प्रत्येक तीर्थंकर के च्यवन,^१ जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और

१. इस प्रथम कल्याणक का नाम एक च्यवन ही नहीं, किन्तु अवतरण गर्भं गर्भाधान आदि अनेक नाम भी आते हैं । जैसे कि आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण बृहत्संग्रहणी की—“अवतरणजन्मनिक्खमण-णाणनिव्वाणं पंच कल्लाणे । तित्थयराणं नियमा, करति सेसेसु खित्तेसु ॥” गाथा में 'अवतरण' कहते हैं । आचार्य हरिभद्रसूरि पंचाशक की—'गम्भे जम्भे य तथा, णिक्खमणे चैव णाणनिव्वाणे । भुवगुक्खं जिणाणं, कल्लाणा होंति णायव्वा ॥३१॥' गाथा में गर्भकल्याणक और इसकी टीका में नवाङ्गीटीकाकार श्री अभयदेवसूरि इसे गर्भाधान कहते हैं ।

इन निदिष्ट प्रमाणों से निश्चित यह हुआ कि देवलोक से च्यवनमात्र को ही नहीं अपितु च्यवकर माता की कुक्षि में तीर्थंकर गर्भतया उत्पन्न होना कल्याणक है । इसी कारण शास्त्रकार स्थान-स्थान पर लिखते हैं कि "चुए चइत्ता गम्भं वक्कते" अर्थात् देवलोक से च्यवे और च्यवकर माता की कुक्षि में गर्भतया उत्पन्न हुए ।

निर्वाण ये पांच कल्याणक अनिवार्य रूप से होते ही हैं। परन्तु श्रमण भगवान् महावीर के इन पांच कल्याणकों के अतिरिक्त एक छठा कल्याणक और हुआ, वह था गर्भापहरण।^१ यह घटना इस प्रकार वर्णित मिलती है:—

श्रमण भगवान् महावीर का जीव दशम देवलोक से च्युत होकर आषाढ शुक्ला षष्ठी के दिवस माहणकुण्डग्राम के निवासी कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त विप्र की पत्नी जालन्धरा गोत्रीय देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। देवानन्दा ने चौदह स्वप्न देखे। ८२ दिवस पश्चात् देवलोकस्थ सौधर्मन्द्र अवधिज्ञान से भगवान् को देवानन्दा के गर्भ में स्थित देखकर प्रसन्न होता है और श्रद्धापूर्वक 'नमुत्थुण' आदि से स्तुति करता है। पश्चात् वह विचार करता है कि "तीर्थकर का जीव किसी अशुभ कर्मोदय के कारण श्रेष्ठ क्षत्रियवंशों का त्यागकर विप्रादि कुलों में उत्पन्न हो सकता है, परन्तु उस निम्न कुल की माता की योनि से उनका जन्म कदापि नहीं होता। मैं इन्द्र हूँ। भगवान् का भक्त हूँ। अतः मेरा जीताचार (कर्त्तव्य) है कि मैं गर्भसंक्रमण (अपहरण कर अन्य स्थान पर प्रक्षेप) करवाऊँ।" इस प्रकार विचार कर अपना आज्ञाकारी हरिणगमेषी नामक देव को बुलाता है और आदेश देता है कि "तुम जाकर देवानन्दा के गर्भ में स्थित भगवान् के जीव को लेकर क्षत्रियकुण्ड के अधिपति ज्ञातवंशीय काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थ नरेश की पत्नी वाशिष्ठ गोत्रीय त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में स्थापित करो और त्रिशला की कुक्षि में स्थित पुत्री के गर्भ को देवानन्दा ब्राह्मणी के उदर में स्थापित करो।" आदेश प्राप्त कर हरिणगमेषी देव आता है और आश्विन कृष्णा त्रयोदशी की मध्यरात्रि में यह कार्य पूर्ण करता है। इसी रात्रि में त्रिशला क्षत्रियाणी १४ स्वप्न देखती है। राजा सिद्धार्थ से निवेदन करती है। नृपति सिद्धार्थ भी स्वप्नलक्षण पाठकों को बुलाकर स्वप्न फल पूछता है। तब मालूम होता है कि तीर्थकर अथवा चक्रवर्ती का जीव त्रिशला की रत्नमयी कुक्षि से जन्म ग्रहण करेगा। उसी दिवस से धनद के आज्ञाकारी सब प्रकार के वस्तुओं की सिद्धार्थ के घर में वृद्धि करते हैं।

इसी गर्भापहरण को मंगलस्वरूप मानकर सब ही शास्त्रकारों ने इसे कल्याणक के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु अपनी आभिनिवेशिक मान्यता के वशीभूत होकर, शास्त्रीय मान्यता एवं परंपरा का त्याग कर, कई इस कल्याणक को कल्याणक के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता के अनुसार इसमें निम्नलिखित बाधाएँ हैं:—

१. जैसे च्यवन शब्द च्यवंकर माता की कुक्षि में गर्भतया उत्पन्न होने का द्योतक है वैसे ही गर्भापहार शब्द हरण मात्र का नहीं, किन्तु देवानन्दा की कुक्षि से अपहरण द्वारा त्रिशला की कुक्षि में स्थापन करने रूप अर्थ का भी द्योतक है। यही बात तपागच्छीय उपाध्याय जयविजयजी कल्पदीपिका में लिखते हैं:— "गर्भस्य-श्रीवद्धं मानरूपस्य हरणं-त्रिशलाकुक्षी सङ्क्रामणं-गर्भहरणं"। इस तरह त्रिशला की कुक्षि में गर्भाधानरूप गर्भहरण-गर्भापहार को कल्याणक न मानना किसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं। यदि उपरोक्त व्याख्योपेत गर्भापहार कल्याणक मानने योग्य न हो तो कल्पसूत्रोक्त "एण चउदस महासुमिणे सव्वा पासेइ तित्थयरमाया" इस नियमानुसार और पंचाशकोक्त कल्याणक के "कल्लाणफला य जीवाणं" इस लक्षण से युक्त गर्भाधान कल्याणक सूचक १४ स्वप्न त्रिशला माता न देखती।

१. गर्भहरण अतिनिन्द्य कार्य होने से आश्चर्य (अच्छेरा) है।^१ जो आश्चर्य हो वह मंगलस्वरूप कल्याणक नहीं माना जा सकता। २. शास्त्रों में किसी भी स्थल पर श्रमण भगवान् महावीर के छ कल्याणकों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। यदि कहीं उल्लेख है भी तो वह कल्याणक शब्द से अभिहित नहीं है किन्तु वस्तु या स्थान शब्द से कथित है। ३. पञ्चाशक शास्त्र में भूतानागत और भविष्यद् रूप त्रिकालभावि चौबीस-चौबीस तीर्थकरों के कल्याणकों की संख्या-परिमाण सूचन करने में महावीर के पाँच कल्याणक माने जाते हैं। टीकाकार अभयदेवसूरि ने भी पाँच ही लिखे हैं। यदि गर्भापहार छठा होता तो उसकी संख्या क्यों नहीं देते। ४. यदि 'पंच हत्थुतरे होत्था साइणा परिनिव्वुए' आदि से गर्भहरण को भी कल्याणक स्वीकार करते हो तो जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार 'पंच उत्तरासाढे अभीई छट्ठे होत्था' से ऋषभदेव का राज्याभिषेक नामक कल्याणक भी मानना चाहिये। ५. शास्त्रों में तथा किसी भी आचार्य द्वारा इसका उल्लेख न होने से यह प्रतिपादन अशास्त्रीय है, अतः उत्सूत्र प्ररूपणा है और इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम जिनवल्लभ गणि ने ही किया है।

इन विकल्पों का समाधान (उत्तर) क्रमशः इस प्रकार है:—

१. यदि हम आश्चर्य को कल्याणक के रूप में स्वीकार न करें तो हमारे सम्मुख कई बाधाएँ उपस्थित होती हैं। शास्त्रों में जहाँ दश आश्चर्यों (अच्छेरों) का वर्णन है, उसमें १९ वें तीर्थकर मल्लिनाथ का स्त्री रूप में होना भी एक आश्चर्य माना गया है। यदि नारी का तीर्थकर होना आश्चर्य के अंतर्गत आता है तो सहज ही प्रश्न उठते हैं कि, क्या उस नारी का तीर्थकरत्व मंगलदायक हो सकता है? क्या उस नारी के जीवन की अमूल्य घटनाएँ कल्याणक के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं? क्या उसकी तीर्थकर उपाधि कल्याणकारक हो सकती है? क्या उसका शासन चतुर्विध संघ के लिये कल्याण-कारक हो सकता है? यदि भगवान् महावीर का गर्भापहारण कल्याणक-स्वरूप नहीं हो सकता तो नारी का तीर्थकरत्व कैसे कल्याणक-स्वरूप हो सकता है?

इसी प्रकार दूसरा आश्चर्य उत्कृष्ट देहधारी १०८ मुनियों के साथ भगवान् ऋषभदेव का सिद्धिगमन (निर्वाण प्राप्त करना) है। ५०० धनुष परिमाण की देह उत्कृष्ट देह मानी जाती है। इस प्रकार के उत्कृष्ट देहधारी जीव एक समय में एक साथ दो ही मुक्ति जा सकते हैं, यह शास्त्रीय नियम है। दो से अधिक एक समय में मुक्ति नहीं जा सकते, इस शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन होने से इसे आश्चर्य मानते हैं, तो क्या हम इसको आश्चर्य मानकर मंगलदायक कल्याणक स्वीकार नहीं कर सकते? यदि हम इसे कल्याणक स्वीकार

१. "नीचैर्गोत्रविपाकरूपस्य अतिनिन्द्यस्य आश्चर्यरूपस्य गर्भापहारस्यापि कल्याणकत्वकथनं अनुचितम्"

कल्पसुबोधिका पृ. ९

इसी पर टिप्पण करते हुए सागरानंदसूरि लिखते हैं —

'गर्भापहारोऽशुभः । अकल्याणक भूतस्य गर्भापहारस्य' कल्पकिरणवली ।

करोषि श्रीमहावीरे, कथं कल्याणकानि षट् ।

यत्तेष्वेकमकल्याणं, विप्रनीचकुलत्वतः ॥१॥ (गुरुतत्त्वप्रदीप)

नहीं करते हैं तो प्रभु ऋषभदेव का निर्वाण प्राप्त करना उनके स्वयं के लिये मंगलस्वरूप, आनन्दधाम-प्राप्तिरूप कदापि नहीं हो सकता तथा उनका निर्वाण कल्याणक, समाज के लिये श्रेयस्कर भी नहीं हो सकता। परन्तु आश्चर्य है कि हम इसे मंगलस्वरूप कल्याणक अंगीकार करते हैं—करना ही पड़ता है। अतः विचार करना चाहिये कि एक आश्चर्य को तो हम कल्याणक नहीं मानते और दो आश्चर्यों को कल्याणक रूप में स्वीकार करते हैं, क्या यह नीति उचित कही जा सकती है ?

यदि गर्भापहार मंगलमय न होता तो आचार्य हेमचन्द्रसूरि अपने त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र कि दशमपर्व, द्वितीय सर्ग में इसे मंगलस्वरूप कदापि स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं:

देवानन्दागर्भगते प्रभो तस्य द्विजन्मनः ।
 बभूव महती ऋद्धिः कल्पद्रुम इवागते ॥ ६ ॥
 तस्या गर्भस्थिते नाथे, द्व्यशीतिदिवसात्यये ।
 सौधमंकल्पाधिपतेः सिंहासनमकम्पत ॥ ७ ॥
 ज्ञात्वा चावधिना देवा-नन्दागर्भगतं प्रभुम् ।
 सिंहासनात् समुत्थाय, शक्रो नत्वेत्यचिन्तयत् ॥ ८ ॥
 × × ×
 कृष्णाश्विनत्रयोदश्यां, चन्द्रे हस्तोत्तरास्थिते ।
 स देवस्त्रिशलागर्भे, स्वामिनं निभृतं न्यधात् ॥ २६ ॥
 गजो वृषो हरिः साभिषेकश्रीः स्रक् शशी रविः ।
 महाध्वजः पूरणकुम्भः पद्मसरः सरित्पतिः ॥ ३० ॥
 विमानं रत्नपुञ्जश्च, निर्धूमोग्निरिति क्रमात् ।
 ददर्श स्वामिनी स्वप्नान्, मुखे प्रविशतस्तदा ॥ ३१ ॥
 इन्द्रैः पत्या च तज्ज्ञश्च, तीर्थकृज्जन्मलक्षणे ।
 उदीरिते स्वप्नफले त्रिशलादेव्यमोदत ॥ ३२ ॥
 गर्भस्थेऽथ प्रभो शक्राऽज्ञया जृम्भकनाकिनः ।
 भूयो भूयो निधानानि, न्यधुः सिद्धान्तवेशमनि ॥ ३३ ॥

१. इस पद्य में कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि स्पष्ट कहते हैं कि देवानन्दा की कुक्षि में महावीर देव के अवतरित होने के बयांसी दिवस बीत जाने पर सौधमन्द्र का आसन कपित हुआ। अतः शान्तिचन्द्रीय जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवृत्ति के—“तदेव हि कल्याणकं यत्रासनप्रकम्पप्रयुक्तावधयः सकलसुरासुरेन्द्राः जीतमिति विधित्सवो युगपत्सम्भ्रमा उपतिष्ठन्ते” इस कथनानुसार जिसमें इन्द्रादि देवताओं का आना प्रभृति न हुआ ही उसे कल्याणक न मानने वालों को देवानन्दा की कुक्षि में वीरविभु के अवतरण को, जिसे कि हरिभद्रसूरि व अभयदेवसूरि जैसे प्रामाणिक आचार्यों ने पंचाशक प्रकरण मूल व वृत्ति में स्पष्टतया कल्याणक माना है, इसे कल्याणक नहीं मानना चाहिये।

यदि हम देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होना कल्याणक मानते हैं और त्रिशला की कुक्षि में संक्रमण होना कल्याणक नहीं मानते हैं तो यह कितना अयुक्त होगा ? जहां हरण को अतिनिन्द्य कार्य स्वीकार करते हैं वहां त्रिप्र कुल में उत्पन्न होना भी नीच गोत्र कर्मविपाक के उदय से मानते हैं—दोनों ही जघन्यता की कोटि में आते हैं। उस अवस्था में एक का अंगीकार और एक का त्याग कदापि युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात, च्यवन के पश्चात् जो देवोचित कर्तव्य होते हैं वे हरण के पश्चात् ही हुए हैं, ऐसा शास्त्रों में उल्लेख मिलता है। तथा गर्भापहरण यदि कल्याणक न होता तो आचार्य भद्रबाहुस्वामी जैसे इस अतिनिन्द्य कार्य का शास्त्रों में विस्तार से वर्णन कदापि नहीं करते। उनका यह प्रतिपादन हमें एक नूतन दृष्टि प्रदान करता है कि प्रभु महावीर के कल्याणकों की संख्या हमें ५ ही स्वीकार हो तो देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होने से न मान कर गर्भहरण के बाद से ही संख्या मानें।

२. शास्त्रीय उल्लेखों में हम किसी गच्छ के अथवा आचार्यों के उल्लेख न देकर कतिपय शास्त्रीय उल्लेखों पर ही विचार करते हैं:—

जैनागमों में प्रथम अंग श्री आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध, भावनाध्यायन में में वीरचरित्त का वर्णन करते हुए गणधरदेव लिखते हैं:—

“ते णं काले णं ते णं समये णं समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे यावि होत्था, तं जहा—१. हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, २. हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, ३. हत्थुत्तराहिं जाए, ४. हत्थुत्तराहिं सव्वतो सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५. हत्थुत्तराहिं कसिणे पडिपुण्णे निव्वाघाए निरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरणाण-दंसणे समुप्पन्ने, ६. साइणा भगवं परिनिव्वुए।”

इसकी टीका करते हुए व्याख्याकार आचार्य शीलाङ्कसूरि ने भी^२ छ ही कल्याणक स्वीकार किये हैं। इसी प्रकार कल्पसूत्र के प्रारम्भ में भी पाठ आता है:—

१. इस पाठ का अर्थ नागपुरीय तपागच्छ के मुख्य प्रतिष्ठापक आचार्य पार्श्वचन्द्रसूरि इस प्रकार लिखते हैं:—

“श्रीमहावीर तेहना पंच कल्याणिक हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहिं हुआ। जिण उत्तरा नक्षत्र आगलि हस्त छे ते हस्तोत्तरा कहिये, एतले उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमाहिं पंच कल्याणिक हुआ। ते कल्याणिक केहा ? कहे छे—हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहिं स्वामी चव्या, चव्तीने गर्भि ऊपना १, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहिं गर्भ थकी बीजे गर्भि संहर्या २, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहिं स्वामी जन्म पाम्या ३, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहिं × × × अणगारणणे प्रव्रजित हुआ एतावता संयम आदर्यो ४, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहिं × × × स्वामी केवली हुआ ५, साइणा स्वाति नक्षत्रे भगवंत श्रीमहावीर निर्वाण पदिइ पहुंता ६।

(आचारांग सूत्र बाबू प्रकाशन पत्र २३६ व २४२)

२. पञ्चसु स्थानेषु गर्भाधान-संहरण-जन्म-दीक्षा-ज्ञानोत्पत्तिरूपेषु संवृत्ता, अतः पञ्च हस्तोत्तरो भगवान-भूदिति” इस टीका पाठ से गर्भाधानादि जिन पांच स्थानों में हस्तोत्तरा नक्षत्र होने को कहा गया है, उन पांच स्थानों में से चार को कल्याणक और एक गर्भसंहरण को अकल्याणक नहीं बताया, अतः छः कल्याणक ही मानना टीकाकार के अभिप्राय से युक्तियुक्त है।

“ते णं काले णं ते णं समये णं समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था, तं जहा-
 १. हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, २. हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, ३.
 हत्थुत्तराहिं जाए, ४. हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५. हत्थुत्तराहिं
 अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने, ६. साइणा
 परिनिव्वुए भयवं ।”

इसकी भी टीका करते हुए कुछ तपगच्छीय आचार्यों को छोड़ कर प्रायः सब ही
 टीका व टब्बार्थकारों ने छ ही कल्याणक स्वीकार किये हैं ।

स्थानाङ्ग सूत्र के पंचम स्थानक में पद्मप्रभु, सुविधि, शीतल आदि महावीर पर्यन्त
 के चौदह तीर्थंकरों के एक-एक नक्षत्र में पांच-पांच कल्याणकों की गणना करते हुए कुल ७०
 कल्याणकों का उल्लेख दिखाया है, उसमें भी वीर के पांच कल्याणक हस्तोत्तरा नक्षत्र में हुए:—

“समणे भगवं महावीरे पंच हत्थुत्तरे होत्था, तं जहा—हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं
 वक्कंते, हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, हत्थुत्तराहिं जाए, हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता
 जाव पव्वइए, हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने ।”

इसकी टीका करते हुए आचार्य अभयदेवसूरि लिखते हैं:—

“समणे, इत्यादि । हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तोत्तरा, हस्तो वा उत्तरो यासां
 हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्यः पञ्चसु च्यवनगर्भहरणादिषु हस्तोत्तरा यस्य स तथा, गर्भाद्-गर्भ-
 स्थानात् ‘गब्भं’ ति गर्भे-गर्भस्थानान्तरे संहृतः-नीतः । निर्वृतिस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्तिकामावा-
 स्यायाम् ।”

इसमें तेरह तीर्थंकरों के पाँच-पाँच कल्याणक एक-एक नक्षत्र में होने से कुल मिलाकर
 ६५ होते हैं और उसमें महावीर के गर्भहरणसहित केवलज्ञान प्राप्ति तक ५ कल्याणक हस्तोत्तरा
 नक्षत्र में हुए, स्वीकार कर ७० की संख्या पूर्ण करते हैं । इसमें निर्वाण सम्मिलित नहीं है ।
 क्या यहाँ निर्वाण को कल्याणक न माना जाय ? और यदि उसे मानते हैं तो ६ हो ही जाते हैं ।
 इसीलिये आचार्य अभयदेवसूरि को विशिष्ट रूप से लिखना पड़ा कि ‘निर्वृतिस्तु स्वातिनक्षत्रे
 कार्तिकामावास्यायाम्’ इति । अतः यह स्पष्ट है कि शास्त्रकारों ने गर्भहरण को कल्याणक के
 रूप में स्वीकार किया है । यदि गर्भपरिवर्तन अतिनिन्द्य और अशुभ होता तो इसे मङ्गलमय
 कल्याणकों की गणना में ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं थी । इसमें ग्रहण करना सूचित
 करता है कि गर्भपरिवर्तन भी मङ्गलस्वरूप कल्याणक है ।

यहाँ पर यदि यह आक्षेप किया जाय कि इसमें कहीं कल्याणक शब्द की गन्ध तक
 प्राप्त नहीं होती, अपितु इसमें तो केवल इतना ही कहा गया है कि इस नक्षत्र में ये वस्तुएँ
 हुईं, तो यह केवल मतिविभ्रम है, विद्वत्तापूर्ण विचार नहीं । यहाँ पर वस्तु ही कल्याणक का
 पर्यायवाची शब्द है । इसीसे कल्याणक ग्रहण किया जाता है । इस एकार्थक को हम यदि
 स्वीकार न करें तो हमारे सामने अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ खड़ी हो जायेंगी । कुछ
 स्थलों को छोड़कर हमें कहीं भी और किसी भी शास्त्र में कल्याणक शब्द पृथक् रूप से प्राप्त
 नहीं होता, हमें केवल लक्षणा से ही ग्रहण करना होता है । ऐसी अवस्था में क्या हम च्यवन
 से निर्वाण-पदप्राप्ति पर्यन्त की वस्तुओं को कल्याणक स्वीकार नहीं करेंगे ? स्थानाङ्ग सूत्र में

प्रतिपादित १४ तीर्थङ्करों के ७० कल्याणकों को अंगीकार नहीं करेंगे ? कल्पसूत्रस्थ पाश्वनाथ, नेमिनाथ आदि के चरित्रों में कल्याणक शब्द का उल्लेख न होने से क्या हम उनको भी कल्याणक स्वीकार नहीं करेंगे ? नहीं, हमें स्वीकार करना होगा, अन्यथा कल्याणकों का ही स्पष्टतः अत्यन्ताभाव हो जायगा, जो सचमुच में शास्त्रविरुद्ध होगा। कल्याणकों का अभाव होने से इन्द्रादिक देवताओं की की हुई श्रद्धापूर्वक सम्यग् आराधना केवल ढोंग मात्र ही होगी, भक्ति नहीं। अतः कल्याणक शब्द का उल्लेख न होने पर भी हमें लक्षणा से कल्याणक ग्रहण करना ही होगा।

यही नहीं, किन्तु तीर्थकर का जीव पूर्वभवों में जिस भव से सम्यक्त्व अर्जन करता है वहाँ से लेकर तीर्थकर भव तक उसके सभी भव “उत्तमभव” माने जाते हैं। कल्पसूत्रादि शास्त्रों में प्रभु महावीर का भव पोट्टिल राजपुत्र के भव से पंचम भव माना जाता है, परन्तु समवायाङ्ग सूत्र में गणधरदेव महावीर का पंचम भव देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होना और छट्टा भव त्रिशलारानी की कुक्षि में उत्पन्न होना और तीर्थकर रूप से जन्म लेना मानते हैं:—

“समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गहणाओ छट्टे पोट्टिलभवग्गहणे एगं वासकोडिं सामन्नं परियागं पाउणित्ता सहसारे कप्पे सव्वट्ठविमाणे देवत्ताए उववन्ने।”

श्रमण तपस्वी भगवान् महावीर के पोट्टिल के भव से पाँच ही भव माने गये, यह छट्टा भव कैसा ? इसका भ्रम न हो इसलिये टीकाकार अभयदेवसूरि स्पष्ट कर देते हैं:—

“समणे, इत्यादि। किल भगवान् पोट्टिलाभिधानो राजपुत्रो बभूव। तत्र वर्षकोटिं प्रव्रज्यां पालितवान् इत्येको भवः। ततो देवोऽभूदिति द्वितीयः। ततो नन्दाभिधानो राजसूनुः छत्रानगर्यां जज्ञे इति तृतीयः। तत्र वर्षलक्षं सर्वदा मासक्षणणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुष्पोत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवत् इति चतुर्थः। ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्त-ब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानाया। कुक्षौ उत्पन्न इति पञ्चमः। ततो द्व्यशीतितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थमहाराजस्य त्रिशलाभिधानभार्यायाः कुक्षौ इन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेषिनाम्ना देवेन संहतः—नीतः तीर्थङ्करतया च जातः इति षष्ठः। उक्तभवग्रहणं हि विना नान्यद्भवग्रहणं षष्ठं श्रूयते भगवतः, इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यातं, यस्माच्च भवग्रहणादिदं षष्ठं तदप्येतस्मात् षष्ठमेवेति, सुष्ठूच्यते तीर्थङ्करभवग्रहणात् षष्ठे पोट्टिलभवग्रहणे इति।”

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होना और उससे अपहृत होकर त्रिशलाकुक्षि में धारण होना अतिनिन्द्य या आश्चर्य नहीं किन्तु उत्तम भव है। अतः पृथक् भवनिर्देश से उत्तमभव होने के कारण यह स्वतः ही मंगलस्वरूप कल्याणक ही जाता है।

३. पञ्चाशक प्रकरण एवं टीकाकार अभयदेवसूरि द्वारा पञ्चकल्याणक स्वीकार करना अपना निजी महत्त्व रखता है। वहाँ सामान्य रूप से २४ तीर्थङ्करों के कल्याणकों की गणना का प्रसंग होने से पाँच ही कहे गये हैं, इससे ६ कल्याणक की मान्यता में यत्किञ्चित् भी बाधा नहीं आती। देखिये, चौबीस तीर्थङ्करों की सामान्य गणना में १६ वें तीर्थकर मल्लिप्रभु की स्त्रीरूप में गणना नहीं करते हैं, किन्तु मल्लिनाथजी कहकर पुरुष रूप में गिनते

हैं। क्या सामान्य प्रसंग से मल्लिप्रभु का स्त्रीत्व नहीं छूट जाता है? इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थंकर की माता चौदह स्वप्न देखती है। उसमें ऋषभदेव की जननी वृषभ से, महावीर प्रभु की जननी सिंह से और अवशिष्ट अजितनाथ से पार्श्वनाथ पर्यन्त २२ की माताएं हस्ति से लेकर निर्धूम अग्निशिखा पर्यन्त चौदह स्वप्न देखती हैं। कल्पसूत्र में वीरचरित्र में त्रिशला के द्वारा दृष्ट स्वप्नों के अधिकार में आचार्य भद्रबाहुस्वामी, सामान्य पाठ होने से एवं बहुलता की रक्षा करने के लिये सिंह स्वप्न से वर्णन प्रारंभ न कर हस्ति स्वप्न से ही वर्णन प्रारंभ करते हैं, तो क्या यह मान सकते हैं कि त्रिशला ने चौदह स्वप्नों में सर्वप्रथम सिंह का स्वप्न न देखकर हाथी का स्वप्न देखा था?

यही क्यों?, आचार्य जिनवल्लभसूरि ने स्वयं सर्व-जिन-पञ्च कल्याणक स्तोत्रों में सामान्य जिनेश्वरों की स्तुति एवं कल्याणक निर्देश करते समय महावीरप्रभु के भी पांच ही कहे हैं तो क्या हमें जिनवल्लभसूरि का ही पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना होगा? या उन्हें वितथवचनी कहना होगा? कदापि नहीं। वस्तुतः सामान्य प्रसंग से पञ्चाशक में महावीरदेव के पांच ही कल्याणक मानने से अतिरिक्त कल्याणक का अभाव नहीं हो जाता। अतः सामान्य एवं विशेष व्याख्या को मध्यस्थ दृष्टि से देखें तो छ कल्याणक की मान्यता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के “उसभे णं अरहा कोसलिए पंच उत्तरासाढे अभीई छट्ठे होत्था” पाठ के अनुसार यहाँ यह सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि क्या शास्त्रकार ने राज्याभिषेक को कल्याणक स्वीकार कर ‘पंच उत्तरासाढे’ कहा है? परन्तु इसका समाधान इसकी टीका करते हुए टीकाकार तपागच्छीय आचार्य विजयसेनसूरि के शिष्य श्रीशान्ति-चन्द्रगणि (जो धर्मसागरजी के ही समकालीन विद्वान् थे) कहते हैं कि ‘वीस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः।’ महावीर के गर्भहरण की तरह यह कल्याणक नहीं है, किन्तु राज्याभिषेक इन्द्र कर्णव्य होने से लक्षणा के साधर्म्य से एवं उत्तरासाढा नामक एक नक्षत्र में होने से शास्त्रकार ने ‘पंच उत्तरासाढे’ कहा है, इसमें कोई दोष नहीं है। इसीलिये आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने कल्पसूत्र में ‘उसभे णं अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभीई पंचमे होत्था’ कहा है। अर्थात् चार कल्याणक उत्तरासाढा नक्षत्र में हुए हैं और पांचवां (निर्वाण) अभिजित् नक्षत्र में। टीकाकार का पूरा मन्तव्य इस प्रकार है—

“ननु अस्मादेव विभागसूत्रबलात् आदिदेवस्य षट्कल्याणकं समापद्यमानं दुनिवारं इति चेत्? न, तदेव हि कल्याणकं यत्रासनप्रकम्पप्रयुक्तावधयः सकलसुरासुरेन्द्रा जीतमिति विधित्सया युगपत् ससंभ्रमा उपतिष्ठन्ते। नह्ययं षष्ठकल्याणकत्वेन भवता निरूप्यमाणो राज्याभिषेकस्तादृशस्तेन वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः, अनन्तरोक्तलक्षणायोगात्। न च तर्हि निरर्थकमस्य कल्याणकाधिकारे पठनमिति वाच्यम्, प्रथमतीर्थेश राज्याभिषेकस्य जीतमिति शक्रेण क्रियमाणस्य देवकार्यत्व-लक्षणसाधर्म्येण समाननक्षत्रजाततया प्रसङ्गेन तत्पठनस्यापि सार्थकत्वात्, तेन समाननक्षत्रजातत्वे सत्यपि कल्याणकत्वाभावेन (अ)नियतवक्तव्यतया, क्वचित् राज्याभिषेकस्याकथनेऽपि न दोषः। अतएव दशाश्रुतस्कन्धाष्टमाध्ययने पर्युषणाकल्पे श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः “ते णं काले णं ते णं समये णं उसभे णं अरहा कोसलिए चउ उत्तरासाढे अभीइ पंचमे होत्था” इति पञ्चकल्याणकनक्षत्रप्रतिपादकसूत्रं बबन्धिरे। न तु राज्याभिषेकन-

क्षत्राभिधायकमपीति । न च प्रस्तुतव्याख्यानस्यानागमिकत्वं, आचाराङ्गभावनाध्ययने श्रीवीरकल्याणकसूत्रस्यैवमेव व्याख्यातत्वात् ।”

इस पाठ से राज्याभिषेक के कल्याणक न होने में सन्देह का अवकाश ही नहीं रहता । यदि मानलें कि राज्याभिषेक भी कल्याणक है, तो प्रायः प्रत्येक तीर्थङ्कर का राज्याभिषेक हुआ है; अतः प्रत्येक का भी मानना होगा । यही क्यों ? भगवान् ऋषभदेव ने युगलिक धर्म का निवारण कर सुमङ्गला के साथ पाणिग्रहण किया, यह लौकिक व्यवहार से एवं गार्हस्थ्य-धर्मरूप श्रेष्ठ कार्य होने से इसे भी कल्याणक मानने में क्या आपत्ति है ? यदि इस प्रकार से कल्पनाओं का आश्रय लिया जाय, तो पांच ही नहीं अपितु कितने ही कल्याणक प्रत्येक तीर्थंकर के हो सकते हैं, परन्तु शास्त्रविहित न होने से इन्हें कल्याणकों की कोटि में किसी भी शास्त्रकार ने नहीं रखा, अतः राज्याभिषेक भी कल्याणक की कोटि में नहीं आ सकता ।

५. कतिपय शास्त्रीय प्रमाणों के उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं । अब खरतरगच्छीय आचार्यों के लिखित प्रमाण छोड़कर केवल अन्यान्य-गच्छीय आचार्यों के ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं:—

(क) श्री पृथ्वीचन्द्रसूरि कल्पटिप्पन में लिखते हैं:—

“हस्त उत्तरो यासां ताः, बहुवचनं बहुकल्याणकापेक्षम्, इत्यत्र पञ्चसु पञ्च, स्वातौ षष्ठमेव ध्वन्यते ।”

(ख) आचार्य विनयचन्द्रसूरि कल्पनिरुक्त (२० १३२५) में लिखते हैं:—

“हस्त उत्तरो यासां ता हस्तोत्तरा-उत्तरफल्गुन्यो, बहुवचनं बहुकल्याणकापेक्षम् । तस्यां हि विभोश्चयवनं १, गर्भाद् गर्भसंक्रान्तिः २, जन्म ३, व्रतं ४, केवलं ५ चाभवत् । निर्वृतिस्तु स्वातौ ६ ।”

(ग) तपगच्छीय आचार्य कुलमण्डनसूरि कल्पावचूरिका में मूल पाठ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं:—

“श्रीवर्द्धमानस्य षण्णां च्यवनादीनां कल्याणकानां हेतुत्वेन कथितौ तौ वा इति ब्रू मः ।”

(घ) आचार्य जयचन्द्रसूरि अपने कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

“आषाढे सितषष्ठी, त्रयोदशी चाश्विने सिता चैत्रे ।

मार्गे दशमी सितवैशाखे सा कार्तिके च कूहुः ॥११॥

वीरस्य षट्कल्याणकदिनानि इति ।”

(च) तपगच्छीय आ० श्रीसोमसुन्दरसूरि या तत्शिष्य स्वप्रणीत कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

“यत्राऽसौ भगवान् महावीरो देवानन्दाया. कुक्षौ दशमदेवलोकगतप्रधानपुष्पो-त्तरविमानादवतीर्णः, पञ्चकल्याणकानि उत्तराफाल्गुनिनक्षत्रे जातानि तद्यथा-
× × × × स्वातिनक्षत्रे परिनिर्वृतः-निर्वाणं प्राप्तो भगवान् मोक्षं गत इत्यर्थः । एतानि भगवतो वर्द्धमानस्य षट्कल्याणकानि कथितानि ।”

- (छ) अञ्चलगच्छीय धर्मशेखरसूरि शिष्य उदयसागर स्वप्रणीत कल्पसूत्रटीका (र० १५११) में लिखते हैं:—
“हस्त उत्तरोऽग्रे सरो यासां ताः उत्तराफाल्गुन्यः, बहुवचनं पञ्चकल्याणकापेक्षया 'होत्था' आसीत् । X X X X X स्वातिना नक्षत्रेण परिनिर्वृतः निर्वाणं प्राप्तः ।”
- (ज) अञ्चलगच्छीय वाचनाचार्य श्रीमहावजी गणि शिष्य मुनि माणिकऋषि लिखित सं० १७६६ की प्रति^१ में लिखा है:—
“पञ्चसु च्यवनादिकल्याणकेषु हस्तोत्तरा-हस्तादुत्तरस्यां दिशि वर्तमाना यद्वा हस्त उत्तरो यासां ता उत्तराफाल्गुन्यो यस्य स पञ्च हस्तोत्तरो भगवान् होत्थ त्ति अभूत् ।”
- (झ) जोधपुर केशरियानाथ भंडार में सुरक्षित कल्पसूत्र टीका की एक प्राचीन प्रति^२ में लिखा है:—
“श्रीवर्द्धमानतीर्थाधिपतेः पञ्चकल्याणकानि हस्त उत्तरो अग्रे यस्मात्, एवम्भूते उत्तराफाल्गुनीलक्षणे नक्षत्रे जातानि । मोक्षकल्याणकस्य स्वाती जातत्वादिति ।”
- (ट) तपागच्छीय पं० शान्तिविजयगणि लिखित (ले० सं० १६६७ लाहोर) कल्पसूत्र अन्तर्वाच्य स्तबक^३ में लिखा है:—
“श्रमणतपस्वी भगवंतं ज्ञानवंतं श्रीमहावीरदेव, तेहना पांच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रे हुआ । X X X X X स्वातिनक्षत्रे मोक्ष पहुँता श्रीमहावीरदेव ।”
- (ठ) उपकेश (कंवला) गच्छीय ककुदाचार्य सन्तानीय उपाध्याय रामतिलक शिष्य गणपति लिखित^४ (ले. सं. १७२४) कल्पसूत्र बालावबोध में लिखा है:—
“ए श्रीकल्पसूत्र तणइ प्रारंभइ जगन्नाथ श्रीमहावीरतणां छ कल्याणिक बोलियइ, तद्यथा—“ते णं का० पंचहत्थुत्तरे होत्था”—तिणइं समइं श्रमण भगवंत श्री महावीररहइं पञ्चकल्याणिक उत्तराफाल्गुनि नक्षत्रि चन्द्रमा तणइ संयोगि प्राप्त हुंतइ हुआं । X X —ए संक्षिप्त वाचनाइं जगन्नाथ तणां छ कल्याणिक जाणिवा ।”
- (ड) आञ्चलिक मेरुतुङ्गसूरि रचित सूरिमन्त्रकल्प के पूर्वलिखित वर्धमानविद्याकल्प में लिखा है:—
“उपाध्यायादिपदचतुष्टयेन नवपदस्थापनादिनप्रतिपन्नषट्स्वपि महावीरकल्याणकेषु यावज्जीवं विशेषतपः कार्यम् ।”

१. शान्तिनाथमंदिरस्थ अञ्चलगच्छ भंडार, कच्छ मांडवी पत्र १५०

२. डाबडा नं० १८

३. जोधपुर केशरियानाथ भंडार डा० २०, प्र० न० ६

४. महेसाणा उपाश्रय का भंडार, पत्र ६१

- (ढ) तपागच्छीय श्रीशान्तिचन्द्रगणि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका करते हुए भगवान् ऋषभप्रभु का राज्याभिषेक कल्याणक माना जा सकता है या नहीं, प्रसंग पर लिखते हैं:—“वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः” अर्थात् वीर के गर्भापहार की तरह यह (ऋषभ का राज्याभिषेक) कल्याणक नहीं है। इससे स्पष्ट है कि गर्भापहार कल्याणकों की परिधि में है।
- (त) आगमिकगच्छीय आचार्य जयतिलकसूरि स्वप्रणीत सुलसाचरित्र के छठे सर्ग में लिखते हैं:—

“देवानन्दोदरे श्रीमान् श्वेतषष्ठ्यां सदा शुचिः ।

श्रवतीर्णोऽसि मासस्या-षाढस्य शुचिता ततः ॥१॥

त्रिशला सर्वसिद्धे च्छ्या, त्रयोदश्यामभूद् यतः ।

तवावतारात्तेनेषा, सवसिद्धा त्रयोदशी ॥२॥

शुक्लत्रयोदश्यां यश्चा-चलमेरुं प्रचालयन् ।

चित्रं कृतवांस्तद्योगा-ञ्चैत्रमासोऽपि कथ्यते ॥३॥

यस्याद्यदशम्यां दुर्ग-मोक्षमार्गस्य शीर्षकम् ।

चारित्रमाहृत युक्ता, मासोऽस्य मार्गशीर्षता ॥४॥

दशम्यां यस्य शुक्लायां, केवलश्रीरहो त्वया ।

ह्यादत्ता तेन मासोऽस्य युक्ता माधवता प्रभो ॥५॥

तव निर्वाणकल्याणं यद्द्विनं पावयिष्यति ।

तन्न वेद्मि यतो नाथ, माहशोऽध्यक्षवेदिनः ॥६॥

सिद्धार्थराजाङ्गज देवराज, कल्याणकैः षडभिरिति स्तुतस्त्वम् ।

तथा विधेह्यान्तरवैरिषट्कं, यथा जयाम्याशु तव प्रसादात् ॥७॥

इत्यादि एक नहीं सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं। अतः यह कहना भी युक्ति-संगत नहीं है कि जिनवल्लभगणि ने ही यह नूतन प्रतिपादन किया है। श्रीमान् जिनवल्लभ गणि ने तो केवल जो वस्तु चैत्यवासियों के कारण ‘विवर’ में प्रविष्ट होती जा रही थी उसका पुनः उद्धार कर जनता के सामने रखकर अपनी असीम निर्भीकता का परिचय दिया है। वस्तुतः गणिजी का यह षट् कल्याणकों का प्रतिपादन उत्सूत्र प्रतिपादन नहीं था, किन्तु सैद्धान्तिक वस्तु का ही प्रतिपादन था। यदि यह प्ररूपणा, उत्सूत्र-प्ररूपणा होती तो तत्कालीन समग्र गच्छों के आचार्य इसका उग्र विरोध करते; प्रतिशोध में दुर्दम कदम उठाते। पर आश्चर्य है कि तत्कालवर्ति किसी भी आचार्य ने इस प्ररूपणा का विरोध किया हो ऐसा प्रमाण प्राप्त नहीं होता है; प्रत्युत प्रतिपादन के प्रमाण अनेकों उपलब्ध होते हैं। अतः यह सिद्ध है कि यह प्ररूपणा तत्कालीन समग्र आचार्यों को मान्य थी। साथ ही यह भी मानना होगा कि खुद तपागच्छीय विद्वानों ने भी षट् कल्याणक लिखे हैं, अतः धर्मसागरजी की स्वयं की प्ररूपणा ही निह्वन मार्ग की प्ररूपणा है, आचार्य जिनवल्लभसूरि की नहीं।

इस कल्याणक के विषय में शास्त्रीय दृष्टि से विशेष अध्ययन करना हो तो मेरे

शिरच्छत्र पूज्य गुरुदेव श्री जिनमणिसागरसूरि जी म० द्वारा लिखित “षट् कल्याणक निर्णय”^१ नामक पुस्तक देखें ।

सङ्घ-बहिष्कृत ?

जो व्यक्ति पाण्डुरोग से ग्रसित हो जाता है उसे सृष्टि की समस्त वस्तुएं पीतवर्णी ही प्रतीत होती हैं वैसे ही धर्मसागरजी को विद्वत्ता का पीलिया हो गया, तत्फलस्वरूप उनकी दृष्टि में समग्र गच्छ वाले निह्वन, विशुद्ध और कठोर क्रियापात्री खरतरगच्छ जैसा गण खर-तर, जिनवल्लभसूरि जैसा आचार्य उत्सूत्र-प्रतिपादक मालूम हुए । जिनवल्लभसूरि को उत्सूत्रप्ररूपक कहने के पश्चात् एक जटिल समस्या उनके सन्मुख और आई कि ऐसे प्ररूपक तो संघ, गण बहिष्कृत हुआ करते हैं तो क्यों न इनको सघ-बहिष्कृत सिद्ध कर दूँ ? इसको सिद्ध करने के लिये प्रमाण को आवश्यकता थी । प्रमाण के लिये साहित्य-सागर में काफी गोता लगाया पर निष्फल हुए, अन्त में उनको एक प्रमाण मिल ही गया । वह यह था:—

‘सङ्घत्राकृतचैत्यकूटपतितस्यान्तस्तरां ताम्यत-
स्तन्मुद्रादृढपाशबन्धनवतः शक्तश्च न स्पन्दितुम् ।
मुक्त्यै कल्पितदानशीलतपसोप्येतत्क्रमस्थायिनः,
सङ्घव्याघ्रवशस्य जन्तुहरिराघ्रातस्य मोक्षः कुतः ॥३३॥’

यह आचार्य जिनवल्लभसूरि प्रणीत सङ्घपट्टक की ३३ वीं कारिका है । इसका अर्थ समस्त टीकाकारों ने निम्नलिखित किया है:—

“इन हीन आचारवाले चैत्यवासियों को देने के लिये बनवाये गये चैत्यरूप कूट अर्थात् जाल में जो फंसे हुए हैं, इसी हेतु जो अन्तःकरण से छटपटा रहे हैं, परन्तु इन चैत्यवासियों की मुद्रा अर्थात् ‘हमारे चैत्य को छोड़कर अन्यत्र मत जावो’ ऐसी राजाज्ञारूप दृढ बन्धन से बन्धे हुए होने के कारण जरा भी हिलडुल नहीं सकते हैं । मुक्ति के लिये जो दान शील, तप आदि करते हैं, परन्तु इन हीनाचारियों के कुसंघ की परम्परा में पड़े हुए हैं । ऐसे जो ये दयनीय भव्य प्राणीरूप हरिणों के झुंड हैं, उनका हीनाचारियों के कुसङ्घरूप व्याघ्र से छुटकारा कहाँ ? अर्थात् जैसे हरिण समूह जब व्याघ्रक्रम-व्याघ्र के पंजे में आ जाता है तब उसका छुटकारा असंभव होता है उसी प्रकार इन हीनाचारियों के कुसङ्घरूप व्याघ्र के फंदे में पड़े भव्य प्राणीरूप हरिणों का छुटकारा कहाँ ? अर्थात् उनका मुक्तिगमन कैसे हो सकता है ?

इस ग्रन्थ के टीकाकार युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि के कतिचित् अपूर्ण वाक्यों का उल्लेख करके उ० धर्मसागरजी और वर्तमानकालीन विजयप्रेमसूरि तथा तन्मतानुयायी जो तोड़-मरोड़ कर अर्थ करते हैं वह कितना विचारणीय तथा उपहासास्पद है । देखिये:—

पद्य में आये हुए “सङ्घव्याघ्रवशस्य” शब्द पर विशेष ऊहापोह है । उनका मन्तव्य है कि संघ को व्याघ्र की उपमा देना पूर्ण रूप से अनुचित है । किन्तु किस संघ को व्याघ्र की

१. सुमति सदन, कोटा (राजस्थान) द्वारा प्राप्य

उपमा दी है— विचारने का वे परिश्रम नहीं उठाते। आचार्य जिनपतिसूरि इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं:—

“अथ कथमिह सङ्घम्य क्रूरतया व्याघ्रेण निरूपणं ? तत्त्वे हि तस्य भगवन्नमस्कारो न घटामिययात् । श्रूयते च तीर्थप्रवर्तनाऽनेहसि “नमो तित्थस्से”त्याद्यागमवचनप्रामाण्येन भगवत्स्तन्नमस्कारविधानं, तत्कथमेतदुपपद्यत इति चेत् ? न, सहगुनामश्रवणाद् सङ्घोऽपि प्रकृते भवतः सङ्घभ्रान्तेः । अन्यो हि संघो भगवन्नमस्कारविषयोऽन्यश्चाधुनिको भवदभिमतः । तथाहि—गुणगुणिनोः कथंचित्तादात्म्येन ज्ञानादिगुणसमुदायरूपः शुद्धपथप्रथनबद्धादरोऽनुल्लङ्घित-भगवच्छासनः साध्वादिः सिद्धांते सङ्घ इत्यभिधीयते । यदाह—

सर्वोवि नाणदंसण-वरणगुणविभूसिय.ण समणाणं ।

समुदायो होइ संघो. गुणसघाओ ति काऊणं ॥

एवंविधश्च संघो भगवन्नमस्कारविषयः । स हि भगवन्नमस्यदखण्डाखण्डलमौलिमालाललितक्रमकमलोऽपि तीर्थस्य साक्ष्यात्स्वप्तापि प्राक्तनजन्मनिर्वृत्तित्तिभावसंघवात्सल्यादाहन्त्यं मयावाप्तमिति कृतज्ञता प्रदिदशयिषया सद्बहुमानदर्शनाच्च लोकोऽप्येनं बहुमन्येत इति जिज्ञापयिषया च तं नमस्कुरुते ।

गुणसमुदाओ संघो, पवयण-तित्थं ति हुंति एगट्ठा ।

तित्थयरो वि हु एय, नमए गुरुभावओ चैव ॥१॥

तप्पुधिया (?) अरहया, पूइयपूया य विणयकम्मं च ।

कयकिच्चोवि जह कहं, कहेइ नमए तथा तित्थं ॥२॥

इतरथा कृतकृत्यत्वेन भगवतो यथाकथंचित्तत्रैव भवे मुक्तिसंभवात्किमनेनेति । साम्प्रतिकस्तु भवदभिप्रेत उन्मार्गप्रज्ञापकत्वेन, सम्मार्गप्रणाशकत्वेन, जिनाज्ञासर्वस्वलुण्टाकत्वेन, यतिधर्ममाणिक्यकुट्टाकत्वेन च गुणसमुदायरूपत्वस्य संघलक्षणस्याभावान्न संघः । यदुक्तम्—

केइ उम्मग्गट्टियं उस्सुत्तपरूवयं बहुं लोयं ।

दट्ठु भणति संघ, संघसरूवं अयाणंता ॥१॥

सुहसीलाओ सच्छ दचारिणो वेरिणो सिवपहस्स ।

आणाभट्ठाओ बहु-जणाओ मा भणह संघोति ॥२॥

परं बहुकीकशसंधातरूपत्वात्सोऽपि संघ इत्यभिधया लोकेऽभिधीयत इति मुग्ध ! नाम्ना विप्रलब्धोऽसि । यदुक्तं—

एक्को साहु एक्का वि साहुणि सावओ य सड्ढो य ।

आणाजुत्तो संघो सेसो पुण अट्ठिसंघाओ ॥ १ ॥

अतः सङ्घलक्षणाभावान्नायं बहुमानमर्हति, तद् बहुमानादिकारिणो भगवत्प्रत्यनीकादिभावेनाभिधानात् । यदुक्तं—

आणाए अवट्ठं, जो उववूहिज्ज मोहदोसेणं ।

तित्थयरस्स सुयस्स य, संघस्स य पच्चणोओ सो ॥ १ ॥

तथा—

जो साहिज्जे वट्ठइ, आणाभगे पयट्ठमाणणं ।

मणावायाकाएहि, समाणदोस तयं बिति ॥ १ ॥

अतएव सुखसीलतानुरागादेरसङ्घमपि सङ्घ इत्यभिदधतां प्रायश्चित्तं प्रतिपादितं सिद्धान्ते । यदाह—

अस्संघं संघं जे, भणति राणेण अहव दोसेण ।

छेओ वा मूलं वा, पच्छित्तं जायए तेसि ॥ १ ॥

तस्माद् युक्तं कूरतया प्रकृतसङ्घस्य व्याघ्रतया (नि)रूपणम् ।

गुणसमुदाय, संघ, प्रवचन तथा तीर्थ शब्द एकार्थक हैं तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों से परिपूर्ण साधु के समुदाय को यहाँ संघ कहा है और वह संघ बहुमाननीय है। किन्तु उन्मार्ग-स्थित, सन्मार्ग का विनाशक, जिनाज्ञा का नाश करके स्वच्छन्द रूप से प्ररूपित चैत्यवासी समुदाय, जो सुख-लोलुपी है उसको यहाँ संघरूप से स्वीकार नहीं किया है। अर्थात् उन्मार्गप्ररूपक चैत्यवासी-समुदाय-संघ को ही व्याघ्र की उपमा दी है किन्तु तीर्थ-सम्मत संघ को नहीं; जो यथार्थ ही है। और इसी प्रकार के संघ को जब आचार्य हरिभद्रसूरि जैसे समर्थ विद्वान् भी चैत्यवास का खंडन करते हुए, “(आज्ञावियुक्तः) शेषसङ्घः अस्थिसंघात एव” कह कर हृदियों का समुदाय मात्र ही है—प्रतिपादन करते हैं तो इस वर्तमाननीय (चैत्यवासी) संघ को जो व्याघ्र की उपमा दी है वह अयुक्त प्रतीत नहीं होती है।

दूसरी विचारणीय वस्तु यह है कि इस टीका में आये हुये “ऐदयुगीनसङ्घप्रवृत्ति-परिहारेण च सङ्घबाह्यत्वप्रतिपादनममीषां भूषणं न तु दूषणं ।” वाक्य का प्रश्रय लेकर जो प्रतिपादन करते हैं कि ‘जिनवल्लभ संघ बहिष्कृत थे’—किन्तु उन्हें टीकाकार के पूर्ण शब्दों का ध्यान रखना चाहिये कि टीकाकार जो संघबाह्यत्व को भूषण कहता है उसका आशय क्या है? देखिये टीकाकार के पूर्णवाक्यः—

“ऐदयुगीनसङ्घप्रवृत्तिपरिहारेण च सङ्घबाह्यत्वप्रतिपादनममीषां भूषणं, न तु दूषणम् । तत्प्रवृत्तेरुत्सूत्रत्वेन तत्कारिणां दारुणदुर्गतिविपाकश्रुत्या तत्परिहारेण प्रकृतसङ्घबाह्यत्वस्यैव तेषां चेतसि रुचितत्वात्तदन्तर्भावे तु तेषामपि तत्प्रवृत्तिवतिष्णुतयाऽन्तर्भावात्तदीपयंतप्रसङ्गात् । अत आधुनिकसंघबाह्यत्वेनैव तेषां गुणित्वं, तथा च तेषूच्छेदबुद्धिर्महापापीयसामेव भवति । तस्मात्तेषु मुक्त्यर्थिनां प्रमोद एव विधातव्यो, न तनीयस्यापि द्वेषधीरिति व्यवस्थितम् ।”

उपरि उल्लिखित टीकाकार के शब्दों से यह स्पष्ट है कि जिस चैत्यवासी संघ को हमने व्याघ्र की उपमा दी है, उस संघ में यदि जिनाज्ञानुसार चालित, सुविहित साधु-समुदाय नहीं रहता है अथवा ये चैत्यवासी कहते हैं कि ‘ये सुविहित साधु संघ बाह्य हैं’ तो वह सुविहित गण के लिये दूषण नहीं है किन्तु भूषणरूप ही है। क्योंकि यदि सुविहित गण उस संघ को स्वीकार करता है और उसकी आम्नायानुसार चलता है तो वह ससार का वृद्धिकारक है।

वस्तुतः आचार्य जिनपतिसूरि का यह कथन उपयुक्त ही है, अन्यथा आचार्य हरिभद्र-सूरि और आचार्य जिनेश्वरसूरि जैसे प्रौढ सुविहित, चैत्यवासियों की आचरणाओं का क्यों विरोध करते? विरोध के कारण यह वस्तु भी उपयुक्त है कि चैत्यवासी समुदाय इन सुविहितों को सबबाह्य करता है तो वह सुविहितों के लिये दूषणरूप नहीं है; क्योंकि उनका मत-व्यामोह एकान्त दृष्टि से कहने को उन्हें बाधित करता है। इससे यह सिद्ध है कि चैत्यवासी संघ से जिनवल्लभसूरि आदि सुविहित बहिष्कृत अवश्य थे किन्तु वे वे सुविहित संघ के अन्दर और उसके प्रमुख ।

उत्सूत्र-प्ररूपक

षट् कल्याणक के अतिरिक्त एक विषय और है जिसको लेकर कुछ प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने जिनवल्लभगण पर 'उत्सूत्र-प्ररूपक' होने का दोषारोपण किया है। यह विषय है 'संहनन' का।

आ० जिनवल्लभ ने सूक्ष्मार्थविचारसारप्रकरण की १४ वीं कारिका के उत्तरार्द्ध में संहनन के अधिकार में लिखा है:—

“सुत्ते सत्तिविसेसो संघयणमिहट्टिनिचउ त्ति ॥१४॥”

इस पद्य में उल्लिखित “सुत्ते सत्तिविसेसो” पर प्रज्ञापनासूत्र की टीका करते हुए (पृ० ४७०) आचार्य मलयगिरि लिखते हैं:—

“तेन यः प्राह सूत्रे शक्तिविशेष एव संहननमिति । तथा च तदग्रन्थः—“सुत्ते सत्तिविसेसो संघयणं” इति स भ्रान्तः । मूलटीकाकारेणापि सूत्रानुयायिना संहननस्यास्थिरचनाविशेषात्मकस्य प्रतिपादितत्वात् । यत्तु एकेन्द्रियाणां सेवार्त्तिसंहननमन्यत्तोक्तं तत् टीकाकारेण समाहितं । औदारिकशरीरत्वात् उपचारत इदमुक्तं द्रष्टव्यं न तु तत्त्ववृत्त्येति । यदि पुनः शक्तिविशेषः स्यात् ततो देवानां नैरथिकाणां संहननमुच्येत । अथ च ते सूत्रे साक्षादसंहनन उक्ता इत्यलं उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु ।”

श्रीमलयगिरि के 'उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु' शब्द पर स्व० श्री सागरानन्दसूरि ने साढ़े तीन पृष्ठ की टिप्पणी लिखकर और श्री प्रेमविजयजी (वर्तमान विजयप्रेमसूरि) ने सार्धशतक की प्रस्तावना में इसी विषय पर ढाई पृष्ठ लिख कर जो गाली-गलोच^१ किया है वह सर्वविदित है। यद्यपि यहाँ 'ईट का जवाब पत्थर' से देने का विचार कदापि नहीं, परन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए न केवल आचार्य मलयगिरि आदि के आक्षेपों की परीक्षा करना आवश्यक है, अपितु उससे भी पूर्व जिनवल्लभगण के उस कथन का भी स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक है जो इन आक्षेपों का लक्ष्य है।

श्री जिनवल्लभसूरि ने जो शक्तिविशेष को संहनन माना है वह शास्त्रसम्मत है या नहीं? इसका निर्णय करने के लिए यह अधिक अच्छा होगा कि यहाँ पर यह देख लिया जाय कि अन्य मान्य आचार्यों ने क्या कहा है। श्री जिनवल्लभसूरि और श्री मलयगिरि के पूर्ववर्ती आचार्य आप्तव्याख्याकार श्रीहरिभद्रसूरि ने आवश्यक सूत्र की बृहद्वृत्ति (आगमोदय समिति, सूरत से प्रकाशित पृष्ठ ३३७.१) में लिखा है:—

“इह च इत्थंभूतास्थिसञ्चयोपमितः शक्तिविशेषः संहननं उच्यते, न तु अस्थिसञ्चय एव, देवानामस्थिरहितानामपि प्रथमसंहननयुक्तत्वात् ।”

अर्थात् इस प्रकार अस्थिसञ्चय से युक्त शक्तिविशेष को संहनन कहते हैं, केवल अस्थिसञ्चय को नहीं; क्योंकि देवताओं को अस्थिरहित होने पर भी प्रथम संहनन (वज्रर्षभनाराच)^२ युक्त होने वाला कहा गया है।

१. अपरिणतभगवत्सिद्धान्तसारो वावदूकः सिद्धान्तबाहुल्यमात्मनः ख्यापयन्नेवं प्रललाप । कुमारगिमुग-सिंहनादीयं वचनम् ।

२. जैन साहित्य में संहनन छह प्रकार के माने गये हैं:—(१) वज्रऋषभनाराच, (२) वज्रनाराच, (३) नाराच, (४) अर्धनाराच, (५) कीलित, (६) सेवार्त्त ।

इसी प्रकार सर्वगच्छमान्य नवाङ्ग-टीकाकार श्री अभयदेवसूरि स्वप्रणीत स्थानांगसूत्र की टीका (आगमोदय समिति सूरत से प्रकाशित पृष्ठ ३५७.१) में लिखते हैं:—

“संहननं अस्थिसञ्चयः वक्ष्यामाणोपमःनोपमेयः, शक्तिविशेष इत्यन्ये ।”

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य हरिभद्र और आचार्य अभयदेव दोनों ही शक्तिविशेष को किसी न किसी रूप में ‘संहनन’ का तत्त्व स्वीकार करते हैं ।

और देखिये, इसी सार्द्धशतक प्रकरण के टीकाकार चन्द्रकुलीय श्री धनेश्वरसूरि (जिनका सत्ताकाल आचार्य मलयगिरि से पूर्व है) भी इस पद्य की टीका करते हुए इसी मत को पुष्ट करते हैं:—

“सूत्र-आगमे शक्तिविशेषः संहननमुच्यते ! कोऽभिप्रायः ? वज्रर्षभनाराचादिशब्दस्य संहननाभिधायकस्य शक्तिविशेषाभिधायकतया व्याख्यातत्वात् शक्तिविशेषः संहननमागमे प्रोच्यते । ईदृशं च संहननं देवनारकयोरपीष्यत एव तेन देवा वज्रर्षभनाराचसंहनिनो नारकाः सेवार्तसंहनिन इत्यागमाभिप्रायतो बोद्धव्यम् ।”

और इसी शक्तिविशेष संहनन-परंपरा को कर्मग्रन्थकार प्रसिद्ध आचार्य देवेन्द्रसूरि ने भी अपने शतक^२ नामक ग्रन्थ में स्वीकार किया है । ऐसी अवस्था में उपरि उल्लिखित शास्त्रीय प्रमाणों से यह तो स्पष्ट है कि शक्तिविशेषरूप संहनन की मान्यता व्यापक है; यह केवल जिनवल्लभ की अपनी प्ररूपणा नहीं ।

इस प्रकार इन आचार्यों के मतों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्तिविशेष को भी संहनन माना जाता था । अतएव यदि शक्तिविशेष को संहनन मानना उत्सूत्र प्ररूपणा कही जाय तो उक्त मान्य आचार्यों को भी उत्सूत्र-प्ररूपक होने का लांछन लगाया जा सकता है । परन्तु इन आचार्यों को उत्सूत्र-प्ररूपक कहने का साहस न तो आ० मलयगिरि को ही था और न उनके चरण-चिह्नों पर चलकर जिनवल्लभ को कोसने वाले आधुनिक आचार्यों को ही है ।

इसके अतिरिक्त एक बात और है जो बड़ी दुविधा में डालने वाली है । आचार्य मलयगिरि एक तरफ तो स्वप्रणीत जिनवल्लभीय ‘आगमिकवस्तुविचारसारप्रकरण’ की टीका करते हुए अवतरणिका में “न चायं आचार्यो न शिष्ट इति^३” कहकर जिनवल्लभसूरि की गणना शिष्ट-आचार्यों की कोटि में करते हैं और दूसरी तरफ प्रज्ञापनासूत्र की टीका में जैसा कि प्रारम्भ में कह चुके हैं, उन्हें उत्सूत्र-प्ररूपक कहते हैं । ऐसे आप्त-टीकाकार आचार्य के वचनों में विरोध क्यों ? प्रमाणों के अभाव में इस प्रश्न का कोई युक्तियुक्त उत्तर तो यहां

१ जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर से प्रकाशित पृष्ठ १४

२. “यत्तु देवेन्द्रनतपादपङ्कजैः श्रीमद्देवेन्द्रसूरिपादैः स्वोपज्ञशतकवृत्तौ एवमेवोक्तं तदप्येतद् ग्रन्थानु-सारेणानुमीयते ।”

(प्रेमविजयजी लिखित सार्धशतक प्रस्तावना पृष्ठ ३)

३. ‘इह हि शिष्टाः क्वचिद्विष्टे वस्तुनि प्रवर्तमानाः सन्त इष्टदेवतास्तवाभिधानपुरस्सरमेव प्रवर्तन्ते, न चायं आचार्यो न शिष्ट इति ।’ (षडशीति टीका, आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित पृष्ठ १)

नहीं दिया जा सकता, परन्तु यह विषय विद्वद्चिन्त्य अवश्य है। अतः अन्ततोगत्वा किन कारणों के वशीभूत होकर श्रीमलयगिरि को इन शब्दों का प्रयोग करना पड़ा, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

विद्वानों के लिये इतना ही विचारणीय और दुविधाजनक प्रश्न यह भी है कि आचार्य मलयगिरि ने जिनवल्लभसूरि के “सुत्ते सत्तिविसेसो” के स्थान पर “सुत्ते सत्तिविसेस एव” कैसे पढ़ लिया? दूसरा यह भी पता नहीं चलता कि आचार्य मलयगिरि ने अपने वक्तव्य में ‘मूलटीकाकारेणापि’ शब्द का प्रयोग किस टीकाकार के लिये किया है? यदि हम मूलटीकाकार शब्द से प्रज्ञापना, जीवाभिगम आदि सूत्रों के टीकाकार आचार्य हरिभद्र को ग्रहण करते हैं तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या आचार्य मलयगिरि ने हारिभद्रोप्य आवश्यक टीका का अवलोकन नहीं किया था? जिसमें कि जिनवल्लभगणि के मत का स्पष्ट समर्थन प्राप्त होता है। यदि किया होता तो, वे स्वयं एकपक्षीय सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने वक्तव्यों में कैसे करते? और यदि हम मूलटीकाकार शब्द से सार्द्धशतक टीकाकार आचार्य धनेश्वर का ग्रहण करते हैं तो, इस टीका में भी कहीं पर ‘एव’ का प्रयोग न होने पर भी आचार्य ने किस आधार से ‘एव’ का प्रयोग किया? चिन्त्य है। आचार्य मलयगिरि एक सुविज्ञ और श्रद्धास्पद व्याख्याकार हैं, अतः यह कहना भूल होगा कि उन्होंने अज्ञानवश, भ्रमवश या ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित होकर यह सब लिख दिया। अतः यह प्रश्न भी ज्यों का त्यों रह जाता है जिसका समुचित उत्तर प्रमाणाभाव से नहीं दिया जा सकता।

साथ ही मलयगिरि के ये शब्द “उपचारत इदमुक्तं न तु तत्त्वदृष्ट्या” युक्तियुक्त नहीं कहे जा सकते; क्योंकि आचार्य जिनवल्लभ स्वयं उपचार से ही शक्तिविशेष को संहनन स्वीकार करते हैं। निश्चय से नहीं। यदि उन्हें औपचारिक प्रयोग इष्ट न होता तो वे ‘सत्तिविसेसो संघयणं’ न कह कर ‘सुत्ते सत्तिविसेसच्चिय संघयणं’ कहते या ‘एवकार’ का प्रयोग करते, अधिक इष्ट रहता; किन्तु ऐसा नहीं है।

अस्तु आचार्य मलयगिरि की टीकाओं में पाये जाने वाले विरोधाभास और विप्रतिपत्ति के विषय में मौन धारण कर लेने पर भी जिनवल्लभगणि के आलोचकों सागरानन्दसूरि और विजयप्रेमसूरि के कथन को साम्प्रदायिक द्वेषभाव से प्रेरित हुआ मानने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं दीखता। आश्चर्य होता है कि उत्कृष्ट साँयम, वीतरागता और सत्य तथा अहिंसा का व्रत लेने के पश्चात् भी इन सज्जनों ने मलयगिरि की टीकाओं में पाये जाने वाले विरोधाभास पर कैसे आँखें मूँद लीं और कैसे निकले उनके मुख से जिनवल्लभगणि के लिये वे शब्द, जिनको कि किसी प्रकार भी सज्जन-मुखमंडन नहीं कहा जा सकता।

पिण्डविशुद्धिकार

एक और विवादग्रस्त प्रश्न है पिण्डविशुद्धि प्रकरण के कर्तृत्व का। पिण्डविशुद्धि प्रकरण जैसा कि आगे बतलाया गया है, जिनवल्लभगणि के उन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में से है जो गच्छ विशेष की सीमा को लांघकर सर्वमान्य हो चुके हैं और जिन पर विभिन्न गच्छीय आचार्यों ने टीका लिखकर इन्हें गौरवान्वित किया है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और महत्ता

इसी से प्रकट है कि लेखक की मृत्यु के ११ वर्ष पश्चात् ही इस पर टीकायें लिखी जानी प्रारंभ हुई और यह क्रम १२वीं से लेकर १७वीं शताब्दि तक बराबर चलता रहा। परन्तु दुःख है कि साम्प्रदायिक भेद-भाव से प्रेरित होकर कुछ विद्वानों के अहंकार को यह सहन नहीं हुआ कि किसी इतर-गच्छीय लेखक की कृति को इतना सम्मान क्यों मिले ? इसीलिये १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में उपाध्याय सोमविजयजी गणि अपने "सेनप्रश्न" में जिनवल्लभ को इसलिये इस ग्रन्थ का कर्त्ता नहीं मानते कि उनके पौषधाविधिप्रकरण में पौषध के प्रसंग में भोजन का तथा कल्याणक स्तोत्र में महावीरप्रभु के पांच कल्याणकों का ही उल्लेख मिलता है जो कि खरतरगच्छीय मान्यताओं के विरुद्ध होने से जिनवल्लभगणि द्वारा नहीं लिखी जा सकती थी:-

"पिण्डविशुद्धिविधाता जिनवल्लभगणिः खरतरोज्ञ्यो वा ? इतिप्रश्नः, अत्रोत्तरम् — जिनवल्लभगणेः खरतरगच्छसम्बन्धित्वं न संभाव्यते, यतस्तत्कृते पौषधविधिप्रकरणे श्राद्धानां पौषधमध्ये जेमनाक्षरदर्शनात्, कल्याणकस्तोत्रे च श्रीवीरस्य पञ्चकल्याणकप्रतिपादनाच्च तस्य सामाचारी भिन्ना, खरतराणां च भिन्नेति ।"

परन्तु जैसा कि इसी पर टिप्पणी करते हुए प० लालचन्द्र भगवान् गांधी ने अपभ्रंश-काव्यत्रयी की प्रस्तावना में लिखा है, "सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह आक्षेप समीचीन प्रतीत नहीं होता^१ और जैसा कि अन्यत्र^२ बतलाया जा चुका है, क्योंकि उनके प्रकृत सन्दर्भों को देखने से उक्त दोनों आक्षेप निराधार प्रतीत होते हैं।

इसके अतिरिक्त सुमतिगणि जहां गणधरसार्धशतक की वृत्ति में^३ जिनवल्लभगणि के अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ पिण्डविशुद्धि को भी समग्र गच्छादृत कहते हैं वहीं धनेश्वराचार्य सार्द्धशतक की टीका में 'अभयदेवसूरिशिष्येण मतिमता जिनवल्लभेन' लिखकर यह प्रमाणित करते हैं कि सुमति गणि का लिखना पूर्ण सत्य है, गच्छ ममत्व से मृषा अत्युक्ति नहीं, तो फिर भ्रम या प्रश्न का अवकाश ही कहां ?

पिण्डविशुद्धिदीपिकाकार आचार्य उदयसिंहसूरि (२०स० १२६५) जैसे भिन्न-गच्छीय प्रौढ-विद्वान् भी पिण्डविशुद्धि के प्रणेता का 'सुविहितसूत्रधारः' विशेषण लगाते हैं जो निश्चित रूप से खरतरगच्छीय जिनवल्लभसूरि से ही सम्बन्धित है; क्योंकि सुविहित-पथ-प्रकाशक या विधिमार्गप्ररूपक विशेषण धर्मसागरजी भी प्रवचन-परीक्षा में खरतरगच्छीय जिनवल्लभ के लिये ही स्वीकार करते हैं। अतः प्रकरणकार वे ही हैं यह भलीभांति सिद्ध होता है:—

'सुविहितविधिसूत्रधारः स जयति जिनवल्लभो गणियेन ।

पिण्डविशुद्धिप्रकरणमकारि चारित्रनृपभवनम् ।"

× × × ×
जगडु कवि (१२७८-१३३१) स्वप्रणीत सम्यक्त्वमाई चउपई में (जब ४२ दोष रहित शुद्ध-

१. "किन्तु एतत् सुदीर्घदृष्ट्या चिन्तने न समीचीनं प्रतिभाति" अपभ्रंश काव्यत्रयी प्रस्तावना पृ० २६

२. देखें, षट्कल्याणक और पौषधविधि सारांश

३. "समग्रगच्छादृत सूक्ष्मार्थसिद्धान्तविचारसार-षडशीति-सार्द्धशतकाख्यकर्मग्रन्थ-पिण्डविशुद्धि....."

पिण्ड का उपदेश करने वाले जिनवल्लभ की याद करते हैं तो वस्तुतः उनका लक्ष्य पिण्ड-विशुद्धि ग्रन्थ ही मानना पड़ेगा) लिखते हैं:—

“धनु सु जिनवल्लभ वक्त्राणि नाणरयण केरी छइ खाणि ।
बइतालास सुद्धु पिण्डु विहरेइ त्रिविधु मविरु जग प्रगट करेई ।”

× × × ×

खरतरगच्छीय युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि के शिष्य श्री नेमिचन्द्र भंडारी प्रणीत षष्टिशतक प्रकरण के ऊपर तपागच्छीय सुप्रसिद्ध आचार्य श्रीसोमसुन्दरसूरि ने बालावबोध की सं० १४६६ में^१ रचना की है^२; उसकी प्रारम्भिक अवतरणिका में वे लिखते हैं:—

“नेमिचन्द्र भंडारी पहिलउं तिस्यउ धर्म न जाणतउ । पछइ श्री जिनवल्लभसूरिना गुण सांभलि अनइ तेहना कीधा पिण्डविशुद्धि प्रमुख ग्रन्थनइ परिचइ साचउ धर्म जाणितउ ।”

इसी प्रकार इसी ग्रन्थ के १२६वें पद्य का बालावबोध करते हुए आचार्य लिखते हैं—

“दिट्ठा० केतलाइ गुरु साक्षात् दीठाइ हुंता तत्त्वना जाणनइ मनि रमइ नहीं हीयइ हर्ष न करइ । केवि० अनइ केतलाइ पुण गुरु अणदीठाइ हुंता हीइं रमइं वसइं तेहना गुण सांभलि नइ हीइ हर्ष उपजइ । जिम श्रीजिनवल्लभसूरि । ते जिनवल्लभसूरि नेमिचन्द्र भंडारी थी पहिला हुआ भणी अट्टइ हुंता पण नेमिचन्द्र भंडारी नइ मनि तेहना कीधां पिण्डविशुद्धि आदिक प्रकरण देखतां वस्या । इसिउ भाव ।”

आगे चलकर ग्रन्थकार की महत्ता दिखाते हुए पद्य १५३ की व्याख्या में फिर कहा गया है—

संपइ० हिवडां प्रभु श्री जिनवल्लभसूरिनइं वचनिइं जां धर्मनी खरी विधि अनइ साचा विवेकनउं जाणिवउं न उल्लसइं न ऊपजइ ता निविड० ते निविडमोह अजाणिवउं अनइ मिथ्यात्वनी ग्रन्थि तेहनउं गाढउ माहात्म्य गाढउ महिमा । ते गाढा अजाण अनइ गाढा मिथ्यात्वी कहींइं ।”

× × × ×

सं० १४६७ में प्रतिष्ठित जैसलमेर सम्भवनाथ जिनालय के प्रशस्ति शिलालेख में तो स्पष्ट ही लिखा है कि नवांगवृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि-शिष्य जिनवल्लभगणि पिण्डविशुद्धि प्रकरण के कर्ता थे:—

“ततः क्रमेण श्रीजिनचन्द्रसूरि- नवाङ्गीवृत्तिकार- श्रीस्तम्भनपार्श्वनाथप्रकटीकार श्रीअभयदेवसूरिशिष्य श्रीपिण्डविशुद्ध्यादिप्रकरणकारश्रीजिनवल्लभसूरि.....।”

× × × ×

१. क्षमाखण्डामृतकुण्डविष्टपमिते संवत्सरे श्रीतपा-गच्छेन्द्रगुं हसोमसुन्दरवरैराचार्यधुर्योरियम् ।
वार्ताभिर्विहिता हिताय कृतिनां सम्यक्त्वबीजे सुधा-वृष्टिः षष्टिशताह्वयप्रकरणव्याख्या चिरं नन्दतु ॥”
२. यह षष्टिशतक प्रकरण अथ बालावबोध सहित महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय बड़ोदरा तरफ से प्रकाशित हो चुका है ।

राजगच्छपट्टावली (विविधगच्छाय पट्टावली संग्रहः, संपा० आचार्य जिनविजय पृ० ६४) में लिखा है:-

“श्रीउद्योतनसूरयस्तदन्वये श्रीअभयदेवसूरयः, X X X X X X
तच्छिष्याः “पिण्डविशुद्ध्यादिप्रकरणकारकाः श्रीजिनवल्लभसूरयः ।”

इतने पर भी यदि यह मान लें कि खरतरगच्छीय जिनवल्लभगणि पिण्डविशुद्धि के कर्ता नहीं हैं अपितु कोई और है तो फिर वे कौन थे ? किस गच्छ के थे ? इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका समाधान करने के लिये किसी भी प्रकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता है । तत्कालीन तीन चार शताब्दियों में खरतर० गणि जिनवल्लभ के अतिरिक्त किसी भी ऐसे व्यक्ति की उपलब्धि जैन साहित्य के इतिहास में नहीं होती है जो पिण्डविशुद्धिकार हो सके । खरतरगच्छीय गुरु-परम्पराओं के अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में अन्यत्र कोई उल्लेख भी नहीं मिलता । अतः यह सिद्ध है कि पिण्डविशुद्धिकार जिनवल्लभगणि कोई पृथक् आचार्य नहीं है किन्तु अभयदेवाचार्य के शिष्य खरतरगच्छीय ही हैं ।

अध्याय : ४

ग्रन्थों का परिचय तथा वैशिष्ट्य

ग्रन्थ - रचना

गणिवरजी १२वीं शती के सुप्रसिद्ध उद्भट विद्वानों में से एक थे । इनका अलङ्कार-शास्त्र, छन्दशास्त्र, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, नाट्यशास्त्र, कामतन्त्र और सैद्धान्तिक विषयों पर एकाधिपत्य था । इन्होंने अपने जीवनकाल में विविध विषयों पर सैकड़ों ग्रन्थों की रचना की थी जिसका उल्लेख सुमतिगणि गणधरसाह्य शतक की वृत्ति में इस प्रकार करते हैं:—

‘परमद्यापि भगवतामवदातचरितनिधीनां श्रीमरुकोट्टसप्तवर्षप्रमितकृतनिवासपरिशीलितसमस्तागमानां समग्रगच्छाहतसूक्ष्मार्थसिद्धान्तविचारसार-षडशीति-साह्यशतकाख्यकर्मग्रन्थ-पिण्डविशुद्धि-पौषधविधि-प्रतिक्रमणसामाचारी-सङ्घपट्टक-धर्मशिक्षा-द्वादशकुलकरूपप्रकरण-प्रश्नोत्तरशतक-शृङ्गारशतक-नानाप्रकारविचित्रचित्रकाव्य-शतसख्यस्तुतिस्तोत्रादिरूपकीर्त्तिपताका सकलं महीमण्डलं मण्डयन्ती विद्वज्जनमनांसि प्रमोदयति ।’

किन्तु देव-दुर्विपाक से बहुत से अमूल्य ग्रन्थ नष्ट हो गये और इस कारण से इस समय ४४ रचनाएँ ही प्राप्त हैं एवं अन्य के केवल नामोलेख ही मिलते हैं । उपलब्ध ग्रन्थों की तालिका निम्नलिखित है:—

ग्रन्थ नाम	विषय	भाषा	गाथा अथवा पद्य संख्या
१. सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार (साह्यशतक) प्रकरण	कर्म-सिद्धान्त	प्राकृत	१५२
२. आगमिकवस्तुविचारसार (षडशीति) प्रकरण	”	”	८६
३. पिण्डविशुद्धि प्रकरण	आचार	”	१०३
४. सर्वजीवशरीरावगाहना स्तव	कर्म-सिद्धान्त	”	८
५. श्रावकव्रत कुलक	आचार	”	२८

ग्रन्थ नाम	विषय	भाषा	गाथा अथवा पद्य संख्या
६. पौषधविधि प्रकरण	विधि	प्राकृत	
७. प्रतिक्रमण समाचारी	विधि	"	४०
८. द्वादश कुलक	औपदेशिक	"	२३३
९. धर्मशिक्षा प्रकरण	"	संस्कृत	४०
१०. सङ्घपट्टक	आचार-विधान	"	४०
११. स्वप्नसप्ततिका	स्वप्न शास्त्र	प्राकृत	७१
१२. अष्टसप्तति अपरनाम चित्रकूटीय-वीर- चैत्य-प्रशस्ति	प्रशस्तिकाव्य	संस्कृत	७८
१३. प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत	काव्य	"	१६१
१४. शृङ्गारशतक	"	"	१२१
१५. आदिनाथ चरित्र	चरित्र	प्राकृत	२५
१६. शान्तिनाथ चरित्र	"	"	३३
१७. नेमिनाथ चरित्र	"	"	१५
१८. पार्श्वनाथ चरित्र	"	"	१५
१९. महावीर चरित्र	"	"	४४
२०. वीर चरित्र (जय भववर्ण०)	"	"	१५
२१. चतुर्विंशति जिन स्तोत्राणि (भीमभव०)	स्तोत्र	"	१४५
२२. चतुर्विंशति जिन स्तुति (मरुदेवि नाभितणय०)	स्तुति	"	६६
२३. पञ्च कल्याणक स्तव (सम्मं नमिउण०)	स्तोत्र	"	२६
२४. सर्वजिन पञ्च कल्याणक स्तव (पणय सुर०)	"	"	८
२५. प्रथम जिन स्तव (सयल भुवणिकक०)	"	अपम्रंश	३३
२६. लघु अजित शान्ति स्तव (उल्लासिककम०)	"	प्राकृत	१७
२७. स्तम्भन पार्श्वजिन स्तोत्र (सिरि भवण०)	"	"	११
२८. क्षुद्रोपद्रवहरपार्श्वजिन स्तोत्र (नमिर सुरासुर०)	"	"	२२
२९. महावीर विज्ञप्तिका (सुरनरवर०)	"	"	१२
३०. महाभक्तिगर्भा सर्वज्ञविज्ञप्तिका (लोयालय०)	"	"	३७
३१. नन्दीश्वर चैत्य स्तव (वदिय नंदिय०)	"	"	२५
३२. भावारिवारण स्तोत्र (भावारिवारण०)	"	समसंस्कृत प्राकृत	३०
३३. पञ्चकल्याणक स्तोत्र (प्रीतद्वात्रिंश०)	"	संस्कृत	१३
३४. कल्याणक स्तव (पुरन्दर पुर०)	"	"	८
३५. सर्वजिन स्तोत्र (प्रीतिप्रसन्न०)	"	"	२३
३६. पार्श्वजिन स्तोत्र (नमस्यद्गीर्वाण०)	"	"	३३
३७. " (पायात्पार्श्व०)	"	"	९

ग्रन्थ नाम	विषय	भाषा	गाथा अथवा पद्य संख्या
३८. पाश्र्वं जिन स्तोत्र (देवाधीश०)	स्तोत्र	संस्कृत	१०
३९. " (समुद्यन्तो०)	"	"	२४
४०. " (विनयविनमद०)	"	"	१७
४१. " चित्रकाव्यात्मक (शक्तिशूलेषु०)	"	"	१०
४२. " चक्राष्टक (चक्रे यस्य नतिः)	"	"	८
४३. सरस्वती स्तोत्र (सरभसलसद०)	"	"	२५
४४. नवकार स्तव (किं किं कप्पतरु०)	"	अपभ्रंश	१३

अनुपलब्ध ग्रन्थ— १. आगमोद्धार^१ तथा २. प्रचुरप्रशस्ति^२

उक्त समस्त ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१-सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-प्रकरण

इस ग्रन्थ में कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि कर्म-सिद्धान्त के विविध ग्रन्थों का आलोचन कर नवनीत की तरह संक्षेप में कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, इसीलिये कवि ने इसका नाम सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार-प्रकरण रखा है। इसका अपरनाम साढ़ंशतक प्रकरण है जो इसकी ५२ पद्य-पंख्या का सूचक है। इस लघुकाव्यिक ग्रन्थ में कर्म-प्रकृति के सिद्धान्त, मूल-उत्तरभेद, प्रकृति भेद, बन्ध, अल्पबहुत्व, स्थिति, योग, रस, उदय और गुणस्थान आदि का वैशिष्ट्य पूर्ण प्रतिपादन होने से सारोद्धार नाम सार्थक ही है जो कवि के सिद्धान्तिक ज्ञान की अगाधता और उक्ति-लाघव की ओर संकेत करता है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि कर्मजितृ महावीर को नमस्कार कर कर्मादि विचारों का संक्षेप में वर्णन करूंगा-प्रतिज्ञा करता है। पद्य २ से २२ तक कर्म बन्ध के मूल कारण— ज्ञानावरणीय, दशनावरणीय, अंतराय, मोहनीय, आयु गोत्र, वेदनीय और नाम कर्म का उल्लेख कर, प्रत्येक कर्म के भेद जो कुल १५८ होते हैं और उनका प्रकृति, स्थिति, रस तथा प्रदेश से सम्बन्ध दिखाया है। पद्य २३ से ४० में पंचेन्द्रिय जीवों में जिन प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता उन प्रकृतियों को गिनाया है। कर्म प्रकृतियों में कुछ प्रकृतियें ध्रुवोदय हैं और कुछ अध्रुवोदय हैं। ध्रुव और अध्रुव सत्तावाली कर्म-प्रकृतियां कौन-कौनसी हैं? यह गुणस्थानों की अपेक्षा बतलाया गया है। पद्य ४१ से ४८ में घाती और अघाती प्रकृतियां अपने प्रतिपक्ष सहित बतलाई गई हैं और इन प्रकृतियों के कारण का उल्लेख भी किया गया है। कर्मप्रकृतियों में कुछ प्रकृतियां शुभ हैं, कुछ अशुभ हैं और कुछ प्रकृतियां अपरावर्तमान भी हैं। पद्य ४९ से ६३

१. चर्चरी टीका पृष्ठ १९। श्री अग्रचंदजी नाहटा की सूचनानुसार स्वप्नसप्ततिका और आगमोद्धार एक ही ग्रन्थ है।

२. चर्चरी टीका पृष्ठ १९।

में कुछ प्रकृतियों पुद्गल-विपाकी, जीवविपाकी भावविपाकी और क्षेत्रविपाकी हैं, उसका कारण सहित इसमें उल्लेख है। पद्य ६४ से ७७ में मूल कर्मप्रकृतियों और उत्तर कर्म-प्रकृतियों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रिरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा बतलाई गई है। पद्य ७८ से ८४ में कर्मबन्ध होकर जब तक फलादेश शुरु नहीं होता-तब तक के समय को अबाधाकाल कहते हैं, इसका वर्णन ग्रन्थकार ने अच्छी तरह किया है। पंचेन्द्रिय जीवों में कर्म-स्थिति का अल्प-बहुत्व और जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति बन्ध के स्वामी, स्थिति का शुभाशुभत्व और उसके कारण का संक्षिप्त वर्णन है। पद्य ८५ से ८९ में योग का स्थितिस्थान, योगवृद्धि, योगोदाहरण का स्वरूप-वर्णन है। पद्य ९० से १०१ में शुभाशुभ रस बंध में क्या कारण है इसका और प्रकृतियों का स्वरूप, प्रदेश-बंध का स्वरूप तथा वर्गणा स्वरूप का वर्णन है। कर्मों और सर्वघाती प्रकृतियों का आश्रय कर प्रदेशविभाग का वर्णन किया गया है। पद्य १११ से ११३ में योग, प्रकृति प्रदेश स्थितिबन्धाध्यवसाय, स्थितिस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसाय अनुभाग और अनुभागस्थान तथा इनके अल्प-बहुत्व का वर्णन है। गोल और काल की सूक्ष्मता तथा स्थूलता भी बतलाई गई है। पद्य ११४ में श्रेणीप्रतर, घन और लोक का प्रतिपादन किया गया है। ११५ से ११७ में प्रकृति और स्थिति तथा इनके अध्यवसाय और अनुभागबन्धाध्यवसायों के असंख्यपन का वर्णन किया गया है। ११८ से १२२ में कषायों के उदय में अशुभ और शुभ, शुभ और अशुभतेस्याओं से अनुभागस्थानों के अल्पबहुत्व का वर्णन है। १२३ से १५१ में संख्यात, असंख्यात और अनंतभेदों का स्वरूप कथन है तथा संख्यात, परितासंख्यात, युक्तसंख्यात, असंख्यात, परितानंत, युक्तानंत और अनंतानंत के जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट के भेदों का कथन है। पद्य १५२ में कवि ने स्वनाम सहित उपसंहार किया है।

१५२ आर्याओं में विवेचनीय अत्यधिक वस्तुओं का अति संक्षेप होने के कारण इसका प्रचार बहुत ही हुआ प्रतीत होता है। यही कारण है कि आज भी भंडारों में इसकी सैकड़ों की संख्या में प्रतियें प्राप्त हैं - और इस पर विवेचन ग्रन्थों का तो कहना ही क्या ?

आगमिकवस्तुविचारसार-प्रकरण

इस ग्रन्थ में कवि ने पूर्वर्षि प्रणीत आगमिक जीव, मार्गणा, गुणस्थान, उपयोग और लेश्या आदि विषयों का विवेचन होने से इसका यथानुरूप आगमिकवस्तुविचारसार नामकरण किया है। इसका एक अपरनाम भी है, वह है 'षडशीति'। इस नामकरण का रहस्य यह है कि उपर्युक्त समग्र वस्तुओं का विवेचन केवल ८६ आर्याओं में ही हुआ है। इसीलिये इस वृहन्नाम का लघु संस्करण हुआ है; जो विशेष प्रसिद्ध है। कवि की उक्तिलाघवता और छन्दयोजना के सम्बन्ध में तो यहाँ लिखना व्यर्थ ही है, क्योंकि इस विषय पर अन्यत्र हमने प्रकाश डाल दिया है। इसमें आदि से अन्त तक आर्यानामक वृत्त का ही अनुकरण हुआ है।

इसमें कवि प्रथम पद्य में भगवान् पार्श्वनाथ को नमस्कार कर, द्वितीय पद्य में अपनी लघुता प्रदर्शित करता हुआ वक्ष्यमाण वस्तुओं का उल्लेख करता है। तृतीय पद्य में

१. देखिये—टीकाग्रन्थ और टीकाकार

वर्ण्य जीवस्थान की १४ संख्याओं का निदर्श करता हुआ पद्य ४ से ११ तक जीवस्थानों में गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, कर्मबन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का स्वरूप विस्तार से प्रगट करता है। पद्य १२ में मार्गणा के गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञि और आहार इन १४ स्थानों-संख्याओं का निर्देश करता हुआ (१३-१७) तक अवान्तर भेदों का दिग्दर्शन कराता है और (१८ से ६४ तक) उपर्युक्त मार्गणा के १४ स्थानों में प्रत्येक का जीवस्थानक, गुणस्थानक, योग, उपयोग, लेश्या और अल्पबहुत्व का विवेचनीय स्वरूप दिखाता है। पद्य ६५ में १४ गुणस्थानों का नाम निर्देश किया गया है। तदनन्तर (पद्य ६६ से ८५ तक) गुणस्थानक - मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र, अविरत-सम्यग्दृष्टि, देशविरति, प्रमतसंयत, अप्रमतसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिवादरसम्पराय, सूक्ष्म-सम्पराय उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगिकेवलि और अयोगिकेवलि के प्रत्येक का जीव-स्थानक, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता और अल्पबहुत्व इस प्रकार १० वस्तुओं के साथ सम्बन्ध दिखाता हुआ प्रशस्य स्वरूप प्रकट करता है और अन्तिम पद्य ८६ में उपसंहार करता हुआ अपना नाम प्रकट करता है।

इस लघु-कायिक ग्रन्थ की उपयोगिता इतनी अधिक सिद्ध हुई कि समग्र गच्छवालों ने इसे आदृत किया। केवल आदृत ही नहीं किन्तु पठन-पाठन कर महत्ता सिद्ध की। यही कारण है कि आज भी इसकी सैकड़ों की संख्या में लिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं जो इसके प्रचार को प्रकट करती हैं। इसी षडशीति के अनुकरण पर तपागच्छीय श्री देवेन्द्रसूरि ने षडशीति नामक चतुर्थ कर्मग्रन्थ की रचना की है।

३. पिण्डविशुद्धि प्रकरण

आत्म साधना की दृष्टि से पिण्ड-भोजन की शुद्धि होना अत्यावश्यक है, अन्यथा जैसा 'खावे अन्न वैसा होवे मन्न' की उक्ति के अनुसार मानसिक शुद्धि नहीं हो सकती। इसी-लिये श्रमण-संस्कृति एवं श्रमण-परम्परा में संयमी मुनियों के लिये शुद्ध अन्न का ग्रहण परमावश्यक समझा गया है। पूर्व में श्रुतधर श्रीशयम्भवसूरि ने दसवेंकालिक सूत्र में और आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने पिण्डनिर्युक्ति में इस विषय का बहुत ही विस्तृत और सुन्दर प्रतिपादन किया है। परन्तु वह विस्तृत होने के कारण कंठस्थ करने में अल्पबुद्धिवालों की असमर्थता देखकर आचार्य जिनवल्लभ ने पिण्डविशुद्धि नाम से इस प्रकरण की रचना की।

इस प्रकरण में कुल १०३ पद्य हैं। १-१०२ तक आर्याछन्द में हैं और अन्तिम पद्य शार्दूलविक्रीडित वृत्त में। इसमें ग्रन्थकार ने प्रथम और द्वितीय पद्य में नमस्कार और प्रयोजन कथन कर, ३, ४-पद्य में गृहस्थाश्रित उत्पादन के १६ दोषों का नालोल्लेख मात्र किया है और गाथा ५ से ५७ तक में इनका विस्तृत विवेचन किया है। गाथा ५८-५९ में साधु आश्रित उद्गम के १६ दोषों का नामोल्लेख है और ६०-७६ तक इनका विस्तृत विवेचन है। इस प्रकार कुल गवेषणा और ऐषणा के मिलाकर ३२ दोषों का वणन यहाँ पूरा होता है। तदनन्तर ग्रहणेषणा के १० दोषों का ७७वें पद्य में उल्लेखकर, ७८-९३ तक उनका विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। तत्पश्चात् ९३वें पद्य में भक्षण-ग्रासैषणा के पांच दोषों का उल्लेख और गाथा १०१ तक उनका विवेचन है। १०२वें पद्य में शुद्धि का निर्जरा फल और अन्तिम

पद्य में ग्रन्थकार का नामोल्लेख है। इस प्रकार भोजन-शुद्धि के ४७ दोषों का अनेकों भागों सहित विवेचन १०३ श्लोक के छोटे से प्रकरण में; वह भी आर्या जैसे लघु मात्रिक छन्द में ग्रथित करना गणिजी का उक्तिलाघव और छन्दयोजना का चातुर्य प्रकट करता है।

उक्त प्रकरण में प्ररूपित ४७ दोष निम्नलिखित हैं; जिनमें गवेषणा के १६, एषणा १६, ग्रहणेषणा के १० और ग्रासैषणा के पांच, इस प्रकार कुल ४७ होते हैं। जिनमें गृहस्थाश्रित १६ गवेषणा के दोष इस प्रकार हैं :—

१. आधाकर्म—साधु के निमित्त निष्पादित आहार आधा कर्म कहलाता है।
२. औद्देशिक—जिसका उद्देश करके बनाया गया हो वह औद्देशिक कहलाता है।
३. पूतिकर्म—पवित्र आहार में आधा-कर्म आहार का एक भी कण मिल जाय तो वह पूतिकर्म कहलाता है।
४. मिश्रजात—जो आहार साधु तथा अपने लिये सामिल बनाया गया हो।
५. स्थापना—साधु के निमित्त रक्षित आहार जो दूसरों को नहीं दिया जाता।
६. प्राभृतिका—साधु के लिये अतिथि को आगे पीछे करना।
७. प्रादुष्करण—अन्धकारमय स्थान में प्रकाश करके साधु को देना।
८. क्रीत—साधु के लिये वस्त्र, पात्र आदि वस्तुओं को खरीदना।
९. अपमित्थ—साधु के लिये भोजन आदि उधार लाकर देना।
१०. परिवर्तित—साधु को देने के लिये अपनी वस्तु का दूसरों से परिवर्तन कर, लाकर देना।
११. अभिहत—साधु के सामने जाकर आहारादि दान देना।
१२. उद्भिन्न—वर्तन के मुख पर लगे हुए लेप को छुड़ाकर, उसमें से भोजनादि निकाल कर साधु को देना।
१३. मालापहत—पीढा या सीढी लगाकर ऊपर नीचे अथवा तिरछी रखी हुई वस्तु को निकाल कर साधु को देना।
१४. आच्छेद्य—किसी दुर्बल से छीनकर साधु को आहार देना अथवा बलात्कार से दिलाना।
१५. अनिसृष्टि—दो या अनेक मनुष्यों के भागीदारी की वस्तु किसी भागीदार की आज्ञा बिना देना।
६. अध्यवपूरक—साधुओं को नगर में आये हुए जानकर बनाने में अधिक वस्तु डालना।

साध्वाश्रित एषणा के १६ दोष निम्न हैं :—

१. धात्री कर्म—धाय माता का कार्य करके आहार लेना।
२. दूती कर्म—गृहस्थों के संदेशादि पहुँचाकर दैत्यकर्म द्वारा आहार ग्रहण करना।
३. निमित्त—त्रिकाल का लाभालाभ एवं जीवन-मृत्यु आदि निमित्तशास्त्र बतलाकर आहार लेना।
४. आजीव—अपनी जाति कुल गोत्र आदि की प्रशंसा कर आहार लेना।
५. वनीपक—दीनतापूर्वक याचना कर आहार लेना।
६. विचिकित्सा—औषधोपचार कर आहार लेना।
७. क्रोध—क्रोधपूर्वक आहार लेना।

८. मान—गर्व पूर्वक आहार लेना ।
९. माया—प्रपंच पूर्वक आहार लेना ।
१०. लोभ—लोभपूर्वक अथवा लोभ दिखाकर आहार लेना ।
११. पूर्वपश्चात् संस्तव—प्रारंभ में या अन्त में दाता की प्रशंसा करना ।
१२. विद्या—विद्या सिद्धि के बल से आहार लेना ।
१३. मन्त्र—मन्त्र प्रयोग पूर्वक आहार लेना ।
१४. चूर्ण—चूर्णों का प्रयोग करना ।
१५. योग—लेपादि योग बतलाना ।
१६. मूलकर्म—गर्भपातादि के लिए औषध बतलाकर आहार लेना ।

साधु एवं भक्ताश्रित ग्रहणैषणा के १० दोष निम्न हैं :—

१. शङ्कित—साधु और गृहस्थ दोनों को ही आहार के विषय में शंका होने पर भी उस आहार को ग्रहण करना ।
२. अशिक्षित—सचित्त जल से हाथ अथवा केश जिसके भीगे हैं उस गृहस्थ के हाथ से आहार ग्रहण करना ।
३. निक्षिप्त—अकल्प्य वस्तु पर रखी हुई कल्प्य वस्तु को ग्रहण करना ।
४. पिहित—सचित्त वस्तु से आच्छादित अचित्त वस्तु को ग्रहण करना ।
५. संहृत—अकल्प्य वस्तु वाले पात्र को खालीकर उस पात्र से लेना, अथवा जिस पात्र से लेने में पश्चात् कर्म की (कच्चे पानी से धोना आदि) संभावना हो उससे ग्रहण करना ।
६. दायक—अयत्ना—अनुपयोग पूर्वक दिया हुआ आहार ग्रहण करना ।
७. उन्मित्र—अकल्प्य वस्तु से मिली हुई कल्प्य वस्तु को ग्रहण करना ।
८. अपरिणत—अपरिपक्व वस्तु को ग्रहण करना ।
९. लिप्त—तत्काल की लीपी हुई जमीन को लांघकर आहार ग्रहण करना ।
१०. छिदित—दान देते हुए आहारादि के छीटे नीचे पड़े हों उस आहार को ग्रहण करना ।

साधु को भक्षण करते समय लगने वाले श्रासैषणा के ५ दोष निम्न हैं :—

१. संयोजनाग्र—स्वाद के लिये अनेक वस्तुओं का संमिश्रण करना ।
२. प्रमाण—मर्यादा से अधिक भोजन करना ।
३. इंगाल—स्वादिष्ट भोजन की प्रशंसा करना ।
४. धूम—अहचिकर आहार की निन्दा करना ।
५. कारण—क्षुधा, वेदना, वैयावृत्य, संयम, सद्ध्ययान और प्राणरक्षार्थ आदि कारणों के बिना भोजन करना ।

४. सर्वजीवशरीरावगाहना स्तव

भगवती (विवाह प्रज्ञप्ति) सूत्र के २५वें शतक के तृतीय उद्देशक का आधार लेकर प्राकृत भाषा में ८ आर्याओं में इसकी रचना की गई है। इसका वर्ण्य विषय है—सूक्ष्म,

बादर, अपर्याप्त, पर्याप्त, ज्येष्ठ, इतर के देह भेद, तथा पांचों ही निगोद, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय देह की अवगाहना तथा इनका क्रमशः अल्प-बहुत्व का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन। गणिजी ने इस सैद्धान्तिक, एवं मार्मिक विषय को भी सरलता से प्रतिपादन करने में सफलता प्राप्त की है।

५. श्रावक व्रत कुलक

प्राकृत भाषा में २८ आर्याओं में रचित इस कुलक को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि युगप्रवरागम श्री अभयदेवसूरि के पास उपसम्पदा ग्रहण करने के पश्चात् किसी भक्त श्रावक ने आपके पास सम्यक्त्व सहित बारह व्रत ग्रहण किये थे। प्रस्तुत कुलक में यह तो स्पष्ट नहीं है कि किस संवत् में और किस श्रावक ने आपके पास व्रत ग्रहण किये थे? किन्तु यह तो स्पष्ट है कि लेने वाला श्रावक बाहड़मेरु^१ (मारवाड़) के आस-पास का निवासी था।

इसका नाम अन्य प्रति में 'परिग्रहपरिमाण कुलक' भी लिखा मिलता है, किन्तु इसमें केवल एक परिग्रह का ही परिमाण नहीं है अपितु समग्रव्रतों का है। अतः उपर्युक्त नाम उपयुक्त ही प्रतीत होता है। इसमें 'कुलक' के स्थान पर लेखक 'टिप्पनिका' नाम रखता तो अधिक उपयुक्त होता। क्योंकि इसमें त्याज्य और मर्यादित वस्तुओं का ही टिप्पन के रूप में लेखन किया है न कि वर्णन के रूप में।

प्रारम्भ में श्री महावीर को नमस्कार कर देव गुरु धर्म मूलक सम्यक्त्व सह गृहीधर्म स्वीकार करता हूँ। तृतीय पद्य में १२ व्रतों का नाम निर्देश इस प्रकार किया है :—

पांच अणुव्रत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

तीन गुणव्रत—दिक्परिमाण, भोगोपभोग, अनर्थदण्ड।

चार शिक्षाव्रत - सामायिक, देशात्रकासिक, पौषध, अतिथिसंविभाग।

पद्य ३, ४ में स्थूल प्राणातिपात, असत्य, स्तेय तथा स्वपत्नी अतिरिक्त मैथुन का त्याग करता है। पद्य ५ में बाह्य नवविध परिग्रह—धन, धान्य, क्षेत्र, वस्तु, चांदी, सुवर्ण, चतुष्पद (पशु, पक्षी), द्विपद (दास, दासी), कुप्य नाम निर्देश कर गाथा ६-८ तक इसकी मर्यादा-परिमाण का उल्लेख किया है। पद्य ९-२० में दिशा का परिमाण एवं भोग्य वस्तुओं को सीमित करता हुआ १४ नियमों को धारण कर अनर्थदण्ड का परिमाण करता है। गा० २० से २६ में, प्रति वर्ष ६० सामायिक करने की प्रतिज्ञा करता हुआ देशावगासिक, पौषध, अतिथि संविभाग, जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा, वह भी जिनेश्वर देव के पांच कल्याणक दिवसों में विशेष रूप से करूंगा ऐसा कथना करता हुआ प्रतिज्ञा करता है तथा कहता है कि प्रमादवश व्रत में अतिचार (दोष) लग जाय तो एक हजार श्लोकों का स्वाध्याय करूंगा एवं सम्पूर्ण आस्रव द्वारों का त्रिकरण तथा त्रियोग द्वारा त्याग करता हूँ।

अन्त में पद्य २७ में कवि इसकी महत्ता दिखाता हुआ कहता है कि सम्यक्त्व जिसका मूल है, अणुव्रत जिसका स्कन्ध है, गुण व्रत और शिक्षाव्रत जिसकी शाखा और प्रशाखायें हैं ऐसे गृही-धर्मरूपी वृक्ष को श्रद्धारूपी जल से सिंचन करने पर मोक्ष फल प्राप्त होता है। पद्य २८ में कवि अपना नाम प्रदान करता हुआ उपसंहार करता है।

१. बाहड़मेरु माणं पद्य १२

गाथा १२ में 'बाहड़मेरु माणं' शब्द से उस समय में प्रचलित वस्तु परिमाण-तौल सूचक का प्रयोग किया है। यह प्रयोग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। संभव है उस समय राजस्थान प्रदेश में बाहड़मेरो मान का प्रचार होगा।

६. पौषधविधि प्रकरण

विधि पक्ष के अनुयायी श्रमण वग के लिये नूतन आचार-ग्रन्थ की कोई आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि आचार-ग्रन्थ के आगम मौजूद थे। अतः उपासकों को लक्ष्य में रखकर पौषधविधि प्रकरण एवं प्रतिक्रमण-समाचारी नामक दोनों ग्रन्थों की रचना की गई है। इसीलिये कवि को मगलाचरण में यह वस्तु स्पष्ट करनी पड़ी है। कवि कहता है कि दसविध यतिधर्म का प्रकाशन करने वाले जिनेश्वर-देवों ने पौषधविधान की उपासकों के लिये प्ररूपणा की है। जो उपासक संसार से विरत होकर आत्मिक मुख का अनुभव करना चाहता है तथा जो व्रत, प्रतिमा, सन्ध्याविधि, पूजा इत्यादि श्रावकोय धर्मकृत्यों द्वारा कल्याण पथ पर अग्रसर होना चाहता है उसे चतुर्दशी, अष्टमी, पर्युषणादि पर्व-दिवसों में साधु के पास अथवा पौषधशाला या एकान्त गृहप्रदेश में पौषध अवश्य करना चाहिये।

तदनन्तर पौषध की समग्र विधि का आद्योपान्त वर्णन किया गया है जो आज भी खरतरगच्छ समाज में प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। इसलिये इसका वर्णन न कर इसमें विशिष्ट विवेचनीय विषयों का उल्लेख कर रहा हूँ।

पौषध दण्डक (पुत्रपाठ) तथा सामायिक दण्डक का शास्त्रीय विवेचन करता हुआ कवि त्रिविध-त्रिविध प्रत्याख्यान का अनेक भागों द्वारा स्थापना भी करता है जो पठनीय है। इसी प्रसंग में एक मत का उल्लेख है कि साधुओं के साथ श्रावकों को प्रतिक्रमण करना योग्य नहीं है। इस मत का शास्त्रीय प्रमाणों तथा गीतार्थ-परम्परा द्वारा खडन कर यह स्थापना की है कि श्रावकों को साधुगण के साथ प्रतिक्रमण करना चाहिये।

पौषधव्रत-धारी सभा के सन्मुख प्रवचन (व्याख्यान) दे या नहीं? इस प्रसंग को उठाकर निशीथ आदि आगमिक ग्रन्थों के उद्धरण के साथ यह प्रतिपादन किया है कि सभा में गीतार्थ श्रमणों को ही प्रवचन देने का अधिकार है। जहाँ सामान्य साधुओं के लिये भी सभा में प्रवचन देने का प्रतिबन्ध हो वहाँ उपासकों का स्थान ही कहां आ सकता है? हां, वह पौषधव्रतधारी गीतार्थ श्रमण के अभाव में कैसे उपदेश दे सकता है किन्तु सभा के सन्मुख प्रावचनिक पद्धति से नहीं। जो इस आज्ञा-धर्म का उल्लंघन करता है उसके लिये कवि कहता है कि वह अनर्थभाषी और शासन-विराधक है।

चैत्य में मध्याह्न-काल का देववन्दन करने के पश्चात् यदि उपासक 'आहार पोसही' हो तो जो प्रत्याख्यान एकासन, निवी, अथवा आयम्बिल का किया हो, वह पूर्ण करे। यहाँ 'आहार-पोसही' शब्द पर कई विपक्षियों ने खरतरगच्छ की वैधानिक-परम्परा को अवैधानिक ठहराने के लिये सेनप्रश्न—“पौषधविधिप्रकरणे श्राद्धानां पौषधमध्ये जेमनाक्षारदर्शनात्” (पृ० ४) का प्रमाण कर वातावरण को दूषित करने का जो प्रयत्न किया है वह वस्तुतः गर्हणीय है। ये

लीग भूल जाते हैं कि लेखक ने पूर्व में लिखा है—“पादोन पौरुषी व्यतीत होने पर पडिलेहन करूँ का आदेश लेकर, भण्डोपकरण अर्थात् थाली, कटोरा आदि पात्रों की प्रमार्जना करे।” उपधान-तप आदि बड़ी तपस्याओं में ही भोजन पात्र रखे जाते हैं, सामान्य एक दिवस के पौषध में नहीं। इसीलिये तो लेखक को पुनः “जो पुण आहारपोसही देसओ” शब्द लिखने पड़े। अतः किसी लेखक के लिखित पूर्वापर वाक्यों को छोड़कर स्वप्रयोजनीय शब्दों को ग्रहण करना और अपने झूठे मत का प्रतिपादन करना क्या विज्ञों के लिये योग्य कहा जा सकता है? क्या इन शब्दों से कहीं भी स्पष्ट है कि पर्वतिथि के अतिरिक्त दिवसों में भी पौषध में भोजन करना चाहिये?

पौषधव्रती राग और द्वेष की परिणति से रहित होकर शास्त्रीय नियमानुसार अपने घर पर अथवा पूर्व निश्चित स्थान पर जाकर भोजन करे। भोजन के लिये एकादश प्रतिमाधारक व्यक्तियों को छोड़कर श्रमण की तरह भ्रमण न करे; क्योंकि वह धर्म की लघुता करने वाला है तथा पिण्ड-विशुद्धि का ज्ञान न होने से एवं उपयोग का अभाव होने से शास्त्रों में इसका पूर्ण-तया निषेध किया गया है।

सन्ध्याकालीन विधि पूर्ण होने पर रात्रि संस्तारक की विधि करके अनित्यादि भावनाओं द्वारा संसार, लक्ष्मी, यौवन तथा गर्व की नश्वरता पर विचार करता हुआ, सम्पूर्ण ऐहिक वस्तुओं का त्याग कर, जिनेश्वर का शरण स्वीकार कर शयन करे। रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठकर ष प्रहर पूर्ण हो गये हों तो सामायिक ग्रहण कर स्वाध्याय ध्यान करे। पश्चात् प्राभातिक प्रतिक्रमण करे, प्रतिलेखन करे। पौषध पारने की इच्छा हो तो त्रिविधयोग से अनुष्ठान में अतिचार लगा हो उसकी चिन्तवना करता हुआ ‘भयवं दसणभद्दो’ के पाठ से पौषध की विधि पूर्ण करे।

तदनन्तर उपासक का यह नियम है कि पूज्य श्रमणों को आहार-भोजन का दान देकर स्वयं भोजन करे अन्यथा दोष का हेतु है। अतः साधु समीप जाकर विनय विवेक पूर्वक उनको अपने साथ लेकर अपने घर पर आवे और भक्ति-पूर्वक उन्हें भोजन का दान देकर पारणा करे। यदि वहाँ सुविहित साधु न हो तो देशकालोचित कर्त्तव्य करे तथा मन में यह विचार करता हुआ कि गीतार्थ साधु होते तो मेरा संसार से निस्तार हो जाता तथा मेरा जीवन कृतार्थ हो जाता:—

संविग्गा सोवएसा गमनयनिउणा खित्तकालाणुरुवा-
णुट्टाणा सुद्धचित्ता परसमयविऊ मच्छरुच्छेयदच्छा ।
सम्म सुत्तजुत्तीजुयवयणहयातुच्छमिच्छत्तवाया,
साहू मे एज्ज गेहे जह कइवि तम्मोऽहं कयत्थो भविज्जा ॥

अन्त में इसका मोक्षफल दिखलाते हुए कवि स्वयं का नाम सूचित करता हुआ सुविहित पथ की पौषधविधि का उपसंहार करता है।

७. प्रतिक्रमण-समाचारी

कवि देवेन्द्रवृन्दवन्दित श्रीमहावीर को नमस्कार कर प्रतिक्रमण-समाचारी प्रकट करता है। द्वितीय पद्य में पंचविध आचार की विशुद्धि के लिये साधु और श्रावक को सर्वदा गुरु

के साथ प्रतिक्रमण का विधान करता है। प्रतिक्रमण पांच प्रकार के होते हैं—१. रात्रि २. दैवसिकी, ३. पाक्षिक ४. चातुर्मासिक और ५. सांवत्सरिक। पद्य ३ से २४ तक कवि दैवसिक प्रतिक्रमण की विधि का वर्णन करता है और पद्य २५-३३ में रात्रि प्रतिक्रमण का। पद्य ३५-३६ तक में अवशिष्ट तीनों प्रतिक्रमणों की विशिष्ट विधि का उल्लेख करता हुआ पद्य ४० में अपना नाम देकर उपसंहार करता है।

कवि ने दैवसिक प्रतिक्रमण का विधान 'देवसिय प्रायश्चित्त कायोत्सर्ग' तक ही दिया है तथा रात्रि-प्रतिक्रमण का अन्तिम देववन्दन तक। स्पष्ट है कि वार्तमानिकी विशेष क्रियायें गुरु-परम्परा मात्र की ही बोधक हैं।

८. द्वादशकुलक

कवि ने अपना जीवन केवल वैधानिक-चर्चाओं और प्रौढ-साहित्यिक रचनाओं में ही नहीं बिताया है। वह धर्म प्रचार का लक्ष्य भी रखता है। इसीलिये उसने द्वादशकुलक और धर्मशिक्षा प्रभृति औपदेशिक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। सर्वत्र स्थलों में स्वयं का विचरण असंभव है, स्वीकार कर अन्य प्रदेशों में उपदेशों के साथ-साथ वैधानिक सुविहित-पद्य का भी प्रचार हो इस दृष्टि को लक्ष्य में रख कर, गणदेव नामक उपासक को साहित्य-प्रचारक बना कर, प्रस्तुत ग्रन्थ-निर्माण कर, बागड देश में प्रचारार्थ भेजा। जैसा कि जिनपालो-पाध्याय कहते हैं:—

धर्मोपदेशकुलकाङ्कितलेखसारं; श्राद्धेन बन्धुरधिया गणदेवनाम्ना ।

प्राबोधयत् सकलवाग्जदेशलोक, सूर्योऽरुणेन कमल किरणैरिव स्वैः ॥

(द्वादशकुलक वृत्ति मं० १०)

इस ग्रन्थ में कुल १२ कुलक हैं और ये सभी कुलक परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी मौलिक काव्य की तरह स्वतंत्र भी हैं। इसीलिये कवि ने इस ग्रन्थ का नाम भी द्वादशकुलक रखा है। प्रस्तुत ग्रन्थ औपदेशिक होने पर भी कवि ने अपनी स्वाभाविक प्रतिभा से, लाक्षणिक दृष्टि से लिख कर इसे प्रासाद एवं माधुर्य गुणमय काव्य का रूप प्रदान कर दिया है। इसका पठन करने पर पाठकों को उपदेश के साथ-साथ काव्य-गरिमा का आस्वादन भी होता है।

प्रत्येक कुलक भिन्न-भिन्न छन्दों में है और पद्य संख्या भी सब की पृथक्-पृथक् है जिसका वर्गीकरण निम्न प्रकार है:—

कुलक संख्या	पद्य संख्या	छन्द
१.	२१	१—२० उपजाति; २१वां मालिनी
२.	२१	१—२० आर्या; २१वां मालिनी
३.	१६	१, ३—११, १३—१५ शार्दूलविक्रीडित; २, १२ स्रग्धरा तथा १६वां आर्या
४.	२५	१—२५ आर्या
५.	३१	१, २, ५—११, १३—१६, १८—२३, २६—२८,

कुल संख्या	कर्म संख्या	छन्द
		३१ आर्या; ३ शार्दूलविक्रीडित; ४ मालिनी; १२ वसन्ततिलका; १७ मन्दाक्रांता,
६.	१०	आर्या
७.	१५	आर्या
८.	३३	आर्या
९.	२६	मालिनी
१०.	११	१-१० वसन्ततिलका; ११ शार्दूल विक्रीडित; अन्तिम पद्य संस्कृत में ।
११.	८	१-७ मालिनी; ८ स्रग्धरा,
१२.	१६	आर्या

प्रथम कुलकः—इसमें श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, गुणागार, धर्मोद्यत उपासकों को उपदेश दिया गया है। परन्तु सर्वप्रथम यह बताया गया है कि धर्मोपदेश श्रवण का अधिकारी कौन है? अधिकारी का निर्णय करने के पश्चात् उसके आचरण करने योग्य धर्ममय औपदेशिक तत्त्वों का निदर्शन किया गया है।

द्वितीय कुलकः—कदली पत्र पर स्थित जलबिन्दु के समान जीवन, धन, यौवन और स्वजन-संयोग क्षणिक समझकर, निपुणबुद्धि के साथ कुग्रह का त्याग कर, निर्वाण सुख के अनन्य कारणभूत भवनेर्गुण्य की विचारणा करे। वर्तमान समय में श्रुतधरों का अभाव है, अतः तत्प्ररूपित आगमानुसार ही सद्गुरु की उपासना, धर्माराधन, जिनपूजन आदि सत्कृत्यं करे; जिससे प्राप्त मानुष्यादि सामग्री का सदुपयोग हो और भवबन्धन का नाश हो।

तृतीय कुलकः—जन्म मृत्यु के आवर्तन से पूर्ण इस भवोदधि में यौवन, जीवन, लावण्य लक्ष्मी, भोगसुख, कामिनी, राज्य परिवार आदि इहलौकिक समग्र वस्तुयें जल बुद्-बुद् के समान नश्वर हैं तथा वियोग, शोक एवं दुःख के भंडार हैं। अतः संविग्न-मार्गानुसार सम्यक्त्व युक्त पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत रूपी सद्धर्म कल्पवृक्ष को श्रद्धामय जल से सिंचन करे। त्रिकाल चैत्य-वन्दन, दान, इन्द्रियदमन, पंचभावना, स्वधर्मा-वात्सल्य आदि सत्कृत्यों को निष्काम भाव से तथा मात्सर्य, मोह एवं लोभ रहित होकर करे, जिससे भव का नाश हो।

चतुर्थ कुलकः—राग और द्वेष रूपी भुजंगों से परिपूर्ण इस संसार समुद्र के भीतर चतुर्गतियों में भ्रमण करते हुए, यह दश दृष्टान्तों से दुर्लभ मनुष्यभव तुझे प्राप्त हुआ है। अतः प्रमाद का त्याग कर। प्रमाद जीवन का एक महाशत्रु है जो तुझे इस संसार में परिभ्रमण कराता है। कदाग्रह का त्याग करके विधि अनुसार आचरण करने वाले साधुजनों की सम्यक् प्रकार से सेवा-शुश्रूषा कर। चारित्र्य का पालन कर। अंतरंगशत्रु राग-द्वेष क्रोधादि कषायों का दमन कर। दाक्षिण्यादि भावनाओं का पालन कर। आयुष्य अत्यल्प है, आचरण अत्यधिक है अतः सुसंयोगों से प्राप्त सद्गुरु की अध्यात्मता में पूर्णरूपेण धर्माराधन कर, जिससे तेरा कल्याण हो।

पंचम कुलकः—निगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि संसार की समस्त योनियों

में परिभ्रमण करते हुए तुझे यह मानुषभव प्राप्त हुआ। यह जीवन आशा, चिन्ता, रोग, शोक, वियोग, संताप आदि दुःखों से भरा हुआ है। अनन्त सागरोपमों तक भ्रमण करते हुए पुण्य सञ्चय के कारण श्रेष्ठकुल, सद्गुरु आदि की तुझे प्राप्ति हुई है। अतः अनिवृत्तिकरण द्वारा मिथ्यात्व की ग्रन्थि का छेदन करके गुणस्थानों की श्रेणि का आलंबन लेकर आत्मसिद्धि कर। कुनयों और कदाग्रहों का त्याग कर, अन्यथा ग्रहण किया हुआ चारित्र्य भी प्रमाद और आश्रवों के कारण संसार में परिभ्रमण का हेतु मात्र ही होगा। इसलिये शास्त्रमर्यादानुसार दान-शीलादि धर्म जो गीताथ-परम्परा द्वारा मान्य हैं वे सुगुरु के आदेशानुसार पालन कर, धर्मा-राधन कर, जिससे तुझे मोक्षलाभ हो।

षष्ठं कुलक :—धनादि में ममत्व संसार वृद्धि का हेतु है। अतः उस पर से ममत्व हटा कर उसका श्रेष्ठ कार्यों में सदुपयोग कर। अन्यथा यह लक्ष्मी १८ पापस्थान की भूमिका होने के कारण तुझे दुर्गति प्राप्त करावेगी। शास्त्रसम्मत सम्पूर्ण श्रेष्ठ कार्य सुगुरु की अध्यक्षता में राग रहित होकर आचरण कर जिससे मोक्षसुख का लाभ तुझे प्राप्त हो।

सप्तम कुलक :—अनंतकाल तक संसार में परिभ्रमण करते हुए त्रसत्व, नरत्व, श्रेष्ठ क्षेत्र, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, पूर्णायुष्य आदि अति दुर्लभ सामग्री अत्यन्त पुण्योदय से तुझे प्राप्त हुई है। इसलिये, यदि तू साधुधर्म पालन करने में अपने को असमर्थ समझता हो तो श्रावक-धर्म का पालन कर। विधिपूर्वक त्रिकाल चंत्यवन्दन, सुगुरु सेवा, धर्मश्रवण, जिनपूजा, सुपात्रदान, उपधान आदि तप तथा स्वाध्याय आदि उत्तम कृत्यों की आराधना कर। संसार की असारता का विचार करके आश्रव के कार्यों का त्याग कर। मोह-ममत्व का त्याग कर। हृदय में जिनमत का शुद्ध स्वरूप देख; जिससे तेरा भवभ्रमण का चक्र समाप्त हो जाय।

अष्टम कुलक :—मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद आदि कर्म-बंधन एवं भवबंधन के हेतु हैं उनको तथा इनसे उपाजित भयंकर फलों को ज्ञान पूर्वक त्याग कर, अन्यथा तुझे प्राप्त सुगुरु की प्राप्ति आदि सारी उत्तम सामग्री व्यर्थ हो जायगी। इसलिये मार्गानुसारिता स्वीकार कर के अप्रमत्ततया धर्माचरण कर, जिससे तुझे शिवसुख प्राप्त हो।

नवम कुलक :—हुण्डा अवसर्पिणी काल पंचम आरक, भस्मराशि ग्रह आदि अनेक पापग्रहों के कारण जहां धर्म सामग्री का बीज ही मिलना दुष्कर है वहां तुझे जो उत्तम-उत्तम सामग्रियां प्राप्त हुई हैं उनका तू त्याग न कर। कुगुरुओं का भक्त न हो। उन्मार्ग का अनुयायी न बन। प्रमाद धारण न कर। गीताथ गुरुपरंपरा का त्याग न कर, अन्यथा चारों गति का भ्रमण पुनः तुझे घसीटेगा और तू चिन्तामणी रत्न को यों ही खो देगा। इसलिये प्रमाद त्याग करके निष्ठा और श्रद्धा पूर्वक सुविहित पथ दर्शित सम्पूर्ण विधि-विधानों का अनुष्ठान कर, जिससे तू अभय पद प्राप्त कर सके।

दशम-एकादश कुलक :—यदि तू सुखाकांक्षी है और अक्षयपद प्राप्त करना चाहता है तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र्य, सद्गुरु-सेवा तथा गीताथ परंपरा का पूर्णरूपेण पालन कर। दुर्गति के कारण भूत कुगुरु, उन्मार्ग आचरण, काम-क्रोधादि कषाय, मिथ्यात्व, कुतीर्थी-संसर्ग, शंका, विषय आदि जितने अंतरंग जीवन के शत्रु हैं उनका पूर्णरूपेण दमन कर, जिससे तू अचिन्त्य मोक्षरूपी कल्पवृक्ष को प्राप्त कर सके।

द्वादशम कुलक :— काल की विचित्रता में श्रेष्ठ श्रुतधरों का अभाव होने से और अपने गुरुकर्मपिन से आज बहुत लोग जिनमत तथा साधु धर्म का ज्ञान होने पर भी एवं श्रेष्ठ धर्म अंगीकार कर लेने पर भी आजीविका के भय से कषायादि अन्तरंग शत्रुओं को प्रोत्साहन दे रहे हैं। धर्म के नाम पर स्वच्छंद आचरण कर रहे हैं। अपनी आत्मा को कषाय विष से नाश कर रहे हैं और गारव धारण कर रहे हैं। आह!!! ये सब महा मोह का प्रभाव है। इसलिये भव्य को सुबुद्धि पूर्वक शठभाव का त्याग कर, सिद्धान्त का परमार्थ जानकर, कषाय भावों का पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिए, जिससे तू बुद्धिमानों का पूज्य हो सके।

९. धर्म शिक्षा प्रकरण

कवि ने इस काव्य की सृष्टि भव्यजीवोपकारार्थ ही की है। यह श्लोक संख्या की अपेक्षा तो अत्यन्त ही लघु काव्य है किन्तु प्रमाद और ओज संयुक्त होने से इसकी कोमल-कान्त-पदावली, चैत्रिक गरिमा, अलंकारों का सम्मिश्रण तथा विविधतामयी छंद योजना इसको एक विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं।

प्रस्तुत काव्य में जीवन में आचरणीय १८ विषयों का प्रतिपादन बहुत ही मार्मिक शैली से किया गया है। प्रस्तुत अठारह विषयों में देव गुरु और धर्म तीनों की प्रमुखता बतलाते हुए इनकी आराधना-पद्धति, तज्जनित फल और सांसारिक पदार्थों की नश्वरता से उत्पन्न दुःख तथा उनके निवारण के हेतुओं का विवेचन बहुत ही सरल शब्दों में किया गया है। १८ विषय निम्नलिखित हैं :—

भक्तिश्चैत्येषु शक्तिस्तपसि गुणिजने सक्तिरर्थे विरक्तिः,
 प्रीतिस्तत्त्वे प्रतीतिः शुभगुरुषु भवाद् भीतिरुद्धात्मनीतिः।
 क्षान्तिः दान्तिः स्वशान्तिः खहतिरबलावान्तिरभ्रान्तिराप्ते,
 ज्ञोप्सा दित्सा विधित्सा श्रुत-धन-विनयेष्वस्त्रुधिः पुस्तके च ॥

इसमें कवि ने प्रथम पद्य में जिनेश्वर को नमस्कार कर काव्य कहने की प्रतिज्ञा की है। दूसरे पद्य में मानवभव की दुर्लभता बतलाते हुए महाकुलीन भव्यों को धार्मिक कर्तव्य करने का उपदेश दिया है। तीसरे पद्य में १८ प्रसंगों का नामोल्लेख कर पद्य ४ से ३६ तक में प्रत्येक विषय का दो-दो पद्यों में प्रतिपादन किया गया है। प्रथम और अन्तिम पद्य चक्रबन्ध काव्यरूप में है जिसमें कवि ने अपना नाम 'जिनवल्लभगणिवचनमिदम्' और 'गणिजिनवल्लभ-वचनमदः' सूचित किया है।

इस परिपाटी की रचना श्वेताम्बर जैन साहित्य में सम्भवतः सर्वप्रथम आचार्य जिनवल्लभ ने ही की है। इसके अनुकरण पर तो परवर्ती कवियों ने अनेक रचनायें की हैं जिनमें सोमप्रभाचार्य प्रणीत सिन्दूरप्रकर आदि मुख्य हैं।

१०. सङ्घ पट्टक

इस काव्य की रचना में गणिजी के जीवन का चरमोत्कर्ष निहित है। उपसम्पदा के पश्चात् आपने चैत्यवास का सक्रिय विरोध कर उसके आमूलोच्छेदन करने का प्रयत्न किया

और इस प्रयत्न में इनको पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। गणिजी ने इस लघु काव्य में तत्कालीन चैत्यवासी आचार्यों की शिथिलता, उनकी उन्मार्ग-प्ररूपणा और सुविहितपथप्रकाशक गुणिजनों के प्रति द्वेष इत्यादि विषय का सुन्दर चित्र उपस्थित करते हुए विधिपक्ष (खरतर-गच्छ) के व्यावहारिक आचार का विवेचन किया है। संघ (विधिपक्ष) का पट्टक (विधानशास्त्र) होने से कवि ने इसका नाम भी संघपट्टक किया है।^१

इस काव्य में ४० पद्य हैं। उनमें प्रथम श्लोक में श्री पार्श्वनाथ को नमस्कार कर 'विज्ञों को कुपथत्याग करने का' उपदेश देकर दूसरे पद्य में श्रोताओं की योग्यता का निरूपण किया है। ३४ पद्य में उपमाओं द्वारा चैत्यवासियों को 'जिनोक्तिप्रत्यर्थी' सिद्ध करते हुए पांचवें पद्य में १. औद्देशिक भोजन, २. जिनगृह में निवास, ३. वसतिवास के प्रति मात्सर्य, ४. द्रव्य संग्रह, ५. भक्तों के प्रति ममत्व, ६. चैत्य स्वीकार (चिन्ता), ७. गद्दी आदि का आसन, ८. सावद्य आचरण, ९. सिद्धान्तमार्ग की अवज्ञा और १०. गुणियों के प्रति द्वेष का विवेचन किया है। इस प्रकार वक्ष्यमाण दस द्वारों^२ का उल्लेखकर पद्य ६ से ३६ तक इनका विशद विवेचन किया गया है। पद्य ३४, ३५ में ग्रन्थ रचना का कारण कह कर पद्य ३६-३८ में सुविहित साधुवृन्द के पवित्र आचार की प्रशंसा की है। पद्य ३८ में चित्रकाव्य द्वारा 'जिनवल्लभगणिनेदं चक्रे' कहकर अपना चित्रालङ्कार प्रेम प्रदर्शित किया है। पद्य ३९, ४० में चैत्यवास को भस्मकम्लेच्छसैन्य की उपमा प्रदान कर उसकी भर्त्सना करते हुए उपसंहार किया गया है।

इस लघु काव्यात्मक वैधानिक एवं चार्चिक ग्रन्थ में भी गणिजी ने निदर्शना, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, तुल्ययोगिता, रूपक, उपमा, अनुप्रासादि अलंकारों तथा स्रग्धरा आदि ८ प्रकार के छन्दों के प्रयोग द्वारा अपनी बहुमुखी प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है। समग्र काव्य ओज गुण से परिपूर्ण होने के कारण पाठक के हृदय को पुलकित करता है। इसमें आये हुए छन्दों का वर्गीकरण इस प्रकार है:—

स्रग्धरा—१, ४, ७, ९, २१, ३०, ३५, ३७। शार्दूलविक्रीडित—२, ५, ६, १०, १३-१७, २२-२६, ३१-३३, ३८, ४०,। मालिनी—३, ११, ३६। द्विपदी—१८-२०। शिखरिणी—६६। मन्दाक्रान्ता—३४। पृथ्वी—१२। वसन्ततिलका—८।

११. स्वप्न सप्तति

जिनपालोपाध्याय ने जिनवल्लभभूरि प्रणीत ग्रन्थों में स्वप्नसप्तति का उल्लेख किया है किन्तु यह ग्रन्थ अद्यावधि अप्राप्त था। शोध करते हुए सन् १९६७ में इसकी एक टीका सहित पाण्डुलिपि राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, शाखा कार्यालय बीकानेर के श्रीपूज्य श्री जिन

१. सङ्घस्य पट्टकरूपे श्रीसङ्घराज्यपट्टकशास्त्र चकार। (साधुकीर्ति ग्रन्थचूरि)

२. यत्रौद्देशिकभोजनं जिनगृहे वासो वसत्यक्षमा,

स्वीकारोर्थगृहस्थचैत्यसदनेष्वप्रेक्षिताद्यासनम्।

सावद्याचरितादरः श्रुतपथाऽवज्ञा गुणिद्वेषधीः,

धर्मः कर्महरोऽत्र चेतपथि भवेन्मेरुस्तदाब्धौ तरेत् ॥५॥

चारित्रसूरि संग्रह में प्राप्त हुई। संग्रह का ग्रन्थांक २६४ है और पत्रांक २३२ से २५६ तक स्वप्नसप्तति टीका का आलेखन है। प्रति का लेखन-काल सं. १४१८ है और यह प्रति श्री कीर्तिरत्नसूरिशिष्य श्री कल्याणचन्द्रोपाध्याय की है ऐसा पत्रांक १८५ पर उल्लेख मिलता है।

यह टीका तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में, गाथा १ से गाथा ३६ तक मूल ग्रन्थ का प्रतीक देते हुए विस्तृत टीका दी गई है। दूसरे भाग में, प्रारम्भ की ३६ गाथाओं में से स्वप्नफलप्रतिपादक ८ वीं गाथा से २६ वीं गाथा तक, अर्थात् १९ मूल ग्रन्थ की पूर्ण गाथायें देते हुए पुनः उनकी टीका दी गई है और अन्त में 'कृतिः श्रीजिनवल्लभसूरेः' का उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही जिनपालोपाध्याय प्रणीत २८ गाथायें देते हुए लिखा है "इति गजादिस्वप्नाष्टकफलप्रतिपादकगाथासमस्तार्थः समाप्तः। कृतिर्वा जिनपालगणिरिति।" इससे यह स्पष्ट है कि द्वितीय भाग की टीका जिनपालोपाध्याय प्रणीत है। तीसरे भाग में, गाथा १ से ३५ तक, पूर्ण गाथायें देते हुए उनकी सक्षेप में टीका दी गई है। अन्त में 'स्वप्नसप्ततिटीका समाप्ता' लिखा है। टीकाकार का नाम नहीं दिया गया है।

प्रथम भाग की ३६ गाथायें और तीसरे भाग की ३५ गाथायें अर्थात् ७१ गाथाओं में यह ग्रन्थ पूर्ण होता है जोकि नाम से स्पष्ट है। तीनों भागों की टीका-रचना शैली पृथक्-पृथक् होने से यह तो स्पष्ट है कि तीनों ही टीकाकार अलग-अलग हैं। प्रथम और तृतीय भाग के टीकाकार अज्ञात हैं एवं दूसरे भाग के टीकाकार जिनपालोपाध्याय हैं। आश्चर्य है कि किसी भी टीकाकार ने टीका के प्रारम्भ में या अन्त में कोई मंगलाचरण या प्रशस्ति नहीं दी है। टीकाकारों ने टीका का प्रारम्भ भी अजूठे ढंग से किया है, मानों किसी अन्य ग्रन्थ की टीका करते हुए प्रसंगवश इसकी भी टीका कर रहे हों, यथा—'अधुना क्रियाविकलस्यापि भावस्य प्राधान्यं दर्शयन् दृष्टान्तमाह।'

आचार्य जिनवल्लभ ने सार्द्धशतक, षडशीति, अष्टसप्ततिका, प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकादि ग्रन्थों के समान ही ७१ गाथा के इस ग्रन्थ का नाम भी स्वप्नसप्तति या स्वप्नकसप्तति रखा है। श्री अगरचन्द्रजी नाहटा की सूचनानुसार इसका नाम 'आगमोद्धार' भी है।

जिनवल्लभ के प्रायः समस्त ग्रन्थों में, प्रारम्भ में मंगलाचरणात्मक तीर्थंकरों को नमस्कार और ग्रन्थान्त में स्वयं का नाम प्राप्त होता है, किन्तु स्वप्नसप्तति में इन दोनों का अभाव है।

ग्रन्थ का सारांश

दुषम काल में पूर्ण चारित्र धर्म के अभाव में भी सम्यक् (सुविहित) मार्ग पर चल कर, यथाशक्ति अनुष्ठान करने वाले भव्यजीव सिद्धान्तक्रिया से मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

भगवान् महावीर ने कहा है कि दुषमकाल के अन्तिम समय में, श्री दुष्पसहसूरि तक छेदोपस्थान चारित्र रहेगा। अतः इस दुषमकाल में उक्त चारित्र का अभाव मानना व्यामोह मात्र है। तीर्थंकरों की विद्यमानता में भी आज्ञाबाह्य एवं जिनवचन-विराधकों को उक्त चारित्र कदापि नहीं होता है। अतः भव्यों को चारित्र के प्रति यथाशक्य प्रयत्न करना चाहिये और व्यामोहित गतानुगतिकमार्ग का त्याग कर, जिनाज्ञा एवं आगमसम्मत चारित्र धर्म का विचार,

प्रमाणीकरण तथा उस पर स्थिरता करनी चाहिये ।

शिथिलाचारियों का आगमविरुद्ध आचरण और व्यवहार बहुजन-सम्मत होने पर भी तिरस्करणीय है । यह प्रवृत्ति निन्द्य होने पर भी कतिपय आगम के जानकार आचार्यों ने इसका विरोध या निषेध क्यों नहीं किया है ? इसका समाधान पूर्वाचार्यों द्वारा शास्त्रों में दर्शित इस प्रसंग (कथानक) से किया है ।

दुषम सुषम नामक चौथे आरे के अन्त में किसी राजा (पुण्यपाल) ने आठ स्वप्न देखे और समवसरण में जाकर श्रमण भगवान् महावीर से इन स्वप्नों का फल पूछा । आठ स्वप्न निम्नांकित है :—

१. जीर्ण-शीर्ण शाला में स्थित हाथी, २. चपलता करता हुआ बन्दर, ३. कण्टकों से व्याप्त क्षीरवृक्ष, ४. कौआ, ५. सिंह मृत होने पर भी भयदायक, ६. अशुचिभूमि में उत्पन्न कमल, ७. ऊपर क्षेत्र में बीजवपन, और ८. म्लान स्वर्णकलश ।

भगवान् महावीर ने इन स्वप्नों का फल अनिष्टकारक बतलाते हुये कहा कि— काल के प्रभाव से भविष्य में देव मन्दिरों में शिथिलाचारी निवास करेंगे । वे विकथा करेंगे, आयतन विधि का त्याग कर अविधिमार्ग का अवलम्बन ग्रहण करेंगे, भग्न परिणाम वाले होंगे, और आगमज्ञ विरल साधुओं का समादर नहीं होगा ।

चपल बन्दर के समान अल्प सत्त्व वाले एवं चलितबुद्धि वाले सहयोगियों से प्रेरित होकर बहुत से गच्छवासी आचार्य भी निन्द्य कर्मानुष्ठान करने लगेंगे और उनकी अनुचित प्रवृत्ति से प्रवचन की हंसी होगी । उद्यत विहारी साधुओं की वे पार्श्वस्थ निन्दा करेंगे जिससे कि आगमज्ञ या तो निन्द्यानुष्ठान का आचरण करें या गच्छ को त्याग कर चले जावें ।

आगमज्ञ सुसाधुओं के विचरण योग्य सत्क्षेत्रों का अभाव सा हो जाने पर, अधिक त्रस्त होकर वे जनरंजन का मार्ग ग्रहण कर लेंगे । कलहकारी पार्श्वस्थों की वृद्धि होगी, अर्थात् कल्पवृक्षरूपी धर्म का स्थान बबूल-कण्टक वृक्ष ग्रहण करेगा ।

कौए के समान अतीव वक्र बुद्धि वालों से व्याप्त होने पर, शुद्ध प्रज्ञा वाले भी मूढ़ हो जायेंगे और उनके सम्पर्क से अधर्माचरण की ओर प्रवृत्त होंगे ।

सिंह के समान जिन-प्रवचन भी कुतीर्थिक एवं शिथिलाचारी श्वापदों के आघातों से व्याकुल होकर निष्प्राण-सा हो जायगा । ऐसे समय में प्रवचनप्रत्यनीक कीड़े सियार आदि इसे नोच-नोच कर खायेंगे । इस प्रकार के विकट समय में भी कतिपय आगमज्ञ क्रियाधारियों से ये अधम सियार सहमते रहेंगे ।

कमलोत्पत्ति तुल्य धर्मक्षेत्र एवं शुद्ध कुल वाले भी दुराचारियों की संगति से अपना स्वरूप त्याग देंगे । अधर्मरूपी क्षेत्र तथा नीचकुलीय निन्द्य व्यक्तियों की प्रतिष्ठा बढेगी ।

श्रद्धालु उपासक भी कुसमय और पार्श्वस्थों की संगति से, अधर्माचारियों को सुपात्र समझ कर दानादि देंगे ।

ज्ञान एवं चारित्र्य धारक भी दुस्संग के कारण बहुलता से हीनाचारी हो जायेंगे । प्रसंगोपरान्त ग्रन्थकार का मन्तव्य है कि—

विशुद्ध रत्नों के समान सर्वज्ञ प्रणीत शुद्ध धर्म के ग्राहक एवं पालक अल्प ही होते हैं, अतः श्रमण एवं उपासकों को शिथिलाचारियों एवं कुतीर्थियों के धर्म का त्याग करना चाहिये। इस काल में शुद्धधर्म का पालन अति दुष्कर है - ऐसा उन्हें नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत संसार-दुःखनाशन हेतु शुद्धधर्म का अप्रमत्त होकर आराधन करना चाहिये। इसी से भविष्य में मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अन्यथा विपरीत आचरण करने से चैत्यद्रव्योपयोगी संकाश श्रावक एवं चैत्यवासी देवसाधु की तरह अन्तकाल तक भव-भ्रमण करना पड़ेगा।

अतः भव्य श्रद्धालुओं को जिन-गृहों में थूकना, ताम्बूल खाना, विकथा करना, आसन-पाट पर बैठना, सोना, खाना-पीना, हंसी मजाक करना, स्त्रियों के साथ नर्मालाप करना, देवद्रव्य का स्वयं के कार्यों में उपभोग करना, रात्रि में नाच-गान करवाना आदि निषिद्ध क्रियाओं का तथा आशातनाओं त्याग का कर शास्त्रोक्त पूजा-अर्चनादि करनी चाहिये जिससे कि कल्याण हो।

कृति के उत्तरार्द्ध भाग (पद्य ३७-७०) में कवि का लेखन है कि—

इस हुण्डावसर्पिणी काल में दशम आश्चर्य रूप असंयत पूजा और भस्म राशि ग्रह के प्रभाव से शास्त्रोक्त क्रिया एवं आचार का पालन करने वाले सुसाधुजन अत्यल्प होंगे और वेषधारी पार्श्वस्थ-कुशील आदिकों की बहुलता रहेगी। ये लोग जिनशासन और प्रवचन के लिये असमाधिकारक होंगे और स्वयं के लिये वे कलहकारी एवं डमरकारी होंगे। ये पार्श्वस्थ शास्त्रों की आड में मन्दिरों में निवास की उपयोगिता बताते हुए सिद्धान्त विपरीत आचरण करेंगे और समाज को भी उसी गड्ढे में धकेलेंगे, इससे इनके भवभ्रमण की वृद्धि होगी। इस प्रकार चैत्यवासी-शिथिलाचारियों की मान्यता और प्ररूपणा को शास्त्रविरुद्ध होने से त्याज्य, निन्द्य, गर्हणीय कहकर, मखौल उडाते हुये सुविहित धर्म की ओर भव्यों को आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। अन्त में श्रद्धालुओं को उपदेश देते हुये कहा है—

जिनेन्द्रभाषित श्रौष्ठ अनुष्ठान जो तुम्हारे लिये शक्य है उसे पूर्णशक्ति एवं पराक्रम के साथ पालन करो और जो विशिष्ट धर्म-सहनन आदि के कारण अशक्य है तो उसके प्रति हृदय में श्रद्धा एवं बहुमान रखो तथा शुद्ध प्ररूपणा करो, जिससे तुम्हें सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हो।

१२. अष्ट सप्तति : चित्रकूटीय वीर-चैत्य-प्रशस्ति

इस कृति में कुल ७८ पद्य होने से इसका नाम आचार्यश्री ने स्वप्रणीत षडशीति, सार्द्धशतक, स्वप्नसप्तति, प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक आदि ग्रन्थों के समान ही अष्टसप्तति रखा है या प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। प्राप्त ग्रन्थ की पुष्पिका में 'प्रशस्तिजिनवल्लभीति' लिखा है एवं श्रीजिनपालोपाध्याय ने भी 'चर्चरी' पद्य ४ की टीका में, जिनवल्लभ प्रणीत ग्रन्थनामों में 'प्रशस्तिप्रभृतिकम्' का उल्लेख किया है। आचार्य श्रीजिनपतिसूरिने चित्रकूट में नवनिर्मापित महावीर चैत्य की प्रतिष्ठा से सम्बद्ध प्रशस्ति होने से इसका नाम 'चित्रकूट-वीर-चैत्यप्रशस्ति' माना है—

‘अतएव लिङ्गपरिगृहीतचैत्यानां युगप्रवर-जिनवल्लभसूरिदेशनावशादनायतनत्वं निर्णय श्रीचित्रकूटे प्रभुभक्तश्रावकैः श्रीमहावीरजिननिकेतनं विधिचैत्यं विधिपथप्रचिका-शयिषया निर्मापयाम्बभूवे । तथा चैतदर्थगत्याधिका तत्रत्या प्रशस्तिः ।’

[संघपट्टक पद्य ३३ की टीका]

यह प्रशस्ति शिलापट्ट पर उत्कीर्ण कर वि० सं० ११६३ में चित्तौड़ में नवनिर्मापित महावीर विधि चैत्य में लगाई गई थी । देव दुविपाक से चित्तौड़ में न तो आज महावीर चैत्य के ध्वंसावशेष ही प्राप्त हैं और न शिलापट्ट के अवशेष ही । शिलापट्ट नष्ट होने से पूर्व ही किसी अज्ञात नामा इतिहास और साहित्यप्रिय विद्वान् ने इसकी प्रतिलिपि की थी, वही एक मात्र प्रति के रूप में, लालभाई दलपत भाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद में उपलब्ध है । यह कोई ग्रन्थ होता तो, कहीं न कहीं भंडारों में इसकी अन्य प्रतियां अवश्य प्राप्त होतीं, किन्तु मन्दिर की प्रशस्ति होने के कारण अन्य प्रति की संभावना नहीं के समान है ।

प्रशस्ति का सार—इस प्रशस्ति के आरम्भ में कवि ने त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), महावीर, आदिनाथ, पार्श्वनाथ और सरस्वती देवी को नमस्कार किया है (पद्य १-५) । परमारवंशीय महाराजा भोज (पद्य ६-१४), मालव्यभूखडारक उदयादित्य (पद्य १५-२०) और चित्रकूटाधिपति नरवर्म (पद्य २१-२८) का यशोगान एव मेदपाट देश की राजधानी चित्रकूट (पद्य २९-३५) की शोभाश्री का सालंकारिक सुन्दरतम वर्णन करते हुये तत्रस्थ अम्बक, केहिल आदि श्रेष्ठियों का (पद्य ३६-३८) उल्लेख किया है ।

चन्द्रकुलीय वर्द्धमानसूरि के विष्य जितेश्वरसूरि (पद्य ३९-४४) और नवाङ्गी टीकाकार श्रीअभयदेवसूरि (पद्य ४५-५१) के प्रशस्य गुणों का कीर्तन करते हुए (पद्य ५२ से ६४ में) कवि ने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा और चित्तौड़ में स्वप्रतिबोधित श्रेष्ठियों के नामों का आलेखन किया है ।

पद्य ६५ से ७२ में अनेक जिन मन्दिरों से मण्डित चित्रकूट में नवीन विधि चैत्य के निर्माण का उद्देश्य, निर्माण कार्य में विघ्न, तथा कार्य की समाप्ति, महावीर चैत्य की प्रतिष्ठा और उपासकों की धार्मिक प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुये नृपति नरवर्म द्वारा प्रति रवि-संक्रान्ति पर पारुत्य-द्वय देने का संकेत किया है ।

पद्य ७३-७४ में विधिपक्षीय चैत्यों की मान्यता के आदेश हैं और पद्य ७६-७८ तक कवि ने अपना नाम और प्रशस्ति का रचनाकाल ११६३ देते हुये प्रशस्ति टंकनकार सूत्रधार रामदेव का नाम दिया है ।

कवि ने इस प्रशस्ति में मात्रिक छन्दों में आर्या (३, २३, ३६, ३९, ७३), उपगीति (१६) और वर्णिक छन्दों में अनुष्टुप् (८, ५४, ५६, ५७), इन्द्रवज्रा (६४), इन्द्रवज्रोपेन्द्र-वज्रोपजाति के भेदों में—प्रेमा (२१, २५), आर्द्रा (६१), शाला (६२), बाला (६३)—, वंशस्थविला (१), वसन्ततिलका (४, २९, ४०, ५२, ६५), मालिनी (६९, ७४), पृथ्वी (३३, ४५), शिखरिणी (९), मन्दाक्रान्ता (३१), हरिणी (६, २७), शार्दूलविक्रीडित (२, ११, १३, १४, १५, १७, १९, २०, २४, ३०, ३५, ४२, ४३, ४४, ४८, ५०, ५५, ५८, ६०, ६६,

६७, ७०, ७१, ७२, ७५, ७६, ७८), स्रग्धरा (५, ७, १०, १२, १८, २२, २६, २८, ३२, ३४, ३७, ३८, ४१, ४६, ४७, ४९, ५१, ५३, ५९, ६८, ७७) का प्रयोग किया है।

आचार्य जिनवल्लभसूरि वि० सं० ११६७ में चित्तौड़ में आचार्य पदारूढ हुए और ११६७ में ही चित्तौड़ में उनका स्वर्गवास हुआ। स्वर्गारोहण के ४ वर्ष पूर्व ही अर्थात् ११६३ में उन्होंने इस प्रशस्ति की रचना की। रचना में प्रौढ़ता, प्राञ्जलता, लाक्षणिकता, चित्रात्मकता आदि काव्य के समस्तगुण पद-पद पर प्राप्त होते हैं। कवि का चित्रकाव्य प्रेम भी पद्य ७६ पर द्रष्टव्य है।

वैशिष्ट्य—वि० सं० ११६३ में चित्रकूट पर परमारवंशीय महाराजा नरवर्मा का आधिपत्य, तत्कालीन चित्तौड़ के विधिपक्षीय प्रमुख श्रेष्ठि, और कवि जिनवल्लभ को स्वलेखिनी से अकित आत्मकथा आदि होने से इस प्रशस्ति का ऐतिहासिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। आत्मकथा का ऐतिहासिक सारांश पूर्व परिच्छेद-जीवन-चरित्र में दिया जा चुका है।

इस प्रशस्ति की रचना मेदपाट देश (मेवाड़) की राजधानी चित्रकूट (चित्तौड़) में परमारवंशी महाराजा श्री नरवर्मा के राज्यकाल में हुई है। महाराजा नरवर्मा का परिचय देते हुये कवि ने उनके पूर्वज विश्व प्रसिद्ध धाराधीन भोजनृपति का और महाराजा उदयादित्य का भी कीर्तिगान किया है। महाराजा भोज का यशोगान करते हुये कवि कहता है कि— वाग्देवता ने वेदाभ्यास से कुण्ठित बुद्धि वाले पुराण-पुरुष ब्रह्मा का त्याग कर भोज का वरण कर लिया है। यही कारण है कि भोज ने स्रष्टा के समान ही तर्क, व्याकरण, इतिहास, गणित आदि संस्कृति के प्रधान वाङ्मयों की रचना की है।

कवि ने उदयादित्य के लिये 'महावराहवपुषा' विशेषण का प्रयोग करते हुये उसे मालव्यभूमि का उद्धारक बतलाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाराजा भोज के पश्चात् मालव प्रदेश पर गुजरात के भीम और चेदि के कर्ण ने अधिकार कर लिया होगा। उस समय आदिवराह के समान ही उदयादित्य ने विपक्षी नरेशों के चंगुल से छुड़ाकर मालवा पर पुनः अधिकार किया होगा।

कवि ने नरवर्मा^१ को प्रबल प्रतापी दुर्धर्ष योद्धा, बुद्धिमान, धर्मप्रेमी, महानीतिज्ञ और समर विजयी कहा है। इससे यह स्पष्ट है कि मेवाड़ पर नरवर्मा ने ही अधिकार किया था।

१. कोटा स्टेट म्युजियम में नरवर्म राज्य काल के दो मूर्तिलेख प्राप्त हैं :—

१. ६०॥ संवत् ११६५ ज्येष्ठ सुदी ९ पञ्चित श्री मल्लोकनन्दि धात्रेण सुभंकर पुत्रेण सौवार्णिक सहदेवेन कर्मक्षयनिमित्तेन कारायितं । श्री नरवर्मदेवराज्ये
२. श्री नरवर्मदेवराज्ये संवत् ११८० (?) आषाढ वदि १ अग्रवालान्वय साधु जिनपालसुत यमदेवः पु०.....

१४. शृङ्गार-शतम्

कवि की साहित्यिक कृतियों में शृङ्गार शतक का विशिष्ट स्थान है। उपाध्याय जिनपाल और सुमति गणि ने इस शतक का प्रबन्ध काव्य के रूप में उल्लेख किया है। अद्यावधि यह कृति अप्राप्य ही थी किन्तु अनुसंधान और खोज करते हुए, सन् १९५४ में कोटा से बम्बई का पैदल प्रवास करते हुए श्रीजिनकृपाचन्द्रसूरि ज्ञान भंडार इन्दौर में सं० १५०७ की लिखित एकमात्र प्रति मुझे प्राप्त हुई। इस प्रति में कतिपय लेखन-त्रुटियां हैं, तो कतिपय स्थानों पर पद्यों की पंक्तियां ही गायब हैं। अस्तु

कवि की यह रचना आचार्य अभयदेव के पास उपसम्पदा ग्रहण करने के पूर्व की है। 'तत्काव्यदीक्षागुरु' वाक्योल्लेख से स्पष्ट है कि कूर्चपुरीय आचार्य जिनेश्वर की ओर इनका संकेत है। उ० जिनपाल और सुमति गणि ने भी स्वीकार किया है कि व्याकरण, साहित्य, अलंकार, छंद, न्याय, दर्शन, आदि का अध्ययन और दीक्षा आचार्य जिनेश्वर से ही कवि ने प्राप्त की थी और जैनागमों का अभ्यास तथा उपसम्पदा आचार्य अभयदेव से ग्रहण की थी।

कवि ने भरत का नाट्यशास्त्र और कामतन्त्र का अध्ययन कर इस शतक की रचना की है। इस शतक में कुल १२१ पद्य हैं। वियोगिनी, अनुष्टुप्, बसन्ततिलका, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, हरिणी, शिखरिणी पृथ्वी, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा आदि छन्दों का प्रयोग कवि ने स्वतन्त्रता से किया है। अलंकारों का प्रयोग भी इसमें सुन्दर ढंग से हुआ है।

प्रथम पद्य में कवि ने जगदीश्वर की स्तुति की है। द्वितीय पद्य में सरस्वती और तृतीय पद्य में कवि-वाणी की प्रशंसा है। पद्य ४, ५, ६, ७, में सज्जन-दुर्जन का उल्लेख है और पद्य ८ से ११९ तक भाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभावों के साथ लीलाविलसित नायिका के अंगोपांगों का तथा संभोग शृङ्गार का उत्कट स्वरूप वर्णित किया है; जो पठनीय है। पद्य १२० और १२१ में रचना का कारण और पूर्व कवि तथा उनके ग्रन्थों का उपजीव्य हैं कहकर स्वनामोल्लेख किया है। इसका विशेष वर्णन कवि-प्रतिभा में द्रष्टव्य है।

१५-२०. चरित्र-षट्क

इस चरित्र षट्क में—१. आदिनाथ, २. शान्तिनाथ, ३. नेमिनाथ, ४. पार्श्वनाथ और ५., ६. महावीर देव—इन छ चरित्रों का संक्षिप्त समावेश है। इसमें पद्यों की संख्या क्रमशः इस प्रकार है—२५, ३३, १५, १५, ४४ और १५। ये छहों चरित्र प्राकृत भाषा में हैं और सभी चरित्रों में कवि ने आर्या छन्द का ही प्रयोग किया है। केवल ५वें महावीर-चरित्र में प्रथम पद्य मालिनीवृत्त और अन्तिम पद्य शार्दूलविक्रीडित वृत्त में है। चरित्रों में घटना बाहुल्य होने के कारण अलंकारों का समावेश इनमें नहीं के समान ही है किन्तु विशेषणों में कहीं-कहीं रूपक और उपमा अलंकार अवश्य ही प्राप्त हो जाते हैं। छहों चरित्रों का सारांश इस प्रकार है।

चरित्रों की सामान्य घटनायें

	श्रादिनाथ	शान्तिनाथ	नेमिनाथ	पाशवंताथ	महावीर	महावीर
भवसंख्या	१३	१२	६	१०	२७	
च्यवनस्थान	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	अपराजित	प्राणत	प्राणत	प्राणत
च्यवनस्थान स्थिति	३३ साग-रोपम	३३ साग-रोपम	३२ साग-रोपम	२० साग-रोपम	२० साग-रोपम	
च्यवनतिथि	आषा कृ. ४	भा.कृ.७	का.कृ.१२	चै.कृ.४	आषा. शु. ६	आ.शु. ६
च्यवननक्षत्र	उत्तराषाढा	भरणी	चित्रा	विशाखा	उत्तराफाल्गुनी	
१४ स्वप्न	प्रथम वृषभ	प्रथम गज	प्रथम गज	प्रथम गज	प्रथम सिंह	
गर्भपरिवर्तन तिथि			वि. अरिष्टचक्र		ग्राश्विनकृ. १३	ग्राश्विनकृ. १३
गर्भपरिवर्तन नक्षत्र					उत्तराफाल्गुनी	
जन्मभूमि	इक्ष्वाकु, विनीता	हस्तिनागपुर	सौरिपुर	बनारस	क्षत्रियकुण्ड	
जन्मतिथि	चै.कृ. ८	ज्ये.कृ. १३	श्रा.शु. ५	पौ.कृ. १३	चै.शु. १३	चै.शु. १३
जन्मनक्षत्र	उत्तराषाढा	भरणी	चित्रा	विशाखा	उत्तराफाल्गुनी	
राशि	धनु	मेष	कन्या	तुला	कन्या	
पितृनाम	नाभि	विश्वसेन	समुद्रविजय	अश्वसेन	सिद्धार्थ (ऋषभदत्त)	सिद्धार्थ (ऋषभदत्त)
मातृनाम	मरुदेवी	अचिरा	शिवा	वामा	त्रिशला (देवानंदा)	त्रिशला (देवानंदा)
वंशनाम	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	हरिवंश	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु	
गोत्र	काश्यप	काश्यप	गौतम	काश्यप	जात	
शरीरवर्ण	सुवर्णवर्ण	सुवर्णवर्ण	कृष्णवर्ण	नीलवर्ण	सुवर्णवर्ण	
शरीरपरिमारा	५०० धनुष	४० धनुष	१० धनुष	६ हाथ	७ हाथ	
लाञ्छन	वृषभ	मृग	शंख	सर्प	सिंह	
कुमारकाल	२० लाख पूर्व	२५ हजार वर्ष	३०० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष
राज्यकाल	६३ लाख पूर्व	२५ हजार वर्ष	×	×	×	×
		वर्ष मंडलीक और २५ हजार वर्ष				
		चक्रवर्तीराज्य				
दीक्षा-तप	दो उपवास	दो उपवास	दो उपवास	३ उपवास	२ उपवास	
दीक्षा-तिथि	चै.कृ. ८	ज्ये.कृ. १४	श्रा.शु. ३	पौ.कृ. ११	मार्ग.कृ. १०	मार्ग.कृ. १०
दीक्षा-नक्षत्र	उत्तराषाढा	भरणी	चित्रा	विशाखा	उत्तराफाल्गुनी	
दीक्षा-परिवार	४०००	१०००	१०००	३००	एकाकी	
दीक्षा-शिविका	सुदसणा	सर्वार्थ	उत्तरकुम्भ	विशाला	चन्द्रप्रभा	
दीक्षा-वन	सिद्धार्थ	सहस्रात्र	रैवतगिरि	आश्रम	ज्ञातखंडवन	
		सहस्रात्र	सहस्रात्र	जनपद		
दीक्षा-वृक्ष	अशोक	अशोक	अशोक	अशोक	अशोक	
प्रथम पारणक	श्रेयांसकुमार	सुमित्र	वरदिन्न	धन्य	बल	
पारणक नगरी	गजपुर		द्वारिका	कोयगडपुर	होलागसन्निवेश	
पारणक भोज्य	इक्षुरस	क्षीर	क्षीर	क्षीर	क्षीर	

	आदिनाथ	शान्तिनाथ	नेमिनाथ	पाश्र्वनाथ	महावीर	महावीर
छद्मस्थकाल	१००० वर्ष	१ वर्ष	५४ दिवस	८४ दिवस	१२ ३/४ वर्ष १ पक्ष	१२ ३/४ वर्ष १ पक्ष
ज्ञाननगरी	पुरिमताल; प्रयाग:	हस्तिनापुर	गिरिनार	बनारस	जृम्भिकानगरी	
ज्ञान वन	शकटमुख	सहसाम्र	वेतस	धात्री	ऋजुवालुका	
केवलज्ञान-वृक्ष	वट	नन्दि			नदीतट	
					साल	
केवलज्ञान-तप	३ उपवास	२ उपवास	३ उपवास	३ उपवास	२ उपवास	
केवलज्ञान-तिथि	फा.कृ.११	पो.शु.६	आ.कृ.१५	चै.कृ.४	वै.शु.१०	वै.शु.१०
केवलज्ञान-नक्षत्र	उत्तराषाढा	भरणी	चित्रा	विशाखा	उत्तराफाल्गुनी	
महाव्रत	५	४	४	४	५	
गराधर संख्या	८४	३६	१८	१०	११	
गरा संख्या	८४	३६	१८	१०	६	
साधु संख्या	८४ हजार	६२ हजार	१८०००	१६००	१४०००	
साध्वी संख्या	३०००००	६१६००	४००००	३८०००	३६०००	
श्रावक संख्या	३०५०००	१६००००	१६६०००	१६४०००	१५६०००	
श्राविका संख्या	५५४०००	३६३०००	३३६०००	३३६०००	३१८०००	
१४ पूर्वी संख्या	४७५०	८००	४००	७५०	३००	
अवधिज्ञानी संख्या	६०००	३०००	१५००	३०००	१३००	
केवलज्ञानी संख्या	२००००	४३००	१५००	१०००	७००	
वैक्रियलब्धि						
धारी संख्या	२०६००	६०००	१५००	११००	७००	
बादी संख्या	१२६५०	२४००	८००	६००	४००	
मनपर्यवी संख्या	१२६५०	४०००	१०००	७५०	५००	
अनुत्तरोपपातिक गमन-						
चासी संख्या	३२६००		१६००	१२००	८००	
प्रमुख उपासक	भरत	[चक्रायुध]	कृष्ण	अश्वसेन	श्रेणिक	
यक्ष	[गोमुख]	कन्दर्प(गरुड)	[गोमेध]	[पाश्र्व]	मातंग	
यक्षिणी	[चक्रेश्वरी]	[निर्वाणी]	[अम्बिका]	[पद्मावती]	सिद्धायिका	
श्रमराधर्म पर्याय	१ लाख पूर्व	२५ हजार वर्ष	७०० वर्ष	७० वर्ष	४२ वर्ष	
आयुष्य	८४ लाख पूर्व	१ लाख वर्ष	१००० वर्ष	१०० वर्ष	७२ वर्ष	
मोक्षपरिवार	१००००	६००	५३६	३३	एकाकी	
मोक्ष संलेखना	६ उपवास	एकमास	एकमास	एकमास	२ उपवास	
निर्वाण तिथि	माघ कृ.१३	ज्यै.कृ.१३	आषाढ शु.८	श्रा.शु.८	का.कृ.१५	का.कृ.१५
निर्वाण नक्षत्र	अभीची	भरणी	चित्रा	विशाखा	स्वाति	
निर्वाण स्थान	अष्टापद	सम्मेतशिखर	गिरनार	सम्मेतशिखर	मध्यपापा (पावापुरी)	

भगवान् आदिनाथ के तेरह भव

भवसंख्या	नाम	नगरी	भवसंख्या	देवलोक	नाम
१.	धन		२.	उत्तरकुरु	युगलिक
४.	महाबल	अपरविदेह	३.	सौधर्म	देव
६.	वज्रजंघ	पूर्वविदेह	५.	श्रीप्रभविमान	ललिताङ्ग देव
७.	युगलिक	उत्तरकुरु	८.	सौधर्म	देव
९.	वैद्यसुत जीवानंद	द्वादशम- विजय	१०.	अच्युत	"
११.	वज्रनाभ चक्री अष्टम	विजय	१२.	सर्वार्थसिद्ध	"
१३.	आदिनाथ	विनीता			

भगवान् शान्तिनाथ के १२ भव

१.	श्रीषेण	रत्नपुर	३.	सौधर्म	देव
३.	युगलिक	उत्तरकुरु	५.	प्राणत	"
४.	खेचरेन्द्र- अमिततेज	रथनूपुर- चक्रवाल	७.	अच्युत	इन्द्र
६.	अपराजित	सुभगापुरी	९.	नवमग्रैवेयक	देव
८.	वज्रायुध चक्री	रत्नसंचया	११.	सर्वार्थसिद्ध	देव
१०.	मेघरथ	पुण्डरीकिणि	१२.	शान्तिनाथ	

भगवान् नेमिनाथ के ६ भव

१.	धनकुमार	अचलपुर	२.	सौधर्म	देव
२.	चित्रगति	सूरतेजनगर	४.	माहेन्द्र	"
५.	अपराजित	सिंहपुर	६.	आरण्य	"
७.	शंखकुमार	हस्तिनापुर	८.	अपराजित	"
९.	नेमिनाथ				

भगवान् पार्श्वनाथ के १० भव

१.	मरुभूति	पोतनपुर	३.	अष्टम देवलोक	देव
२.	हस्ति	विन्ध्याटवी	५.	अच्युत	देव
४.	किरणवेग	तिलकानगरी	७.	ग्रैवेयक	"
६.	वज्रनाभ	शुभंकरानगरी	९.	प्राणत	"
८.	चक्री सुवर्णबाहु	पुराणपुर	१०.	पार्श्वनाथ	

भगवान् महावीर के २७ भव

१.	नयसार	कणवारी,	प्रतिष्ठान	२.	प्रथम देवलोक	देव
			पुर			
३.	मरीचि,	भरतपुत्र	अयोध्या	४.	पंचम देवलोक	"
५.	ब्राह्मण			६.	देवलोक	"
७.	"			८.	"	"
९.	"			१०.	"	"
११.	"			१२.	"	"
१३.	"			१४.	"	"
१५.	"			१६.	"	"
१७.	विश्वभूति	राजगृही		१८.	"	"
१९.	त्रिपृष्ठ वासुदेव	पोतनपुर		२०.	सप्तम नरक	
२१.	सिंह			२२.	चतुर्थ नरक	
२३.	प्रियमित्त चक्रवर्ती	मूकानगरी		२४.	सप्तम देवलोक	देव
२५.	नन्दन	छत्वाग्रापुरी		२६.	दसम देवलोक	देव
२७.	महावीर देव					

प्रत्येक चरित्र की पृथक्-पृथक् विशेषतायें:—

आदिनाथ चरित्र:—प्रथम और द्वितीय पद्य में भगवान् आदिनाथ को नमस्कार कर 'चरित' कहने की कवि प्रतिज्ञा करता है और अन्तिम २५ वें पद्य में कवि अपना नाम देता हुआ परमपद प्राप्ति की अभिलाषा प्रकट करता है। तृतीय पद्य में पूर्वभव के वर्णन में धन नामक सार्थवाह मुनि को दान देने के प्रताप से सम्यक्त्व (बोधिलाभ) प्राप्त करता है। पांचवें पद्य में साधु की चिकित्सा से वह 'चक्रवर्ती' नाम कर्म उपार्जन करता है। छठे पद्य में 'वोसस्थानक' सेवन से तीर्थकर नाम कर्म उपार्जित करता है और १२ वें पद्य में इक्ष्वाकुवंश की उत्पत्ति का कारण बताया है।

शान्तिनाथ चरित्र:—प्रथम और द्वितीय पद्य में १६ वें तीर्थकर और पंचम चक्रवर्ती भगवान् शान्तिनाथ को नमस्कार कर शान्तिनाथ का संक्षेप में जीवन चरित कहने की प्रतिज्ञा है और अन्तिम पद्य में मोक्षपद की याचना की गई है। १२ वें पद्य में 'गुप्तगर्भ' का उल्लेख है और पद्य १७ से २२ तक में चक्रवर्ति ऋद्धि का उल्लेख इस प्रकार किया गया है:—

१. वोसस्थानक निम्नलिखित हैं—अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, आचार्य, स्थविर, उपाध्याय, साधु, ज्ञान, दर्शन, विनय, चारित्र्य, ब्रह्मचर्य, क्रिया, तप, सुपात्रदान, ब्यावृत्त्य, समाधि, अपूर्वज्ञानग्रहण, श्रुतभक्ति, प्रवचनप्रभावना।

निधान	६	संवाह	१४०००
यक्ष	१६०००	खटक	१६०००
राजा	३२०००	आगर	२००००
रानी	६४०००	पुर	७२०००
ग्राम	६६०००००००	द्रोणमुख	६६०००
सेना [पैदल]	६६०००००००	मडंब	८४०००
हाथी	८४०००००	कब्बड	८४०००
घोड़ा	८४०००००	पत्तन	१६८०००
रथ	८४०००००	रत्न	१४
नाटक	३२		

नेमिनाथ चरित्र:—प्रथम पद्य में भगवान् नेमिनाथ को नमस्कार कर उनका संक्षेप में जीवन चरित्र कहने की कवि प्रतिज्ञा करता है और अन्तिम १५ वें पद्य में कल्याण की अभिलाषा करता है। चौथे पद्य में यदुवंशीय नेमिनाथ द्वारा 'राजीमती' को त्याग कर दीक्षा ग्रहण किये जाने का उल्लेख

पाश्वनाथ चरित्र:—जिनके मस्तक पर सर्पराज की फणायें रक्षक की तरह सुशोभित हो रही हैं उन पाश्वनाथ को नमस्कार करके चरित्र का प्रारंभ होता है। पाँचवें पद्य में कमठ नामक तापस को प्रतिबोध देने का उल्लेख सामान्य ऋतनाओं के साथ-साथ किया गया है।

महावीर चरित्र:—प्रथम पद्य में पापरूपी रेणु का नाश करने में वायु सृष्ट, मोह-रूपी कर्दम का क्षालन करने में जल सृष्ट, कामदेव पर विजय प्राप्त करने वाले जिनेश्वर महावीर को नमस्कार करके उन्नीं का संक्षेप जीवन-वृत्त कहने की कवि प्रतिज्ञा करता है और अन्तिम पद्य में पुण्यानुबंधिपुण्य प्रदान करने के लिये जिनदेव के चरणों में अञ्जलि प्रस्तुत की गई है। तृतीय पद्य में बतलाया गया है कि भगवान् आदिनाथ के मुख से अपने गौरवमय भविष्य का समाचार पाकर गर्वोत्कुल्ल होने से, मरीचि ने एक कोटाकोटि सागरोपम की भव-वृद्धि किस प्रकार उपार्जित की। इसी कारण कवि ११ वें से १३ वें पद्य में कहता है कि इस अशुभ बंधन के कारण ही महावीर का जीव ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। ८२ दिवस व्यतीत होने पर इन्द्र की आज्ञा से हरिनैगमेषि नामक देव ने गर्भ परिवर्तन कर ज्ञातवंशीय सिद्धार्थ की पत्नी तथा महाराजा चेटक की भगिनी त्रिशला की कुक्षि में संचार किया। ७ वें पद्य में नन्दन राजपि के भव में प्रव्रज्या ग्रहण करने पर एक लाख वर्ष पर्यन्त चरित्र का आपने पालन किया था। इस अवधि में आपने सर्वदा मास-क्षमण की तपस्या की थी।

१५ वें और १६ व पद्य में कवि नामकरण का रहस्य बतलाता है। वह कहता है कि आपके उत्पन्न होने से ज्ञात कुल में धन, धान्य आदि समग्रवस्तुओं की वृद्धि हुई इसीलिये

१. भोजवंशीय महाराजा उग्रसेन की पुत्री।

मात-पिता ने वर्धमान और जन्मोत्सव के समय आपके माहात्म्य को देखकर इन्द्रादि देवताओं ने आपका महावीर नाम रक्खा ।

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् महावीर को जो जो प्रमुख उपसर्ग हुए और आपने कष्टदाताओं के प्रति जो प्रेम भाव रखा तथा कष्टों पर जिस अनुपम आत्मिक बल से विजय प्राप्त की उस सब का वर्णन २१ वें से २६ वें पद्य तक किया गया है । इन उपसर्गों में १. कुमार ग्राम के बाहर गोपालक, २. तरुण, तरुणियों, भमरों आदि, ३. शूलपाणी यक्ष, ४. चण्डकौशिक सर्प तथा ५. संगम देव द्वारा किये गये उपसर्गों के अतिरिक्त एक रात्रि में २० प्रकार के अन्य भयङ्कर उपसर्ग तथा गोप द्वारा उनके कानों में काँसे की शलाका डालने की घटना का समावेश किया गया है ।

पद्य २७ से ३० तक भगवान् की उग्र तपश्चर्या का वर्णन किया गया है जिसके अनुसार १ छमासी, ६ चातुर्मासी, ३ तीन मासी, ६ दो मासी, १२ एक मासी, ७२ अर्धमासी, २ अढीमासी, भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा, और सर्वतोभद्रप्रतिमा (जो आपने एक साथ ही की थीं), १२ तीन अहोरात्रि प्रतिमा तथा ५ मास २५ दिवस की तपस्या (जिसका पारणक चम्पानगरीय दधिवाहन की पुत्री चन्दनबाला के हाथ से कौशाम्बी में हुआ था) को लेकर भगवान् की १२ वर्ष ६ मास एक पक्ष की उस दीर्घ तपस्या का वर्णन किया गया है जिसमें आपने केवल २४८ दिवस ही भोजन ग्रहण किया था ।

३२ वें से ३३ वें पद्य तक केवलज्ञान प्राप्ति के अनन्तर तथा प्रथम देशना निष्फल होने पर उसी रात्रि को १२ योजन विहार करके पावापुरी नगरी के महसेन उद्यान में भगवान् के पधारने तथा चतुर्विध संघ की स्थापना का उल्लेख है ।

पद्य ३६ और ४० में भगवान् की प्रशंसा करता हुआ, भवितव्यता वश गोशालक द्वारा होने वाले उपसर्ग का वर्णन किया गया है । यहीं भगवान् की परोपकारिता का उल्लेख करते हुए विप्र ऋषभदत्त और देवानन्दा की मुक्तिप्रदान करने का भी उल्लेख है ।

वीर चरितः— इस चरित्र में ८ वें ११ तक के केवल चार पद्य ही बड़े महत्त्व के हैं जिनमें कवि ने कर्म की विचित्र गति का सुन्दर चित्र दिखाया है:—

देवेन्द्र स्तुत त्रिजगत्प्रभु तथा त्रिभुवन के अनन्यमल्ल होने पर भी आपको मरीचि के भव में उपाजित पाप का लवलेश रहने के कारण गोपादि से अनेक प्रकार की कदर्थना सहन करनी पड़ी । आह ! कर्मगति विचित्र है कि स्त्री, गाय, ब्राह्मण तथा बालक की हत्या और महापाप करने वाले दृढप्रहारी आदि पुरुष तो उसी भव में सिद्ध हो गये किन्तु आपको १२॥ वर्ष एक पक्ष तक कष्ट सहन करने के पश्चात् ही कैवल्य पद प्राप्त हुआ ।

सामान्य-प्रसंग

तीर्थंकर के भव से तीसरे पूर्वभव में वीस स्थानक तप की आराधना करना, कुक्षि में उत्पन्न होने पर माता द्वारा १४ स्वप्न देखना और उसी दिवस से घर में समग्र वस्तुओं की वृद्धि होना, जन्म होने पर ५६ दिक्कुमारियों और ६४ इन्द्रों द्वारा मेरु पर्वत पर जन्मोत्सव मनाना, जन्म से ही तीन ज्ञान संयुक्त होना, प्रव्रज्या पूर्व लोकान्तक देवों द्वारा बोध प्राप्त

करना, वर्षीदान देना तथा दीक्षा पश्चात् देवदूष्य वस्त्र धारण करना आदि समग्र कृत्य तीर्थकरों के लिये होते ही हैं। अतः उनका वर्णन सभी चरित्रों में किया गया है।

२१. चतुर्विंशति-जिन-स्तोत्राणि

इसमें कवि ने प्रत्येक तीर्थकर के जीवन के १५ प्रसंगों का उल्लेख बड़ी सफलतापूर्वक किया है। पद्यों की कुल संख्या १४५ है; जिसमें अन्तिम पद्य कविनाम गभित उपसंहार का है। इसकी भाषा प्राकृत और छन्द आर्या है।

वस्तुतः चरित्र षट्कान्तर्गत ६३ प्रसंगों और इस स्तोत्र के अन्तर्गत विषयों का आश्रय लेकर परवर्ती कवियों ने 'सप्ततिशतस्थानक प्रकरण' आदि ग्रन्थों की रचना की है। श्वेताम्बर जैन-साहित्य में इस प्रकार की तथा पंचकल्याणक गभित स्तोत्रादि कृतियों के प्रादुर्भाव का श्रेय सर्वप्रथम आचार्य जिनवल्लभ को ही है।

इस स्तोत्र में वर्णित विषय को निम्नलिखित ढंग से दिखाया जा सकता है:—

क्रमाङ्क	तीर्थङ्कर नाम	च्यवन स्थान	च्यवन तिथि	जन्म भूमि
१.	श्री आदिनाथ	सर्वार्थसिद्ध	आषाढ कृ० ४	विनीता
२	" अजितनाथ	विजय	वैशाख शु० १३	"
३.	" संभवनथ	सप्तम श्रेविक	फाल्गुन शु० ८	श्रावस्ती
४.	" अभिनन्दन	जयन्त	वै० शु० ४	विनीता
५.	" सुमतिनाथ	जयन्त	श्रा० शु० २	कोशल
६.	" पद्मप्रभ	नवम श्रेविक	माघ कृ० ६	कोशाम्बी
७.	" सुपाश्वर्नथ	षष्ठ श्रेविक	भा० कृ० ८	वाराणसी
८.	" चन्द्रप्रभ	वैजयन्त	चै० कृ० ५	चन्द्रपुरी
९.	" सुविधिनाथ	प्रासात	फा० कृ० ६	काकदी
१०.	" शीतलनाथ	प्रासात	वै० कृ० ६	भद्विलपुर
११.	" श्रेयांसनाथ	अच्युत	ज्ये० कृ० ६	सिंहपुरी
१२.	" वासुपूज्य	प्रासात	ज्ये० शु० ६	कम्पापुरी
१३.	" विमलनाथ	सहस्रार	वै० शु० १२	कम्पलपुर
१४.	" अनन्तनाथ	प्रासात	श्रा० कृ० ७	अयोध्या
१५.	" धर्मनाथ	विजय	वै० शु० ७	रत्नपुरी
१६.	" शान्तिनाथ	सर्वार्थसिद्ध	भा० कृ० ७	हस्तिनापुर
१७.	" कुन्धुनाथ	"	श्रा० कृ० ६	"
१८.	" अरनाथ	"	फा० शु० २	"
१९.	" मल्लनाथ	जयन्त	फा० शु० ४	मिथिला
२०.	" मुनिसुव्रत	अपराजित	श्रा० शु० १५	राजग्रही
२१.	" नमिनाथ	प्रासात	आश्विन शु० १५	मिथिला
२२.	" नेमिनाथ	अपराजित	का० कृ० १२	शीरीपुर
२३.	" पाश्वर्नथ	प्रासात	चै० कृ० ४	वाराणसी
२४.	" महावीर	प्रासात	आषाढ शु० ६	अत्रियकुण्ड

जन्मतिथि	शरीरवर्ण	राशि	दीक्षातप	दीक्षापरिवार	छद्मस्थकाल	ज्ञाननगरी
चै० कृ० ८	स्वर्णवर्ण	धनु	दो उपवास	४०००	१००० वर्ष	पुरिमताल (प्रयाग)
मा० शु० ८	"	वृष	"	१०००	१२ वर्ष	सहस्राश्रवन
मार्गशीर्ष शु० १४	"	मिथुन	"	१०००	१४ "	(अयोध्या)
मा० शु० २	"	"	"	१०००	१८ "	" (श्रावस्ती)
वै० शु० ८	"	सिंह	नित्यभक्त	१०००	२० "	" (अयोध्या)
का० कृ० १२	रक्तवर्ण	कन्या	दो उपवास	१०००	६ महीने	" (कौशाम्बी)
ज्ये० शु० ४	स्वर्णवर्ण	तुला	"	१०००	६ महीने	" (वाराणसी)
पौ० कृ० १२	श्वेतवर्ण	वृश्चिक	"	१०००	३ "	" (चन्द्रपुरी)
मार्ग० कृ० ५	श्वेतवर्ण	धनु	"	१०००	४ "	" (काकंदो)
मा० कृ० १२	स्वर्णवर्ण	"	"	१०००	३ "	" (भदिलपुर)
फा० कृ० १२	"	मकर	"	१०००	२ वर्ष	" (सिंहपुरी)
फा० कृ० १२	रक्तवर्ण	कुम्भ	चतुर्थभक्त	६००	१ "	विहारगृह(चम्पापुरी)
मा० शु० ३	स्वर्णवर्ण	मीन	दो उपवास	१०००	२ "	सहस्राश्रवन
वै० कृ० १३	"	मीन	"	१०००	३ "	" (कम्पलपुर)
मा० शु० ३	"	कर्क	"	१०००	२ "	" (अयोध्या)
ज्ये० कृ० १३	"	मेष	"	१०००	१ "	वप्पगाए (रत्नपुरी)
वै० कृ० १४	"	वृष	"	१०००	१६ "	सहस्राश्रवन
मार्ग० शु० १०	"	मीन	"	१०००	३ "	" (हस्तिनापुर)
मार्ग० शु० ११	नीलवर्ण	मेष	३ उपवास	३००	अहोरात्र	" (हस्तिनापुर)
ज्ये० कृ० ८	कृष्णवर्ण	मकर	दो उपवास	१०००	११ मास	" (मिथिला)
श्रा० कृ० ८	स्वर्णवर्ण	मेष	"	१०००	६ मास	" (राजगृह)
श्रा० शु० ५	कृष्णवर्ण	मिथुन	"	१०००	५४ दिवस	" (राजगृह)
पौ० कृ० १०	नीलवर्ण	तुला	३ उपवास	३००	८४ दिवस	गिरनार
चै० शु० १३	स्वर्णवर्ण	कन्या	दो उपवास	एकाकी	१२ ३/४ वर्ष १ पक्ष	वाराणसी
						ऋजुवालिका नदी

ज्ञानतिथि	दीक्षा पर्याय	आयुष्य	निर्वाणतिथि	निर्वाणस्थान
फा० कृ० ११	१ लाख पूर्व	८४ लाख पूर्व	माष० कृ० १३	अष्टापद
पौ० शु० ११	"	७२ " "	चै० शु० ५	सम्मेतशिखर
का० कृ० ५	"	६० " "	वै० शु० ५	"
पौ० शु० १४	"	५० " "	वै० शु० ८	"
चै० शु० ११	"	४० " "	चै० शु० ६	"
चै० शु० १५	"	३० " "	मार्ग० कृ० ११	"
फा० कृ० ६	"	२० " "	फा० कृ० ७	"
फा० कृ० ७	"	१० " "	भा० कृ० ७	"
का० शु० ३	५० हजार पूर्व	२ " "	भा० शु० ६	"
पौ० कृ० १४	२५ हजार पूर्व	१ " "	वै० कृ० २	"
मा० कृ० १५	"	८४ लाख वर्ष	श्रा० कृ० ३	"
मा० शु० २	"	७२ " "	श्रा० शु० १४	चम्पापुरी
पौ० शु० ६	"	६० " "	श्रा० कृ० ७	सम्मेतशिखर
वै० कृ० १४	"	३० " "	चै० शु० ५	"

ज्ञानतिथि	प्रायुष्य	निर्वाणतिथि	निर्वाणस्थान
पी० शु० १५	१० लाख वर्ष	ज्ये० शु० ५	सम्मेतशिखर
पी० शु० ६	१ " "	ज्ये० शु० १३	"
चै० शु० ३	६५ हजार	वै० कृ० १	"
का० शु० १२	८४ " "	मार्ग० शु० १०	"
मार्ग० शु० ११	५५ " "	फा० शु० १२	"
फा० कृ० १२	३० " "	ज्ये० कृ० ६	"
मार्ग० शु० ११	१० " "	वै० कृ० १०	"
आश्विन कृ० १५	१ " "	श्रा० शु० ८	गिरनार
चै० कृ० ४	सौ वर्ष	श्रा० शु० ८	सम्मेतशिखर
वै० शु० १०	७२ वर्ष	का० कृ० १५	पावापुरी

२२. चतुर्विंशति-जिन-स्तुतयः

स्तुति 'शुई' की परम्परानुसार प्रथम पद्य में नाम विशेष तीर्थकर की, द्वितीय पद्य में सामान्य जिनेश्वरों के गुणों की तृतीय पद्य में जिनागम-जिनवाणी की और चतुर्थ पद्य में श्रुतदेवता या तीर्थकर के शासन देवता की स्तवना की जाती है। इस मान्यता के अनुसार स्तुति-साहित्य के सर्वप्रथम सर्जकों में संस्कृत भाषा में रचना करने वाले महाकवि धनपाल के अनुज श्री शोभनमुनि और प्राकृत भाषा में गुम्फन करने वाले आचार्य जिनवल्लभ हैं। परवर्ती स्तुतिकार कवियों के प्रेरक ये दोनों आचार्य ही हैं।

६६ वें गाथा की 'चतुर्विंशति-जिन-स्तुतयः' नामक लघु कृति में ४-४ गाथाओं में प्रत्येक तीर्थङ्कर की स्तुति की गई है। इन २४ स्तुतियों में उक्त परम्परा का पालन तो किया ही गया है। साथ ही प्रत्येक स्तुति के प्रथम पद्य में तीर्थकर-नाम के साथ, छह अन्य वर्ण्य-विषयों का भी समावेश किया गया है, जो इन स्तुतियों का वैशिष्ट्य है। ये ६ वर्ण्य-विषय निम्न हैं:—१. तीर्थकर की माता का नाम, २. पिता का नाम, ३. लक्षण, ४. शरीर का देह-मान, ५. जिस देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में आये उस देवलोक का नाम और ६. जिस नक्षत्र में देवलोक से च्युत होकर माता के गर्भ में आये उस नक्षत्र का नाम:—

तीर्थकरनाम	मातृनाम	पितृनाम	लक्षण	धनुःकाय	देवलोक	च्यवन नक्षत्र	श्रुत देवता
ऋषभ	मरुदेवी	नाभि	वृषभ	५००	सर्वार्थसिद्ध	उत्तराषाढा	सरस्वती
अजित	विजया	जितशत्रु	गज	४५०	विजय	रोहिणी	रोहिणी
सम्भव	सेना	जितारि	हय	४००	श्रेयैक	मृगशिरा	प्रज्ञप्ति
अभिनन्दन	सिद्धार्थ	संवर	कपि	३५०	जयन्त	पुनर्वसु	वज्रशृङ्खला
सुमति	मङ्गला	मेघ	क्रौंच	३००	"	मघा	वज्रांकुशी
पद्मप्रभ	सुसीमा	धर	कमल	२५०	श्रेयैक	चित्रा	अप्रतिचक्रा
सुपाश्रवं	पृथिवी	प्रतिष्ठ	स्वस्तिक	२००	"	विशाखा	पुरुषदत्ता
चन्द्रप्रभ	लक्ष्मणा	महसेन	चन्द्र	१५०	वैजयन्त	अनुराधा	काली

तीर्थकरनाम	मातृनाम	पितृनाम	लक्षण	घनुष्काय	देवलोक	च्यवन नक्षत्र	श्रुत देवता
सुविधि	रामा	सुग्रीव	मकर	१००	आनत	मूल	महाकाली
शीतल	नन्दा	दृढरथ	श्रीवत्स	६०	प्राणत	पूर्वाषाढा	गौरी
श्रेयांस	विष्णु	विष्णु	गेण्डा ?	८०	अच्युत	श्रवण	गान्धारी
वासुपूज्य	जया	वसुपूज्य	महिष	७०	प्राणत	शतभिषा	सर्वास्त्रमहा- ज्वाला
विमल	श्यामा	कृतवर्म	बराह	६०	सहस्रार	उत्तरभाद्रपद	मानवी
अनन्त	सुयशा	सिंहसेन	श्येन	५०	प्राणत	रेवती	फणिराजजाया ?
धर्म	सुव्रता	भानु	वज्र	४५	विजय	पुष्य	अच्छुप्ता
शान्ति	अचिरा	विश्वसेन	हरिण	४०	सर्वार्थ	भरणी	मानसी
कुन्धु	श्री	सूर	छाग	३५	"	कृत्तिका	महामानसी
अर	देवी	सुदर्शन	नन्दावर्त	३०	"	रेवती	शान्ति
मल्लि	प्रभावती	कुम्भ	कलश	२५	जयन्त	अश्विनी	ब्रह्मशान्ति
मुनिसुव्रत	पद्मावती	सुमित्र	कूर्म	२०	आनत	श्रवण	अम्बा
नमि	वप्रा	विजय	उत्पल	१५	प्राणत	अश्विनी	?
नेमि	शिषा	समुद्रविजय	शंख	१०	अपराजित	चित्रा	अम्बा
पार्श्व	वामा	अश्वसेन	सर्प	६ हाथ	प्राणत	विशाखा	सरस्वती
बीर	त्रिशला	सिद्धार्थ	सिंह	७ हाथ	प्राणत	हस्तोत्तरा	?

२३. सर्वाजिनपञ्चकल्याणक-स्तोत्र

इस स्तोत्र में कवि ने २४ तीर्थकरों के पांचों कल्याणकों के समय का वर्णन मास-तिथि आदि पूर्वक २६-आर्याओं में किया है। जिसमें प्रथम पद्य में जिनेश्वर को नमस्कार करके चौबीस तीर्थकर के प्रत्येक के च्यवन, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण का वर्णन कहने की प्रतिज्ञा की गई है और २ से २६ पद्यों तक मास, तिथि, तीर्थकर-नाम और कल्याणक का उल्लेख करते हुए "यह पद प्रणतजनों (जिनवल्लभ) को प्राप्त हो" कहकर स्तोत्र पूर्ण किया गया है। स्तोत्र के विषयों का क्रमशः वर्गीकरण इस प्रकार है:—

कार्तिक	कृष्णा	५	संभवनाथ	केवलज्ञान
"	"	१२	पद्मप्रभ	जन्म
"	"	१२	नेमिनाथ	च्यवन
"	"	१३	पद्मप्रभ	दीक्षा
"	"	१५	महावीर	निर्वाण
"	शुक्ला	३	सुविधिनाथ	केवलज्ञान
"	"	१२	अरनाथ	"
मार्गशीर्ष	कृष्णा	५	सुविधिनाथ	जन्म
"	"	६	"	दीक्षा

नार्गशीर्ष	कृष्णा	१०	महावीर	दीक्षा
"	"	११	पद्मप्रभ	निर्वाण
"	शुक्ला	१०	अरुनाथ	जन्म
"	"	"	"	निर्वाण
"	"	११	"	दीक्षा
"	"	"	मल्लिनाथ	जन्म
"	"	११	मल्लिनाथ	दीक्षा
"	"	"	"	केवलज्ञान
"	"	"	नमिनाथ	"
"	"	१४	संभवनाथ	जन्म
"	"	१५	"	दीक्षा
पौष	कृष्णा	१०	पार्श्वनाथ	जन्म
"	"	११	"	दीक्षा
"	"	१२	चन्द्रप्रभ	जन्म
"	"	१३	"	दीक्षा
"	"	१४	शीतलनाथ	केवलज्ञान
पौष	शुक्ला	६	विमलनाथ	केवलज्ञान
"	"	७	शान्तिनाथ	"
"	"	११	अजितनाथ	"
"	"	१४	अभिनन्दन	"
"	"	१५	धर्मनाथ	"
माघ	कृष्णा	६	पद्मप्रभ	च्यवन
"	"	१२	शीतलनाथ	जन्म
"	"	१२	"	दीक्षा
"	"	१३	आदिनाथ	निर्वाण
"	"	१५	श्रेयांसनाथ	केवलज्ञान
माघ	शुक्ला	२	अभिनन्दन	जन्म
"	"	२	वासुपूज्य	केवलज्ञान
"	"	३	धर्मनाथ	जन्म
"	"	३	विमलनाथ	जन्म
"	"	४	"	दीक्षा
"	"	८	अजितनाथ	जन्म
"	"	९	"	दीक्षा
"	"	१२	अभिनन्दन	"
"	"	१३	धर्मनाथ	"

फाल्गुन	कृष्णा	६	सुपार्ष्वनाथ	केवलज्ञान
"	"	७	"	मोक्ष
"	"	७	चन्द्रप्रभ	केवलज्ञान
"	"	६	सुविधिनाथ	च्यवन
"	"	११	आदिनाथ	केवलज्ञान
"	"	१२	श्रेयांसनाथ	जन्म
"	"	१२	मुनिसुव्रत	केवलज्ञान
"	"	१३	श्रेयांसनाथ	दीक्षा
"	"	१४	वासुपूज्य	जन्म
"	"	१५	"	दीक्षा
"	शुक्ला	२	अरनाथ	च्यवन
"	"	४	मल्लिनाथ	"
"	"	८	संभवनाथ	"
"	"	१२	मल्लिनाथ	मोक्ष
"	"	१२	मुनिसुव्रत	दीक्षा
चैत्र	कृष्णा	४	पार्ष्वनाथ	च्यवन
"	"	४	"	केवलज्ञान
"	"	५	चन्द्रप्रभ	च्यवन
"	"	८	आदिनाथ	जन्म
"	"	८	"	दीक्षा
"	शुक्ला	३	कुन्थुनाथ	केवलज्ञान
"	"	५	अजितनाथ	निर्वाण
"	"	५	अनन्तनाथ	"
"	"	५	संभवनाथ	"
"	"	६	सुमतिनाथ	"
"	"	११	"	केवलज्ञान
"	"	१३	महावीर	जन्म
"	"	१५	पद्मप्रभ	केवलज्ञान
वैशाख	कृष्णा	१	कुन्थुनाथ	मोक्ष
"	"	२	शीतलनाथ	"
"	"	५	कुन्थुनाथ	दीक्षा
"	"	६	शीतलनाथ	च्यवन
"	"	१०	नमिनाथ	निर्वाण
"	"	१३	अनन्तनाथ	जन्म
"	"	१४	"	दीक्षा
"	"	"	"	केवलज्ञान
"	"	"	कुन्थुनाथ	जन्म

कशाख	शुक्ला	४	अभिनन्दन	च्यवन
"	"	७	धर्मनाथ	"
"	"	८	अभिनन्दन	निर्वाण
"	"	९	सुमतिनाथ	जन्म
"	"	१०	सुमतिनाथ	दीक्षा
"	"	११	महावीर	केवलज्ञान
"	"	१२	विमलनाथ	च्यवन
"	"	१३	अजितनाथ	च्यवन
ज्येष्ठ	कृष्णा	६	श्रेयांसनाथ	"
"	"	७	मुनिसुव्रत	जन्म
"	"	८	"	निर्वाण
"	"	१३	शान्तिनाथ	जन्म
"	"	१३	"	निर्वाण
"	"	१४	"	दीक्षा
"	शुक्ला	५	धर्मनाथ	निर्वाण
"	"	६	वासुपूज्य	च्यवन
"	"	१२	सुपार्वनाथ	जन्म
"	"	१३	"	दीक्षा
आषाढ	कृष्णा	४	आदिनाथ	च्यवन
"	"	७	विमलनाथ	निर्वाण
"	"	८	नमिनाथ	दीक्षा
"	शुक्ला	६	महावीर	च्यवन
"	"	७	नेमिनाथ	निर्वाण
"	"	१४	वासुपूज्य	"
श्रावण	कृष्णा	३	श्रेयांसनाथ	"
"	"	७	अनन्तनाथ	च्यवन
"	"	८	नमिनाथ	जन्म
"	"	९	कुन्थुनाथ	च्यवन
"	शुक्ला	२	सुमतिनाथ	"
"	"	५	नेमिनाथ	जन्म
"	"	६	"	दीक्षा
"	"	७	पार्वनाथ	निर्वाण
"	"	१४	मुनिसुव्रत	च्यवन
भाद्रपद	कृष्णा	७	शान्तिनाथ	"
"	"	७	चन्द्रप्रभ	निर्वाण
"	"	८	सुपार्वनाथ	च्यवन

भाद्रपद	शुक्ला	६	सुविधिनाथ	निर्वाण
आश्विन	कण्ठा	१५	नेमिनाथ	केवलज्ञान
"	शुक्ला	१५	नमिनाथ	च्यवन

२४. सर्वजिनपञ्चकल्याणक स्तोत्र

मदनावतार नामक मात्रिक छन्द में ग्रथित सामान्य रूप से (अर्थात् जिसमें किसी तीर्थंकर विशेष का नाम न लिया गया हो उसे सामान्य कहते हैं) समग्र तीर्थंकरों के च्यवन, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण इन पांच कल्याणकों का गुणगौरव और अतिशयों का वर्णन इसमें किया गया है। नामानुरूप मदनावतार की गेयता इसमें परिपूर्णरूप से लक्षित होती है।

२५. प्रथमजिन स्तव

३३ पद्यात्मक इस स्तोत्र में यथासामान्य प्रथम तीर्थपति श्रीआदिनाथ के गुणों की स्तवना और स्वयं की लघुता प्रदर्शित की गई है।

स्तवना की अपेक्षा भी तद्देशीय प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के छन्दों की विविधता के कारण इसका महत्त्व विशेष है। इसमें दोहा, पद्धटिका, पादाकुलक, वस्तुवदन, मदनावतार, द्विपदी, मात्रा पचपदी, एकावली, क्रीडनक, हक्का, षट्पदी आदि छन्दों का कवि ने स्वतंत्रता से प्रयोग किया है। तत्कालीन प्राकृत-अपभ्रंश स्तोत्र साहित्य में छन्द वैविध्य की दृष्टि से यह रचना संभवतः अजितशान्ति स्तोत्र के बाद सर्वप्रथम ही हो ! परवर्ती काल में इन प्राकृत छन्दों का अपभ्रंश एवं प्राचीन हिन्दी में प्रचुरता से उपयोग हुआ है।

२६. लघु अजित-शान्तिस्तव

इस स्तोत्र का प्रसिद्ध और अपरनाम 'उल्लासि' है। इसमें द्वितीय जिनेश्वर अजितनाथ और सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ की स्तुति की गई है। श्वेताम्बर जैन-स्तोत्र-साहित्य में प्रसिद्धतम 'अजितशान्तिस्तव' के अनुकरण पर कवि ने इसकी रचना की है। कोमल-कान्त-पदावली का जो लालित्य और संगीत अजितशान्ति स्तव में है, उससे कुछ अधिक ही इसमें प्राप्त हो सकती है। जिन पदों में दोनों तीर्थंकरों की स्तुति एक साथ की गई है, उनमें कवि की शब्द-योजना तथा भाषासौष्ठव देखते ही बनता है।

आचार्य जिनवल्लभ-प्रणीत समग्र प्राकृत स्तोत्रों में यह सर्वश्रेष्ठ है।

इस स्तोत्र का आज भी खरतरगच्छ समाज में त्रयोदशी एवं विहार के दिवसों में पठन-पाठन प्रचलित है और दैनिक संस्मरणीय सप्तस्मरण स्तोत्रों में इसका द्वितीय स्थान है। इसकी लोकप्रियता और प्रभावोत्पादकता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है!

२७-२८. क्षुद्रोपद्रवहर-पार्श्वनाथ स्तोत्र, स्तम्भनपार्श्वनाथ स्तोत्र

एवं महावीर विज्ञप्तिका

क्षुद्रोपद्रवहर पार्श्वनाथ स्तोत्र २२ आर्यांशों में ग्रथित है। इस स्तोत्र में भगवद्गुण-

कीर्तन के साथ भगवन्नाम-माहात्म्य से समस्त प्रकार के आधि-व्याधि उपद्रवों के नाश होने का प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है ।

स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तोत्र (आर्या छन्द ११) में स्तम्भनपुर के प्रसिद्ध तीर्थपति पार्श्वनाथ की एवं महावीर विज्ञप्तिका (आर्या छन्द १२) में श्रमण भगवान् महावीर की सुन्दर और सुललित पदों में स्तवना की गई है । भाषा प्राकृत और छंद आर्या ही है ।

३०. महाभक्तिगर्भा सर्वज्ञविज्ञप्तिका

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें सर्वज्ञ-जिनेश्वरों की सेवा में कवि ने अत्यन्त ही भक्ति से ओतप्रोत एक विज्ञप्ति की है । कवि सांसारिक भव-बन्धनों से, जन्म, जरा, मरण, दुःख, शोक आदि से त्रस्त होकर सर्वज्ञ-जिनेश्वरों के अपरिमित एवं अनन्त गुणों का संस्मरण करता हुआ तथा उनके सन्मुख अपने अवगुणों की स्पष्ट रूप से निन्दा, मर्हा और प्रायश्चित्त करता हुआ दृष्टिगत होता है । उसकी प्रार्थना है कि भगवान् उसे सम्यक्त्व (बोधि) प्रदान करते हुए शिवनगरी का मार्ग शीघ्र बतायें । इस विज्ञप्ति में ३७ आर्याओं के अतिरिक्त अन्तिम छन्द वसन्ततिलका है ।

३१. नन्दोश्वर चौत्य स्तव

नन्दीश्वर नामक अष्टमद्वीप में स्थित शाश्वत ५२ जिनालयों और उनमें प्रत्येक चैत्यालयों में स्थित १२४ जिन-प्रतिमाओं का कवि ने भक्ति पुरस्सर वन्दन करते हुए अपनी लघुयोजना शैली द्वारा पच्चीस आर्याओं में आकर्षक वर्णन किया है ।

कवि के वर्णनानुसार प्रत्येक दिशा में अंजनगिरि (कृष्णवर्ण वाले) पर्वत हैं; जिनके नाम हैं—देवरमण, नित्योद्योत, स्वयंप्रभ और रमणीय । प्रत्येक अंजनगिरि के चारों दिशाओं में चार-चार पुष्करिणियां हैं अर्थात् चार अंजनगिरि के चारों तरफ १६ पुष्करिणियाँ हैं जो नन्दिषेणा, अमोघा, गोस्तूपा, सुदर्शना, नन्दोत्तरा, नन्दा, सुनन्दा, नन्दिवर्धना, भद्रा, विशाला, कुमुदा, पुण्डरीकिनी, विजया, वैजयन्ती, जयन्ति और अपराजिता के नाम से जानी जाती हैं । प्रत्येक पुष्करिणी के चारों दिशाओं में एक-एक वन खड हैं जो अशोक वन खण्ड, सप्तपर्ण वन खण्ड, चम्पक वन खण्ड और आम्रवन खण्ड के नाम से विख्यात हैं । अतः कुल ६४ वन खण्ड हुये । प्रत्येक पुष्करिणी के मध्य में एक दधिमुख (श्वेत) गिरि पर्वत होने से कुल १६ दधिमुख पर्वत हैं । प्रत्येक दधिमुखपर्वत के अन्तराल में दो-दो पुष्करिणियाँ हैं और प्रत्येक पुष्करिणी के मध्य में दो-दो रतिकर (लालवर्ण) नाम के पर्वत हैं । इस प्रकार कुल ३२ रतिकर पर्वत होते हैं । इस प्रकार समग्र ५२ पर्वत हुए ।

प्रत्येक पर्वत के ऊपर एक-एक जिनचैत्य हैं, जिनके प्रत्येक दिशा में चार-चार दरवाजे हैं, जो प्रत्येक में देवद्वार, असुरद्वार, नागद्वार तथा सुपर्णद्वार कहलाते हैं । इन द्वारों से चैत्यालय में देवादि अपने-अपने द्वार से प्रवेश करते हैं । प्रत्येक चैत्य में पाँच सौ धनुष प्रमाणो-पेत १२० प्रतिमायें हैं । प्रत्येक चैत्य में एक मणिमय वेदिका है और उस पर ऋषभानन, चन्द्रानन, वारिषेण और वर्धमान शाश्वत नामधारक तीर्थकरों की प्रतिमायें हैं । प्रत्येक प्रतिमा के परिकर में ६. ६ प्रतिमायें अवस्थित हैं ।

ये प्रत्येक चैत्य तोरण, ध्वजा, अष्टमंगल तथा पूजादि की समग्र सामग्रियों से आकलित हैं। इन चैत्यों में कल्याणक दिवसों, पर्वतिथि तथा पर्वों में समग्र प्रकार के देवता आकर द्रव्य और भाव पूजन के साथ भक्ति करते हैं।

नन्दीश्वर द्वीप के अन्तर्मध्य में ४ रतिकर नामक पर्वत विशेष हैं। इनकी प्रत्येक दिशा में एक-एक राजधानी होने से कुल १६ राजधानियाँ हैं, जिनमें ८ सौधमन्द्र की इन्द्राणियों की और ८ ईशानेन्द्र की इन्द्राणियों की हैं, जिनके नाम हैं—देवकुरा, उत्तरकुरा, नन्दोत्तरा, नन्दायणा, भूता, भूतावसन्ता, मातारमा, अग्निमालिनी, सोमनसा, सुसीमा, सुदर्शना, अमोघा, रत्नप्रभा, रत्ना, सर्वरत्ना और रत्नसंचया। ये सम्पूर्ण नगरियाँ राजधानीवत् समग्र वस्तुओं से परिपूर्ण हैं। इनमें देवी-देवता निवास करते हैं और क्रीड़ा पूर्वक अपना समय व्यतीत करते हैं।

प्रत्येक राजधानी में एक-एक जितचैत्य (मतान्तरापेक्षया दो-दो) पूर्ववर्णित प्रतिभावों और सामग्रियों से पूर्ण हैं। केवल इनके ३ दरवाजे होते हैं और शाश्वत नामधारक ४ प्रतिमाओं के अभाव में १२० प्रतिमायें होती हैं।

इसमें प्रत्येक पर्वत, पुष्करिणी, वनखण्ड, नगरी आदि की उच्चता, पृथुता, अधोभाग इत्यादि के परिमाण का उल्लेख किया गया है।

अन्त में कवि उपसंहार करता हुआ सूत्रों के अनुसार २०, वृत्तियों की दृष्टि से ५२, राजधानियों के विचार से १६ तथा मतान्तर से ३२, जिनेश्वरों को नमस्कार करता है जो नन्दीश्वर द्वीप के चैत्यों में विराजमान बतलाये गये हैं।

३२. भावारिवारण स्तोत्र

समसंस्कृत प्राकृत भाषा में साहित्य-सर्जन करना अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है, क्योंकि दोनों भाषाओं पर जिसका समान अधिकार हो और प्रतिभा हो वही इस शैली का अनुसरण कर सकता है। भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से ऐसे साहित्य की विशेष महत्ता है। इस प्रकार की कृति हमें सर्वप्रथम याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्रसूरि की 'संसारदावा' स्तुति मिलती है। प्रस्तुत महावीर स्तोत्र अपरनाम भावारिवारण भी इसी कोटि की सुन्दरतम रचना है।

भक्तामर, कल्याणमन्दिर, सिन्दूरप्रकर की तरह ही 'भावारिवारण' इसका आदि पद होने से यह महावीर स्तोत्र भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार के नाम पढ़ने से यह स्पष्ट ही है कि यह स्तोत्र जनता में बहुत लोकप्रिय होने से अत्यधिक पढ़ा जाता था। अपनी आलंकारिक योजना, प्रसादगुणवैभव, माधुर्य प्रचुरता, छन्द की गेयता, तथा भावानुकूल शब्द-योजना आदि के कारण इसमें आकर्षण और प्रभाव अधिक है। इस स्तोत्र को साहित्यिक स्तोत्र-साहित्य में भक्तामर और कल्याणमन्दिर की कोटि में सरलता से रखा जा सकता है। स्तोत्र का लक्ष्य भगवान् की गुणगरिमा का गान करके संगीत लहरियों द्वारा आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण करना है।

३३. पञ्च कल्याणक स्तोत्र

इसमें स्रग्धरावृत्त में समग्र जिनेश्वरों के पाँचों कल्याणकों के अतिशयों का वर्णन है। प्रत्येक दो-दो श्लोकों में एक-एक कल्याणक का वर्णन है और अन्तिम दो पद्यों में इन सब का महत्त्व। इसकी रचना अलंकार पूर्ण और ओजमयी शैली में हुई है। इसमें समासों की जटिलता अधिक होते हुए भी सरलता होना ही इसकी विशिष्टता है। इसकी भाषा संस्कृत है।

३४. कल्याणक स्तोत्र

इसमें श्लोक २ से ६ तक एक-एक श्लोक में एक-एक कल्याणक का वर्णन है और प्रथम तथा अन्तिम पद्य में इनकी महत्ता वर्णित है। इसमें केवल अनुष्टुप् छन्द का ही कवि ने प्रयोग किया है।

३५-४२. अष्ट स्तोत्र

सर्वजिनेश्वर स्तोत्र और पार्श्वनाथ स्तोत्र सं. ३६ से ४२ में से प्रत्येक स्तोत्र संस्कृत भाषा में है। इन सब में न केवल कवि की शब्दचयन शक्ति, उक्ति-वैचित्र्य, चित्र-काव्यात्मकता और अलंकार-प्रयोग का तो हमें ज्ञान होता ही है अपितु इसके साथ-साथ ओज के साथ प्रसाद गुण, समास जटिलता के साथ सरलता और व्याकरण के साथ दर्शन का भी सुन्दर समन्वय दृष्टि-गोचर होता है। उपमा, रूपक, अनुप्रास, श्लेष, यमक, निदर्शना, विभावना विशेषोक्ति, अर्थान्तर-न्यास, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति आदि अलंकार तो इन स्तोत्रों में इधर-उधर बिखरी हुई मणिराजी के समान बिखरे हुए दीख पड़ते हैं। इन आठों की पृथक्-पृथक् विशिष्टता निम्नलिखित है:—

३५. सर्वजिन स्तोत्र:—सम्पूर्ण जिनेश्वरों की वसन्ततिलका वृत्त द्वारा २३ पद्यों में स्तुति की गई है।

३६. पार्श्वजिन स्तोत्र:—तैवीसर्वे तीर्थंकर आश्वसेनीय पार्श्वनाथ की स्तवना की गई है। कुल श्लोक ३३ हैं। शिखरिणी, मालिनी, वसन्ततिलका और हरिणी छन्दों के चार अष्टकों में रचना की गई। अन्तिम पद्य शार्दूलविक्रीडित में उपसंहार का है।

इस आद्यस्तोत्र में उपसंहार के पद्य में कवि की उस प्रतिभा के बीज का हमें भली भांति दर्शन हो जाता है जो आगे जाकर अंकुरित-पल्लवित और पुष्पित होती हुई नाना रूप ग्रहण करके कवि की यशश्री को बढ़ाती है। प्रथम रचना में होने वाले गुणापकर्ष के प्रति कवि स्वयं सजग है। जैसा कि उसने स्वयं लिखा है:—

‘अज्ञानाद् भ्रमिति स्थिते: प्रथमकाभ्यासात् कवित्वस्य यत्’

३७. यह पार्श्वस्तोत्र स्रग्धरा छन्द में ग्रथित है और उपसंहार का ६ वां पद्य वसन्त-तिलका में है।

३८. यह पार्श्वनाथ स्तोत्र स्रग्धरा छन्द में है और इसमें १० श्लोक हैं।

३९. इसके २४ श्लोक हैं। जिनमें २३ श्लोक शिखरिणी और अन्तिम श्लोक शार्दूलविक्रीडित में है।

४०. इसमें १६ मालिनी और १७ वां हरिणी छन्द है ।

४१. यह स्तम्भनाधीश पार्श्वजिन स्तोत्र चित्र-काव्यमय है । १० पद्य हैं । १-६ पद्य अनुष्टुप् हैं और १० वां १५ मात्रिक छन्द है । प्रथम पद्य में चित्र-काव्यों के नाम हैं और २ से ६ में शक्ति, शूल, शर, मुसल, हल, वज्र, असि, धनुः चित्रकाव्यों में गुणवर्णनात्मक जिन स्तुति है । १० वां पद्य उपसंहारात्मक है । चित्रकाव्यत्व की दृष्टि से यह लघु रचना आचार्य-श्री की सर्वोत्तम कृति है ।

४२. यह स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तोत्र चक्रबन्ध काव्यात्मक अष्टक स्तोत्र है । प्रत्येक श्लोक षडारक चक्रबन्ध चित्रकाव्य में गुंफित है । अष्टम पद्य में धर्मशिक्षा, संघपट्टक के समान कवि ने 'जिनवल्लभ गणिना' स्वनाम भी अंकित किया है । छन्द शार्दूलविक्रीडित है ।

४३. भारती स्तोत्र

जैन-साहित्य में जिनेश्वर देव की वाणी ही श्रुतदेवता या सरस्वती कहलाती है । वह अन्य देवियों की तरह कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है । यही कारण है कि स्वतन्त्र रूप से 'सरस्वती' पर स्तोत्र-साहित्य नहीं मिलता । प्राचीन जैन ग्रन्थकारों ने ग्रन्थारंभ में प्रायः सरस्वती का स्मरण अवश्य किया है किन्तु जिनवाणी के रूप में ही ।

आचार्य जिनवल्लभ ने इसी सरस्वती को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार कर इस स्तोत्र की रचना की है । इन्हीं के चरण-चिह्नों पर चल कर परवर्ती कवियों ने इसको सरस्वती देवी के रूप में स्वीकार किया है । इसी के पश्चात् सरस्वती देवी की मूर्तियों का निर्माण भी प्रारंभ हुआ । युगप्रवरागम जिनपतिसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने सं. १३१७ में भीमपलासी स्थान पर ५१ अंगुल परिमाण की मूर्ति की प्रतिष्ठा की ही थी । कुछ विद्वानों के मतानुसार सरस्वती की प्राचीनतम प्रतिमायें जैनों द्वारा ही स्थापित हुई हैं ।

हरिणीवृत्त में ग्रथित यह भारती स्तोत्र २५ श्लोकों में है । रचना की शैली सदा की भांति ही सालंकारिक, सुललितपदा तथा विदग्धमनोहरा है । सरस्वती का स्वतंत्र स्वरूप स्थापित करते हुए भी कवि ने उसका जिनवाणीरूप दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है । इसी-लिये वह भारती से 'परमविरत' की याचना करता है ।

४४. नवकार स्तोत्र

नवकार मंत्र समस्त जैन सम्प्रदायों में सर्वश्रेष्ठ मन्त्र माना जाता है । इसे १४ पूर्वों का सार स्वीकार करते हुए जैन सम्प्रदाय इसकी महत्ता के सम्मुख चिन्तामणिरत्न, कल्पवृक्ष, चित्रावेली, रत्नराशि तथा कामकुम्भ को भी तुच्छ गिनता है । शत्रुञ्जय तीर्थ के समान ही इस मन्त्र को प्रमुखता प्रदान की गई है ।

इस नवकार मन्त्र में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओं को पंच परमेष्ठि रूप में स्वीकार किया गया है । उसके आराधक को 'सर्वपाप विनिर्मुक्त' होने का

१. युगप्रधानाचार्य गुर्वाबली पृ० ५१

फल प्राप्त होता माना जाता है। इस स्तोत्र में भी प्रथम और दूसरे पद्य में इसकी महत्ता का निर्देश है। तीसरे से आठवें तक पंच परमेष्ठि का स्वरूप और ध्यान तथा आराधन की विधि है तथा ९ से १३ तक इसके आराधन से फल प्राप्त करने वाले कतिपय आराधकों के नाम तथा इससे होने वाले अनेक प्रकार के फलों और सिद्धियों का वर्णन है। अन्तिम पद्य में अपने नाम के साथ इस मंत्र के आराधन की शिक्षा देते हुए उपसंहार किया गया है।

इस स्तोत्र की भाषा अपभ्रंश है और इसका छन्द वस्तुवदन और दूहा मिश्रित 'द्विभंगी' है। कतिपय प्रतियों में 'गुरु जिणवल्लहसूरि भणइ' के स्थान पर 'गुरु जिणप्पहसूरि भणइ' भी मिलता है। भाषा की दृष्टि से देखते हुए यह स्तोत्र जिनप्रभसूरि प्रणीत भी हो सकता है जैसा कि कुछ प्रतियों में उल्लेख है। परन्तु जिनप्रभसूरि की शिष्यपरंपरा द्वारा लिखित सोलहवीं शती के एक गुटके में भी 'जिनवल्लभसूरि' नाम ही लिखा है।

अध्याय : ५

कवि-प्रतिभा

जिनवल्लभसूरि को कविरूप में उच्च आदर प्राप्त हुआ था। कहा जाता^१ है कि उस युग के लब्धप्रसिद्ध कवियों द्वारा भी ये पूज्यभाव से देखे जाते थे। उनके अपने पट्टधर युगप्रधान जिनदत्तसूरि द्वारा जिनवल्लभसूरि को माघ, कालिदास तथा वाक्पतिराज^२ से भी बढ़कर कहा जाना चाहे स्नेह-श्रद्धा का पक्षपात लगे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सत्काव्य के जो मान मध्ययुगीय समाज में समादृत थे उनके अनुसार आचार्य जिनवल्लभ एक उच्च-कोटि के कवि थे। जैन-परंपरा^३ के अनुसार इनका काव्य नवरसों से पूर्ण और अपूर्व था। यद्यपि उपलब्ध कृतियों से इस मत की पूर्णतया पुष्टि नहीं हो पाती परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रचुरप्रशस्ति आदि जो अनेक काव्य^४ अभी तक अनुपलब्ध हैं वे, काव्य की दृष्टि से अधिक महत्त्व के थे।

काव्य शैली

कवि जिनवल्लभ की काव्य शैली के मूल्यांकन के लिये हमें उनकी समस्त कृतियों पर दृष्टि रखनी होगी। उनकी कुल मिलाकर ४४ कृतियां प्राप्त हैं। प्राप्त रचनाओं में विषय,

१. लब्धप्रसिद्धिभिः सुकविभिः सादरं यो महितः। चर्चरी पृष्ठ ४

२. सुकवि माघं ते प्रशंसन्ति ये तस्य शुभगुरोः,

साधु न जानतेऽज्ञा मतिजितसुरगुरोः।

कालिदासः कविरासीद् यो लोकैर्वर्ण्यते,

तावद् यावद् जिनवल्लभ कविर्नाकर्ण्यते ॥

सुकविविशेषितवचनो यो वाक्पतिराजकविः

सोपि जिनवल्लभपुरतो न प्राप्नोति कीर्तिं काञ्चिच्च। चर्चरी पृष्ठ ५

३. काव्यमपूर्वं यो विरचयति नवरसभरसहितम्। जिनदत्तसूरि

नवरसश्चिरं काव्यम्। जिनपालोपाध्याय

४. तु० 'महाप्रबन्धरूप-प्रश्नोत्तरशतक-शृङ्गारशतक-प्रचुरप्रशस्तिप्रभृतिकं यो विरचयति नवरसभरसहितम्
(जिनपालोपाध्याय)

वर्णन, विचार तथा भाव की दृष्टि से जो विविधता मिलती है उससे कवि की प्रतिभा का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। कर्मसिद्धान्त, तत्त्वज्ञान, कर्मकाण्ड तथा आचारशास्त्र के ग्रन्थों में हमें गंभीर विवेचन के अनुरूप जो शैली मिलती है वही खंडनात्मक 'संघपट्टक' में आकर विषयानुकूल-तीक्ष्णता को अपना लेती है और साहित्यिक ग्रन्थों में सरसता और रोचकता। वह चरित-काव्यों में समास-प्रधान है तो स्तोत्रों में व्यास प्रधान; संस्कृत काव्यों में समास-बहुला है। इनकी शैली की प्रमुख विशेषता है विविधता; जो सर्वत्र प्रकट होती है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित भाषाओं का प्रयोग, ३० से ऊपर छन्दों में लिखना और कभी-कभी एक ही स्तोत्र में अनेक छन्दों^१ अथवा विविध भाषाओं^२ को लाना तो उनके वैविध्य प्रेम के द्योतक हैं ही, परन्तु प्रश्नोत्तरकषष्टिशतम् में उनकी यह विशेषता चरमसीमा तक पहुंची हुई प्रतीत होती है। अतः यहां पर इस कृति का संक्षिप्त परिचय समीचीन होगा।

प्रश्नोत्तरकषष्टिशतम्

यह एक श्लोकबद्ध प्रश्नावली^३ है। इसकी रचना जैसा कि प्रारंभ^४ में ही कहा गया है बुधजनों के बोध के लिये ही की गई है। इस प्रश्नावली में जो प्रश्न एकत्र किये गये हैं उससे स्पष्ट है कि उस समय की पण्डित-मण्डली कंसे उच्चकोटि के बौद्धिक मनोविनोदों की अपेक्षा रखती थी, क्योंकि इसमें जहां व्याकरण,^५ निरुक्त,^६ पुराण,^७ दर्शन,^८ तथा व्यवहार^९ आदि विविध विषयों को लेकर प्रत्युत्पत्ति तथा प्रतिभाकी परीक्षा करने वाली पहेलियां हैं, वहां सुरुचि, सदाचार तथा सद्गम की भी कहीं अपेक्षा नहीं की गई है। कवि के प्रकाण्ड-पाण्डित्य एवं ज्ञान-गांभीर्य को प्रकट करने वाली विषयों की विविधता के साथ-साथ प्रश्नों में शैलीभेद से होने वाले प्रकारों को भी इसमें झलीभांति दिखाया गया है; जैसा कि निम्नलिखित सूची से भी पत चलेगा:—

- | | |
|--------------------|-------------------|
| १. अष्टदलकमलम् | ४. गतागतचतुर्गंतः |
| २. गतागताः | ५. चतुर्गंतः |
| ३. गतागतद्विर्गंतः | ६. चतुःसमस्तः |

१. देखिये 'प्रथमजिनस्तव' जिसमें ११ छंद हैं।
२. देखिये 'भावारिवारण स्तोत्र' में संस्कृत और प्राकृत
३. इस प्रश्नकाव्य में अन्तः प्रश्न, बाह्यः प्रश्न, अन्तः बाह्यः प्रश्न, जातिप्रश्न, पृष्ठप्रश्न और उत्तरप्रश्नों का प्रयोग किया गया है। लक्षणों के लिये देखें, 'सरस्वतीकथाभरण' द्वितीय परि० प्रश्नोत्तरलक्षण पृ. ३०३-३०४
४. कतिचिद् बुधबुद्धयं वचम्यहं प्रश्नभेदात्
५. प्र. १२२; ७४; ६४; ५६; इत्यादि
६. प्र. ८; १८; १२; २६; १२४; १२५; इत्यादि
७. प्र. २४; ३५; ३६; ३; इत्यादि
८. प्र. ४; ६; ५; १३; २०; इत्यादि
९. प्र. ; ६; १४; १३१; १२७; इत्यादि

- | | |
|-----------------------------|---|
| ७. चलद्विन्दुजाति | २२. भाषाचित्रकसमवर्णजाति |
| ८. त्रिगंतजाति | २३. मञ्जरीसनाथजाति |
| ९. त्रिःसमस्तजाति | २४. मन्थानजाति |
| १०. त्रिसमस्तसूत्रोत्तरजाति | २५. मन्थानान्तरजाति |
| ११. द्विगंतजाति | २६. वर्धमानाक्षरजाति |
| १२. द्विःसमस्तजाति | २७. व्यस्तकमलाष्टदलजाति |
| १३. द्विव्यस्तसमस्तजाति | २८. व्यस्तसमस्तजाति |
| १४. द्वादशपलं पद्मम् | २९. वाक्योत्तरजाति |
| १५. द्विगंतभाषाचित्रक | ३०. विपरीताष्टदलजाति |
| १६. नामाख्यातजाति | ३१. विपरीतमंजरीसनाथजाति |
| १७. पद्मजाति | ३२. विषमजाति |
| १८. पद्मान्तरजाति | ३३. श्लोकमध्यस्थितसमवर्णप्रश्नोत्तरजाति |
| १९. पादोत्तरजाति | ३४. शृंखलाजाति |
| २०. भाषाचित्रजाति | ३५. समवर्णप्रश्नोत्तरजाति |
| २१. भाषाचित्रकद्विगंतजाति | ३६. समस्तव्यस्तजाति |

प्रश्नों में विषय-भेद और शैलीभेद के अतिरिक्त भाषाभेद भी मनोरंजनकारी है। अधिकांश पद्य शुद्ध संस्कृत में होते हुये भी कहीं-कहीं शुद्धप्राकृत^१ या मिश्रभाषा^२ का प्रयोग भी हुआ है। कुल १६१ पद्यों के छोटे से काव्य में भी २० छन्दों का प्रयोग, काव्यगत अन्य विधिताओं को देखते हुए कवि के वैविध्यप्रेम का सूचक है। परन्तु इतनी विभिन्नता तथा विविधता होते हुए भी, इस काव्य में भी वे गुण न्यूनाधिक रूप में देखे जा सकते हैं जो कवि के अन्य काव्यों में पाये जाते हैं। इस काव्य की सब से बड़ी विशेषता है इसका चित्रकाव्यत्व। जैसा कि परिशिष्ट से ज्ञात होगा। इसमें कुल मिलाकर २८ चित्रों की योजना है, परन्तु यहां भी कवि-वैविध्य-प्रेम उसे ८ प्रकार के चित्रों का समावेश करने को बाधित करता है। सामान्य-सरलता और सुबोधता होते हुए भी इस काव्य में कहीं-कहीं चित्रकाव्य मुलभ क्लिष्टता भी आ गई है; जिसके लिये कवि बड़े विनम्र शब्दों में काव्य-उपसंहार करते हुए कहता है: -

किमपि यदिहाशिलष्टं क्लिष्टं तथा चिरसत्कवि-
 प्रकटितमथानिष्टं शिष्टं मया मतिदोषतः ।
 तदमलधिया बोध्यं शोध्यं सुबुद्धिधनैमनः
 प्रणयविशदं कृत्वा धृत्वा प्रसादलवं मयि ॥

उनकी शैली की दूसरी प्रमुख विशेषता है चमत्कार प्रेम। यों तो विविधता में भी चमत्कार है और वस्तुतः उनका वैविध्यप्रेम चमत्कार-प्रेम का पोषक होकर ही आया हुआ

१. प्र. १०६; ११५;

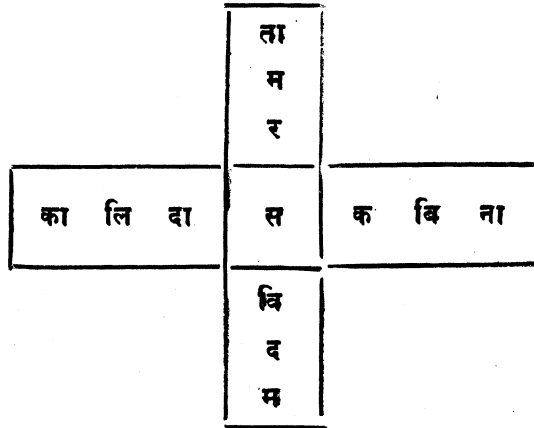
२. प्र. १८; ८८; ७६;

प्रतीत होता है, परन्तु उनके चमत्कार प्रेम का सबसे बड़ा प्रमाण हमें उनके चित्रकाव्यों में मिलता है। खेद है कि उनके कई चित्रकाव्य (षट्चक्रिका, सप्तचक्रिका, गजबन्धरूप, गोमूत्रिका और गुप्तक्रिया) आज प्राप्त नहीं हैं, परन्तु, यदि नाम से वस्तु का कुछ भी संकेत मिल सकता है, तो श्रीजिनदत्तसूरिजी के इस कथन से अवश्य सहमत होना पड़ेगा कि:—

जिण कयनाणा चित्तइं चित्तु हरंति लहु
तसु दसणु विणु पुन्निहिं कउ लब्भइ दुलहु

यद्यपि कवि की चित्रकाव्य-श्री की पूर्ण छटा से आज हम वंचित हैं, परन्तु फिर भी धर्मशिक्षा, संघपट्टक, प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत तथा स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तोत्र-द्वय में जो कुछ उदाहरण प्राप्त हैं उनसे जिनवल्लभ की चित्रकाव्य-प्रतिभा का पर्याप्त आभास मिल जाता है। अतः इनका सामान्य परिचय एक चित्र द्वारा यहां दिया जा रहा है। विशेष परिचय के लिये आरम्भ में 'चित्र-परिचय' द्रष्टव्य है।

मन्थानानान्तरजाति



कालिदासकविना, नाविक्रसदालिका, तामरसविदम,
मदविसरमता, सरकविदामविदलित्ता नाम का,
प्र० १४३

शृङ्गार-शतक

जिनवल्लभ के काव्य की अपूर्वता उनके शृंगार-काव्य में है। साधु-समुदाय के लिये शृंगार तो अंगार के समान अस्पर्श्य माना जाता है, और फिर कहां तो नीरस तथा विरक्त साधु-जीवन और कहां रसराज शृंगार ! परन्तु शृंगार वर्णन के साथ साधु-जीवन की इस सर्वमान्य असंगति को जिनवल्लभ भली भांति समझते थे। अतएव अपने शृंगारशतक के अंतिम पद्य में उन्होंने जहां एक ओर 'अंगार-शृंगार' की दाहकता का व्यंग्योल्लेख किया है

वहां दूसरी ओर उन्होंने अपने इस काव्य को 'वाचालता-चापल' कहकर सुकवियों से सहन कर लेने के लिये भी कहा है:—

“भेदो विद्यत एव दाहकतया नाऽङ्गारशृंगारयो-
रित्युक्तं न यदस्मदच्यचरणैः सार्बेस्तदेवाधुना ।
दाक्षिण्यात् किल नीरसेन रचित किञ्चिन्मयाऽपीति यद्,
बालस्येव सहन्तु मे सुकवयो वाचालताचापलम् ॥१२१॥”

एक बाल-ब्रह्मचारी के लिये शृंगार के रहस्यों को जानना और कहना कठिन होने के साथ ही एक अपूर्व साहस का भी काम है। परन्तु आचार्य ने न केवल शृंगार-काव्य की निर्भीकता पूर्वक रचना की अपितु उस रचना के लिये अपेक्षित अनुभव की कमी को पूरा करने के लिये उन्होंने अनेक शृंगार-काव्यों का परिचय प्राप्त किया और भरत के नाट्यशास्त्र तथा कामसूत्र का भी अध्ययन किया, जैसा कि निम्नलिखित श्लोक में उन्होंने स्वयं कहा है:—

“वाचः काश्चिदधीत्य पूर्वमुधियां तत्काव्यदीक्षागुरुं,
वीक्ष्य श्रीभरतं च संज्ञरुचिर श्रीकामतन्त्रं च तत् ।
साहित्याम्बुधिबिन्दुबिन्दुरपि सत्यद्ये विधित्सुर्मा-
गम्यास जिनवल्लभोऽट्टभदिमाः शृंगारसारा गिराः ॥१२०॥”

आचार्य जिनवल्लभ के लिये यह शृंगार-काव्य कोई मनोविनोद की सामग्री अथवा वाणी-विलास मात्र नहीं था। त्याग और तपस्या के जीवन को अपना कर तत्त्वनिर्णय करना ही उनका चरम लक्ष्य था और यह शृंगार-काव्य-साधना भी उनको इस लक्ष्य-सिद्धि में आवश्यक सी प्रतीत हुई, क्योंकि, जैसा कि मंगलाचरण में उन्होंने स्वयं कहा है—एकान्ततः तत्त्वनिश्चय संभव नहीं हो सकने के कारण ही कभी-कभी असत् वस्तु का भी आश्रय लिया जाता है:—

सन्तोऽसदपि कुर्वन्ति भूषणं दूषणं परे ।
एकान्ततस्ततश्चेह कुतस्त्यस्तत्त्वनिश्चयः ॥४॥

सैद्धान्तिक-दृष्टि से तत्त्वज्ञान के लिये विरक्तों को शृंगार-ज्ञान की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी आचार्य जिनवल्लभ को इस काव्य की संभावित आलोचना अथवा निन्दा का पूर्वाभास रहा प्रतीत होता है। इसीलिये इन्होंने मंगलाचरण के पश्चात् स्पष्ट कहा है कि, जो सज्जन है वह खलवचनों से आकुल होने पर भी अपने सहज आर्य-आचार को नहीं छोड़ सकता:—

“लक्ष्मीमुक्तोऽपि देवादुदितविपदपि स्पष्टदृष्टान्यदोषो-
प्यज्ञावज्ञाहतोऽपि क्षयभृदपि खलालोकबाक्याकुलोऽपि ।
नैवं त्यक्त्वाऽऽयं चर्यां कथमपि सहजा सज्जनोऽसज्जनः स्यात्,
किं कौम्भः शातकौम्भः क्वचिदपि भवति त्रापुपो जातुषो वा ॥५॥”

इसी दृष्टि से कोई व्यक्ति उन दुष्टों के वचनों पर कोई ध्यान नहीं देता जो बिना किसी निमित्त के ही संपूर्ण जगत् का अहित करने में रत रहते हैं और सज्जनों के दोषों की घोषणा करने में ही प्रसन्न होते हैं:—

“नास्ते मालिन्यमीतेरखिलगुणगरः सन्निघानेऽपि येषां,
 येषां सन्तोषपोषः सततमपि सतां दूषणोद्घोषणेन ।
 तेषामाशीविषाणामिव सकलजगन्निनिमित्ताऽहितानां
 कर्णो कर्णोज्ज्वानां विषमिव वचन कः सकर्णः करोति ॥६॥”

वस्तुतः शृंगार को पाप कहकर छुट्टी नहीं ली जा सकती । शृंगार नर-नारी सम्बन्ध का एक अमिट सत्य है और वह कितना भी कटु, कठिन अथवा घोर सत्य क्यों न हो, परन्तु किसी तत्त्वज्ञानी के लिये उसके सामने आंख मूंद लेने से काम नहीं चल सकता । आचार्य जिनवल्लभ शृंगार के इस महत्त्व को समझते थे और वे जानते थे, उन ‘पुण्यपण्यापण’ दंभियों को जो शृंगार की व्यापक सार्वभौमता की उपेक्षा करने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं । अतः शृंगारशतक के प्रारंभ में ही कवि ने स्पष्टतया इस बात को स्वीकार किया है:—

“कोऽयं दपकरूपदर्पदलन कः पुण्यपण्यापणः,
 कस्त्रैलोक्यमलङ्करोति कतमः सौभाग्यलक्ष्म्यावृतः ।
 सोत्कण्ठं तव कण्ठकाण्डकुहरे कुण्ठः परं पञ्चमो
 मुग्धे यस्य कृते करे च विलुप्त्यापाण्डुगण्डस्थलम् ॥७॥”

अतः आचार्य जिनवल्लभ ने अपने शतक में शृंगार का जो साँगोपांग चित्रण किया वह किसी प्रकार भी साधु-जीवन का अतिक्रमण नहीं करता । उन्होंने शृंगार के सभी स्वरूपों का वर्णन किया और समस्त हाव, भाव, विभाव, अनुभाव और सचारीभावों का परिचित्रण किया, परन्तु उनके मन में न कोई भय था और न थी कोई शका अथवा जुगुप्सा । शृंगार-काव्य की साधना उनकी दृष्टि में उसी निर्मल मन से की जा सकती है जिससे कि तत्त्वज्ञान का उद्घापोह अथवा स्तोत्र-साहित्य का सृजन या चरित-काव्य का गायन । इतिहास में जनक जैसे गृहस्थ राजा तो सुने गये हैं जो शृंगार और वैराग्य दोनों को एक साथ लेकर चले हों, परन्तु वचपन से ही वैराग्यवृत्ति को लेकर मुनि-जीवन में दीक्षित होने वाले और नन्हीं बालिका तक को भी स्पर्श न करने वाले साधुओं में शान्त तथा शृंगार के बीच काव्यगत समन्वय स्थापित करने वाले आचार्य जिनवल्लभ अद्वितीय हैं । भर्तृहरि ने अवश्य ही वैराग्यशतक और शृंगारशतक लिखकर ऐसा ही प्रयत्न किया था, परन्तु इस विषय में हम यह नहीं भूल सकते कि भर्तृहरि विरक्त होने से पहिले शृंगार का पूर्ण अनुभव भी राजमहलों में कर चुके थे । परन्तु आचार्य जिनवल्लभ का शृंगारशतक एक प्रकार से एक अलौकिक प्रयत्न नहीं तो अपूर्व प्रयत्न अवश्य है; क्योंकि उन्हें शृंगार का साक्षात् अनुभव बाल-ब्रह्मचारी होने से कभी नहीं हुआ था । अमरुशतक लिये कहा जाता है कि बाल-ब्रह्मचारी शंकराचार्य ने उसे तब लिखा, जब वे परकायाप्रवेश करके शृंगार का साक्षात् अनुभव कर सके, पर जिनवल्लभ को इसकी भी आवश्यकता नहीं पड़ी । उन्होंने केवल शृंगार-साहित्य का अध्ययन करके ही अपने शृंगारशतक की रचना कर डाली ।

फिर भी शृंगारशतक को पढ़ने से कहीं भी कोई रिक्तता या कमी नहीं दिखाई पड़ती है । भाषा में प्रवाह है और शब्द-योजना भावानुकूल है । मानिनि के कुटिल-भ्रूभंग, दन्तदंशन तथा हुंकार भी युवकों के मन को प्रसन्न करने वाला है—इस बात को प्रकट करने

के लिये जिस समन्वित शब्द-योजना का प्रयोग किया है उसे निम्नलिखित पद्य में देखिये:—

“मानिन्याः कुटिलोत्कटभ्रु सहसा सन्दष्टदन्तच्छदा,
स्वेदातङ्कभयेन मोचनकृते हुङ्कारगर्भं मुखम् ।
काम केलिकलौ दृढाङ्गघटनानिष्पेषपीडोत्त्रस-
त्तियंगमानकृतार्त्तनादवदिव प्रीणाति यूनां मनः ॥१३॥”

इसी प्रकार कुपिता नायिका के मुखसौन्दर्य का वर्णन भी उल्लेखनीय है:—

“भुग्भ्रुस्फुटरक्तगण्डफलकं प्रस्यन्दि दन्तच्छद,
लोलल्लोहितचक्षुर्द्गिरदिव प्रौढानुरागं हृदः ।
सर्वाकारमनोहर सुतनु! ते कोपेऽपि पश्यन्मुखं,
दूयेनाऽस्मि यतस्ततोयमधुना मानानुबन्धेन ते ॥८५॥”

लक्षणा और व्यञ्जना के सहारे घोर से घोर शृंगार को भी शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किये बिना ही किस प्रकार काव्य में चित्रित किया जा सकता है उसका ज्वलन्त उदाहरण उस वर्णन में देखा जा सकता है, जो उन्होंने संभोगशृंगार के विस्तृत वर्णन में किया है। संभोग के पश्चात् नायक और नायिका की जो विलक्षण अवस्था हो जाती है, उसका सजीव चित्रण करते हुए कवि ने लिखा है:—

कृत्वा रागवदुद्धतं रतमथो मीलद्दृशं निःसहां,
श्रोणीपार्श्वसमस्तहस्तवितताघातेप्यसंज्ञामिव ।
दृष्ट्वा मां सखि मूर्च्छिता किमु मृता सुप्ता नु भीताथवे-
त्याकृताकुलधीरिव द्रुतमभूत् सोऽपि प्रियोऽस्मत् समः ॥१११॥”

ये तो रही संभोगोपरान्त शरीर की अवस्था, परन्तु उस समय की अनिर्वचनीय रसानुभूति का चित्रण भी जिनवल्लभ ने चित्रित करने का प्रयत्न किया है:—

“कान्ते ! कल्पितकान्तमोहनविधावाऽऽनन्दसान्द्रद्व-
द्रागावेगनिमोलिताक्षियुगला वीक्षेन तं यद्यपि ।
नेत्रानन्दकरं तथापि सखि मे तच्चुम्बनालिङ्गन-
प्राक् संक्रान्त इव स्फुरत्यनुपमः कश्चिद् रसश्चेत्सि ॥११२॥”

शृंगार-शातक में नारी के सौन्दर्य का वर्णन भी यत्र तत्र विशद तथा सहजरूप में मिलता है। नायिका की कटाक्षछटा दूध के समान श्वेत तथा तरल है और उसकी दन्त-ज्योत्स्ना आकाश में मंडलाकार फैलती हुई सपूर्ण विश्व को अपनी श्वेतिमा से आप्लावित कर रही है। फिर वह अभिसार के लिये चन्द्रोदय की प्रतीक्षा क्यों करे:—

“मुग्धे ! दुग्धैरिवाशा रचयति तरला ते कटाक्षच्छटाली,
दन्तज्योत्स्नापि विश्वं विशदयति वियन्मण्डलं विस्फुरन्ती ।
उत्फुल्लद् गण्डपाली त्रिपुलपरिलसत् पाण्डिमाडम्बरेण,
क्षिप्तेन्दो कान्तमद्धाभिसर सरभसं किं तवेन्दूदयेन ॥७६॥”

एक साथ ही प्रसादन और मारण में दक्ष नायिका के लोचन भी कितने विचित्र हैं,

इसकी व्याख्या कवि ने इस प्रकार की है:—

“शके सुभ्रु ! सुधारसंविचरितं ते कालकूटच्छटा-
गर्भे मौक्तिकदामवन्मरकतश्रीरोचनं लोचनम् ।
यन्मामन्तरचारिशृंगसुभगश्वेताब्जपत्रप्रभा-
धिक्षेपीदमनङ्गसङ्गि सपदि प्रीणाति मोनाति च ॥१०१॥”

और नायिका की प्रेम-द्रव से आर्द्र तथा लाजभरी दृष्टि युवकों के लिये तो न मालूम कौनसा काम कर बैठती है; इस विषय में कवि की उक्ति कितनी विलक्षण है:—

“साकृतोत्कलिकाः सकौतुककणाः प्रेमद्रवार्दास्तव,
क्रीडन्त्यस्तरलाक्षि दिक्षु निविडव्रीडा जडा दृष्टयः ।
चेतश्चञ्चलयन्ति कायलतिकामुत्कम्पयन्ति क्षणात्,
चक्षुः शीतलयन्ति किं तदथवा यूनां न यत् कुर्वते ॥१०२॥”

जिनवल्लभ की कविता प्रायः प्रसाद गुण सम्पन्न है। कहीं-कहीं तो भाषा की सरलता ने इस काव्य-गुण को बहुत ही आकर्षक बना दिया है। इसका सब से अच्छा उदाहरण निम्नलिखित श्लोक में देखा जा सकता है:—

“न ताः काश्चिद्वाचः क्वचन न च ताः काश्चन कलाः,
स नोपायः प्रायः स्फुरति न तदस्त्यक्षरमपि ।
यतोऽन्योन्यं यूनां विरहमवभावव्यतिकरं,
परं वक्तुं शक्तः कथमपि कदापि क्वचिदपि ॥११५॥”

शृंगारशतक में अलंकारों का प्रयोग भी अत्यन्त सुन्दर और स्वाभाविक हुआ है। शब्दालंकारों में यों तो श्लेष और यमक का प्रयोग भी प्रचुरमात्रा में मिलता है परन्तु अनुप्रास का प्रयोग बहुत ही मनोरम हुआ है। “पीतं पीतमथो सितं सितमिति” में जो स्वाभाविकता है वही आप “प्रेमप्रसन्नः प्रियः” में देख सकते हैं। विषय की अनुकूलता तथा स्वाभाविक सरलता को ध्यान में रखते हुए कवि ने जो अनुप्रास प्रयुक्त किये हैं उनका एक अच्छा उदाहरण निम्नलिखित पद्य में देखा जा सकता है:—

“भ्रमद्भ्रमरविभ्रभोद्भ्रमटकटाक्षलक्षाङ्किता,
दृशामसदृशोत्सवाश्चतुरकुञ्चितभ्रूलताः ।
स्फुरत्तरुणिमद्रुमोल्लसदनल्पपुष्पश्रियो,
हरन्ति हरिणीदृशां कमपि हन्त ! हेलोदयाः ॥५०॥”

अर्थालङ्कारों में भी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वाभावोक्ति आदि का बहुत ही सुन्दर और सफल प्रयोग किया गया है। कहीं “संफुल्लशेफालिका” कुसुम के समान “नीविग्रन्थि” सरक जाती है और कहीं कोई “पुण्डरीकवदना लीलानिमीलित” नयना होकर दिखाई पड़ती है। कामदेव के प्रताप से वस्तुओं का जो स्वभाव-विपर्यय हो जाता है उसका वर्णन कवि की अलंकार-युक्त वाणी से निम्नलिखित पद्य में देखिये:—

“यत्कान्तेऽवनतेप्यहं स्मरगुरुदृष्टं सखी प्रार्थितं,
कोपाग्नकरवं तदेतदुदितं पापं स्फुटं यत्नतः ।
कर्पूरोऽसिकरायते मृगमदश्रीः कालकूटायते,
शीतांशुदंहनायते कुवलयस्रक् कालपाशायते ॥४७॥”

कहीं-कहीं पर काव्य के प्रांगण में भी पाण्डित्य-प्रदर्शन के प्रलोभन का संवरण नहीं किया जा सका है। निम्नलिखित पद्य में अलंकारों की सुन्दर छटा के साथ-साथ कवि की इसी प्रवृत्ति का एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत है:—

“सत्यं सख्यत्रिकल्पदृक् क्षणिकधीर्नष्टायकः सौगतः,
प्रामाण्येन न योऽब्रवीत्यवितथज्ञाने विकल्पस्मृती ।
यस्मादस्मि विकल्पतल्पशयितं प्रेयांसमङ्गस्पृशं,
स्मत्वा केलिकलां च तां रतिफलं विन्दामि निन्दामि च ॥३३॥”

स्तोत्र-साहित्य

कवित्व की दृष्टि से स्तोत्र-साहित्य में आचार्य जिनवल्लभ का मन सब से अधिक रमा हुआ जान पड़ता है। स्तोत्रों में जैसा उक्ति वैचित्र्य, अलंकार-वैविध्य तथा छंद-बाहुल्य मिलता है वंसा अन्यत्र नहीं। जैसा कवि ने स्वयं कहा है, अपनी कवि-प्रतिभा को व्यक्त करने के लिये उसने जो सर्वप्रथम माध्यम चुना वह एक स्तोत्र ही था। अपने इष्ट श्री पार्श्वनाथ के इस स्तवन में उन्होंने अपने जिस भक्त हृदय का परिचय दिया है, उससे इस रहस्य का पता सहज ही चल सकता है कि वे स्तोत्र-साहित्य में इतने क्यों सफल हुए हैं:—

‘न नृपपदवीं नार्थावाप्तिं न भोगसुखं न वा,
सुरपतिपदं त्वां याचेऽहं न वा शिवसम्पदाम् ।
ग्रहनि निशि च स्वप्ने बोधे स्थिते चलिते बने
सदसि हृदये भक्त्यद्वैतं ममास्तु परं त्वयि ॥३१॥’

उन्हें न अर्थ चाहिये और न भोग, न इहलोक का राज्य चाहिये न त्रैलोक्य का। वे तो रात-दिन, सोते-जागते, चलते-फिरते, सर्वत्र और सर्वदा अपने भगवान् की अनन्य भक्ति में ही रत रहना चाहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि संसार में फंसने का क्या परिणाम होता है; एक वा अनेक भवों में भ्रमण करने के पश्चात् अब उनका मन श्रीजिनेश्वर के चरणों का चंचरीक बन पाया है:—

“गतोऽहं संसारे नर-नरक-तियंक्-सुरभवे-
ष्वनेकेष्वेव त्वां जिनमलभमानः क्वचिदपि ।
इदानीं यौष्माकं चरणकमलं संश्रितवतो,
द्विरेफस्येवाभून्मनसि परमा निर्वृतिरतः ॥४॥”

कवि जिनवल्लभ के लिये भगवान् ही माता है और भगवान् ही बन्धु, पिता, मित्र, स्वामी, वैद्य तथा गुरु हैं। अधिक क्या कहा जाय वही उनके स्वस्व हैं। इसलिये वे सदैव उन्हीं की शरण में रक्षा के लिये जाते हैं:—

“त्वमम्बा त्वं बन्धुस्त्वमसि जनकस्त्वं प्रियसुहृत्,
 त्वमीशस्त्वं वैद्यस्त्वमसि च गुरुस्त्वं शुभगतिः ।
 त्वमक्षि त्वं रक्षा त्वमसव इति त्वं मम न किं,
 ततो मां त्रासीष्ठाः कठिनगदवृन्दादिततनुम् ॥२१॥”

भगवान् के चरणकमलों से अलग होकर क्या-क्या दुःख नहीं भोगने पड़ते ? अतः वे गुरुकृपा से पुनः भगवच्चरण की शरण में आकर अपने सम्पूर्ण दारिद्र्य और दैन्य को जानते हुए भी अपने को धन्य मानते हैं:—

“धिया हीनो दीनः कुकृतशतलीनः सुकृपणो,
 गुणैर्वान्तस्तान्तस्तत भवभहावर्त्तपतितः ।
 विलग्नो मग्नोऽहं तव पदयुगे तद्गुरुकृपा-
 कृपाणी कृतान्तःकरणशरणं त्वं मम परम् ॥७॥”

जिनवल्लभ के स्तोत्रों में सर्वत्याग की भावना के साथ-साथ दैन्यप्रदर्शन, आत्म-निवेदन तथा भक्तहृदय का करुणक्रन्दन मिलता है । भवसागर के अनेक संकटों और क्लेशों की विभीषिका से पीड़ित जीव के लिये त्राण पाने और शान्तिलाभ प्राप्त करने के लिये एकमात्र शरण्य प्रभुचरण ही हैं । अतः भक्त अपने भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता के सामने अपने को अत्यन्त दीन-हीन और मलीन पाकर, अपने हृदय की चीत्कार को जब छुपाने में विवश हो जाता है, तो उसके हृदय से जो वाणी निकलती है वह किस पाषाण हृदय को द्रवीभूत न कर देगी ? इस दृष्टि से जिनवल्लभ की भक्ति का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप संभवतः महाभक्तिगर्भा सर्वज्ञविज्ञप्तिका में देखा जा सकता है । भगवान् और भक्त में, सर्वज्ञ और अज्ञ में जो भेद है उसको प्रकट करते हुए वे कैसे सरल शब्दों में कहते हैं:—

तुह जिण अणंत अणुवम गुणशुणणे जडमई अस्तोहं ।
 किनु दुहत्तो किर तक्खयाय नियदुक्कयं कहिमो ॥२॥

इय पुणरुत्तमणंत दुरंतभवच्चक्कगो किल्हिसंतो ।
 लोए पइक्खपएसु जाओ य मओ य बहुसोहं ॥३॥

कवि को पूर्ण विश्वास है कि वह कितना ही वाम, पामर या पलित क्यों न हो, परन्तु भगवच्चरण में ऐसी शक्ति है जिससे कि सब का उद्धार निःसंदेह हो सकता है । इसीलिये वह भव-निवारण के लिये पुनः-पुनः भगवान् के सामने पुकार करता है:—

तुह दंसणं निवारइ कारइ मध्वत्थवत्थुवच्चासं ।
 चरणकरणम्मि सद्धिं विद्धंसइ वंसइ कुमगं ॥३३॥
 ईसा-विसाय-मच्छर-हरिसा-मरिसाइविविहुरूबेहं ।
 फुडमिद जालिओ इव वामोऽहं इम जिणिद तओ ॥३४॥
 मोहमहारिपरवसं जयबंधव रक्ख म खमाविजओ ।
 पिच्छंता न हु पट्टणो भिच्चमुबेहं तिबसणगयं ॥३५॥

स्तोत्र-साहित्य में कवि ने संभवतः अपने सभी चमत्कार दिखा देने का प्रयत्न किया है। भाषा चमत्कार की दृष्टि से कवि ने न केवल संस्कृत और प्राकृत में पृथक्-पृथक् स्तोत्र लिखे अपितु एक स्तोत्र अपभ्रंश में भी लिखा है और एक में संस्कृत और प्राकृत दोनों का ही एक साथ प्रयोग किया है। अपभ्रंश का स्तोत्र जहां अन्य गुणों के लिये महत्त्वपूर्ण है वहां भाषा-प्रवाह भी दर्शनीय है। इसकी भाषा का महत्त्व हिन्दी भाषा के प्राचीन इतिहास की दृष्टि से भी आंका जा सकता है। नवकार मंत्र की शक्ति का व्याख्यान करते हुए कवि कहते हैं:—

“चोर घाडि संकट टलइ राजा वसि होई
तित्थंकर सो ह्वइ लक्खगुण विधि संजोई
साइणि डाइणि भूत प्रेत वेयाल न पहवइ
आधि व्याधि ग्रह गरुह पीड ते किमइ न होई
कुट्टु जलोदर रोग सवे नासइ एणइ मंति ।
मयणासुं दरि तरणी परि नवपद भाण करंति ॥११॥”

छंदों की विविधता की दृष्टि से भी कवि ने अपना चमत्कार स्तोत्र-साहित्य में ही दिखलाया है। प्रथम जिनस्तवन में न केवल विविध छंदों का प्रयोग ही किया गया है अपितु दोहा जैसे संस्कृत और प्राकृत में अज्ञात तथा अप्रसिद्ध छंदों का प्रयोग भी किया गया है। निम्नलिखित दोहे को प्रमाणस्वरूप रखा जा सकता है:—

“इय जाणंतु विभक्तिभर तरलिउ किपि भणामि ।
डुक्करु सुक्करु निरुत्तमण जेण विचारिहि सामि ॥३॥”

भावारिवारण स्तोत्र न केवल संस्कृत और प्राकृत के एक साथ प्रयोग किये जाने की दृष्टि से चमत्कार पूर्ण है, अपितु काव्य-गुणों की दृष्टि से भी यह स्तोत्र बहुत समृद्ध है। कवि का जो अनुप्रास प्रेम उसके सारे साहित्य में दिखाई पड़ता है, उसको यहां भी प्रचुर परिमाण में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पद्य देखिये:—

“निस्संग ! निःसमर ! निःसम ! निःसहाय !
नीराग ! नीरमण ! नीरस ! नीरिरस !
हे वीर ! धीरिमनिवासनिरुद्धघोर—
संसारचर ! जय जीवसमूहबन्धो ! ॥२१॥”

जिनवल्लभ के काव्य में संगीतात्मकता के लिये जो सर्वत्र आग्रह दिखाई पड़ता है वह किसी भी पाठक से छिपा नहीं रह सकता। अन्य काव्यगुणों के साथ-साथ संगीतात्मकता की दृष्टि से लघु अजित शान्ति-स्तव संभवतः यहां पर उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है। अनुनासिक वर्णों की बहुलता तथा विविध वर्णों के अनुप्रास से उत्पन्न होने वाली संगीतात्मकता के लिये निम्नलिखित छंद देखिये:—

अर्डाविनिवडियाणं पत्थिवुत्तासियाणं,
जलहिलहरिहीरंताण गुत्तिहुयाणं ।
जलियजलणजालालिगियाणं च भाणं,
जणयइ लहु संति संतिनाहाजियाणं ॥१२॥”

इसी प्रकार 'क्ष' कार की छटा का कोमल-वर्णों की सन्निधि में जो अनुपम चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न कवि ने सर्व जिनेश्वर स्तोत्र में किया है, उसका अनूठा उदाहरण निम्न-लिखित श्लोक में देखा जा सकता है:—

“क्षुणक्षयक्षिपितमोक्षविपक्षलक्ष- क्षीराक्षदक्षुभितर्पक्षिमलहृक्कटाक्षः ।

क्षान्तिक्षत-क्षमजिताक्ष-सदक्षमंक्षु, रक्ष क्षणं क्षतकमक्षनिरीक्षणान् माम् ॥२१॥”

एक पार्श्वनाथ स्तोत्र में सभी छंदों में एक-एक ऐसा वर्ण या वर्णसमुदाय चुना गया है जो उस मालिनी के छंद की प्रत्येक यति पर आता है। इस प्रकार कहीं “ष्ठ” की आवृत्ति है तो कहीं “भारं” की और कहीं पर “क्षं” या “हारं” की। उदाहरण के लिये स्तोत्र के प्रथम छंद में “द्र” की आवृत्ति देखिये:—

“विनयविनमदिन्द्रं मन्ममोम्भोधिचन्द्रं, हितकृतिगततन्द्रं प्राणिषु प्रीतिसान्द्रम् ।

वचसि जलदमन्द्रं संस्तुवे पार्श्वचन्द्रं, त्रिजगदवितथेन्द्रं ध्येयघृताचलेन्द्रम् ॥१॥”

इस प्रकार जिनवल्लभ की काव्यकला में उक्ति-वैचित्र्य, पदलालित्य तथा प्रयोग-वैलक्षण्य के साथ-साथ लक्षणा और व्यंजना तथा अलंकार और रस की दृष्टि से जो समृद्धि एवं सफलता दिखलाई पड़ती है वह कवि की भक्ति-भावना तथा सहृदयता के कारण अत्यन्त हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी हो गई है। उनके काव्य में जो सौन्दर्य, अलंकरण तथा चमत्कार मिलता है, उस सब से अधिक यदि कोई भी एक गुण सर्वोपरि तथा सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है तो, वह है जिनवल्लभ की मानवता, निश्छल, निष्कपट, उदार तथा आडम्बरहीन एवं अकृत्रिम मानवता। सत् और असत्, पुण्य और पाप, उच्च और नीच तथा पावन और पतित के द्वन्द्व को एक साथ लेकर चलने वाली जीवन-यात्रा में मिथ्यात्व से क्रमशः उठते हुए अर्हत् पद-प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्नशील होने का नाम ही तो मानवता है। यद्यपि इस दृष्टि से जैन-धर्म की भांति सभी धर्म मानवता के पर्यायवाची कहे जायेंगे, परन्तु कितने हैं ऐसे धर्मध्वजी, साधुत्व का ढिंढोरा पीटने वाले तथा परोपदेशकुशल प्रचारक और गुरुमन्य लोग; जो अपने दंभ, पाखंड और आडंबर को छोड़कर आचार्य जिनवल्लभ के चरण-चिह्नों पर चलकर अपने भगवान् के सामने हृदय के नग्नरूप को रखकर कह सकें कि:—

“उल्लासितारतरलामलहारिहारा-नारीगणा बहुविलासरसालसा मे ।

संसारसंसरणसंभवभीनिमित्तं, चित्रं हरन्ति भण किं करवाणि देव ॥२२॥”

अतः निर्भीक मानव जिनवल्लभ, रससिद्ध कवीश्वर जिनवल्लभ से कहीं ऊपर है, अथवा यों कहें, प्रथम द्वितीय का जनक होने से उसमें अनुस्यूत है। इसीलिये द्वितीय महिमामय है। आचार्य जिनवल्लभ का व्यक्तित्व एक अद्भुत व्यक्तित्व है, जिसमें एक विक्रान्त-क्रान्तिकारी, प्रबलसुधारक, तपस्वी आचार्य तथा विलक्षण कवि का समन्वय मिलता है, परन्तु इन सब रूपों को प्रकाशित और उद्भासित करने वाला जिनवल्लभ के व्यक्तित्व का जो स्वरूप है वह सही वीर-मानव का स्वरूप है। अतः महावीर चरणरत इस परमवीर मानव को भेरा शत-शत प्रणाम अर्पित है।

अध्याय : ६

जिनवल्लभ की साहित्य-परम्परा

टीका-ग्रन्थ और टीकाकार

आचार्य जिनवल्लभसूरि के ज्ञान-गांभीर्य तथा सुधार-कार्य का जो सुदृढ़ और स्थायी प्रभाव विद्वन्मण्डली पर पड़ा उसका सब से बड़ा प्रमाण उनके ग्रन्थों पर लिखी गई अनेक टीकायें हैं। उनकी मृत्यु के लगभग तीन वर्ष उपरान्त से लेकर शताब्दियों पर्यन्त तक इनके ग्रन्थों पर जितनी टीकायें लिखी गई उतनी संभवतः किसी भी ज्ञानाचार्य की कृतियों पर नहीं। इन टीकाओं की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इनके रचयिता प्रायः खरतर-गच्छेतर विद्वान् साधु ही थे। अतः इनकी रचना न केवल जिनवल्लभसूरि के ग्रन्थों का साहित्यिक, धार्मिक एवं सामाजिक महत्त्व प्रकट करती है, अपितु यह भी प्रमाणित करती है कि ये ग्रन्थ संप्रदाय के सीमित क्षेत्र से ऊपर उठ कर सर्वमान्यता तथा सर्वग्राह्यता प्राप्त कर चुके थे। उनके ग्रन्थों में सब से अधिक गौरव इस दृष्टि से जिनको प्राप्त हुआ वे सार्द्धशतक, षडशीति एवं पिण्डविशुद्धि हैं। इन पर टीका लिखने वालों में धनेश्वराचार्य, हरिभद्राचार्य, मुनिचन्द्राचार्य, श्रीचन्द्राचार्य, यशोदेवाचार्य तथा मलयगिरि आचार्य जैसे बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों के भी नाम हैं जो अपने पाण्डित्य तथा गांभीर्य के लिये जैन इतिहास में प्रसिद्ध हो चुके हैं और जिनका टीका लिखना ही मूलग्रन्थों की महत्ता को प्रकट करने के लिये पर्याप्त है।

अतः यहां पर टीकाओं और टीकाकारों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है:—

ग्रन्थों पर टीकायें

सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार (सार्द्धशतक)

भाष्य^१

टिप्पण

चूर्णि

रामदेवगणि

मुनिचन्द्रसूरि

१. लींबड़ी, बड़ौदा और पाटण के भंडारों में है। सम्भवतः प्रकाशित नहीं हुआ है। इसके कर्ता कौन हैं? निश्चित नहीं कहा जा सकता। इसका आद्यन्त भाग इस प्रकार है:—

(आ०) नियहेउसम्भवे वि हु भयणिउजो जाए होइ पयडीणं । बंधो वा अधुवा...अभयणिउज्ज बंधाओ ।१।

(अं०) तिरिगइसममुज्जोयं इगजाइसमं तु प्रायवे बंधे । परधा उस्तासाणं पज्जेण समं भवे बंधो ।१०६।

वृत्ति	धनेश्वराचार्य
"	महेश्वराचार्य ^१
"	हरिभद्रसूरि ^२
"	चक्रेश्वराचार्य ^३
प्राकृत वृत्ति	अज्ञातकर्तृक ^४
टिप्पणक	" ^५
आगमिकवस्तुविचारसार (षडशीति)	
भाष्य ^६	
" ^७	
टिप्पण	रामदेव गणि
वृत्ति	हरिभद्रसूरि
"	मलयगिरि
"	यशोभद्रसूरि
विवरण	मेरु वाचक ^८
टीका	अज्ञातकर्तृक ^९
अवचूरि	अज्ञातकर्तृक ^{१०}
"	" ^{११}
उद्धार	" ^{१२}

१. महेश्वराचार्य की टीका कान्तिविजयजी संग्रह बड़ौदा में है ।
आ० महेश्वर अनेक हुए हैं । आप का समय इत्यादि के संबंध में प्रति के अभाव में मैं कहने में असमर्थ हूँ ।
२. इस टीका की नोंध वृहट्टिप्पणिका के आधार से की गई है । अतः इसकी प्रति प्राप्त है या नहीं ? नहीं कह सकता ।
३. इस टीका की प्रतियें पाटण के भंडारों में है । चक्रेश्वराचार्य अनेक हुए हैं । अतः आप का समय क्या था, प्रति के अभाव में नहीं कह सकता । परन्तु धनेश्वराचार्य विरचित वृत्ति का आपने संशोधन किया है । ऐसा उल्लेख आचार्य धनेश्वर स्वयं करते हैं । अतः मेरी मान्यतानुसार इनकी स्वयं की वृत्ति नहीं होगी ।
४. संभवतः मुनिचन्द्रसूरि रचित चूर्णि ही हो क्योंकि चूर्णि प्राकृत में ही है ।
५. संभवतः रामदेव गणि का ही हो, इसकी प्रति जयपुर भंडार में है ।
६. यह 'सटीकाश्चत्वारः प्राचीनकर्मग्रन्थाः' में प्रकाशित हो चुका है ।
७. यह २३ गाथा का अपूर्ण मुनि श्री चतुरविजय जी को प्राप्त है । इसमें कर्त्ता का उल्लेख नहीं है ।
८. इसकी प्रति ग्रहमदाबाद चंचलबाना भंडार में है । पत्र ३२ हैं । ये मेरु वाचक कौन हैं ? प्रति के सन्मुख न होने से नहीं कह सकता ।
९. इसकी प्रति बंगाल एसियाटिक सोसायटी में है ।
१०. १२. अवचूरि और उद्धार दोनों प्रतियें खंभात जैन शाला के भण्डार में है । अवचूरि ७०० श्लोक परिमाण की है और उद्धार १६०० श्लोक परिमाण का । इन दोनों के कर्त्ता कौन हैं? कह नहीं सकता ।
११. इसकी एक प्रति कान्तिविजयजी संग्रह बड़ौदा में १६ वीं शती लिखित प्राप्त है ।

पिण्डविशुद्धि—वृत्ति	श्रीचन्द्रसूरि
लघुवृत्ति	यशोदेवसूरि
दीपिका	उदयसिंहसूरि
टीका	अजितदेवसूरि ^१
दीपिका ^२ (लघुवृत्तिरूपा)	
अवचूरि	अज्ञातकर्तृ क
”	” ^३
पञ्जिका	” ^४
अवचूरि	श्रीचन्द्र ^५
टीका	अज्ञातकर्तृ क ^६
”	कनककुशल ^७
बालावबोध	संवेगदेवगणि

पौषधविधिप्रकरण	वृत्ति	यु० जिनचन्द्रसूरि
प्रतिक्रमण समाचारी	स्तबक	विमलकीर्त्ति
द्वादशकुलक	टीका	उ० जिनपाल
धर्मशिक्षा प्रकरण	टीका	उ० जिनपाल
संघपट्टक	वृहद्वृत्ति	जिनपतिसूरि
	लघुवृत्ति (संस्करण)	उ० हर्षराज
	वृत्ति	लक्ष्मीसेन
	”	विवेकरत्नसूरि ^८
	अवचूरि	उ० साधुकीर्त्ति

१. पल्लीवाल गच्छीय श्री महेश्वरसूरि के शिष्य हैं। इस दीपिका की रचना सं १६२६ में हुई है। आपकी रची हुई उत्तराध्ययन बालावबोधिनी टीका, आचारांग दीपिका और आराधना आदि प्राप्त हैं। इस दीपिका की केवल एक मात्र प्रति पाटण भण्डार में है।
२. इसकी प्रति बंगाल रोयल एशियाटिक सोसायटी में है। वृहत् टिप्पनिका के आधार पर इसका श्लोक परिमाण ५५० है।
३. सं १५१० आषाढ वदि २ देवकुलपाटक नगर में तपगच्छीय सोमसुन्दरसूरि प्रशिष्य उपाध्याय साधुराज गरिण के शिष्य आनन्दरत्न गरिण लिखित प्रति कान्तिविजय जी सं० बड़ौदा में है।
४. इसकी प्रति डेला उपाश्रय भंडार अहमदाबाद में है।
५. जैन ग्रन्थावली के आधार से इसकी प्रति जैसलमेर भंडार में है।
६. इसकी प्रति विजयधर्मलक्ष्मी ज्ञान भंडार आगरा आदि में है। इसका कर्ता कौन है ? संदिग्ध है।
७. जिनरत्न कोष में इसे संदिग्ध कर्ता के रूप में लिखा है। अतः विचारणीय है। यदि कनककुशल ही हो तो ये कनककुशल विजयसेनसूरि के शिष्य थे और इनका सत्ताकाल है १७वीं शती का उत्तरार्द्ध। इनके परिचय के लिये देखें, देसाई का जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास।
८. ये खरतरगच्छ के हैं और इसकी एक मात्र प्रति डेलानो भण्डार अहमदाबाद में है। प्राप्त न होने से लेखक और व्याख्या के सम्बन्ध में लिखने में मैं असमर्थ हूँ।

	पंजिका	देवराज ^१
	बालावबोध	उ० लक्ष्मीवल्लभ
स्वप्न-सप्तति	टीका	सर्वदेवसूरि
प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकाव्यम्	टीका	उ० पुण्यसागर
	अवचूरि	सोमसुन्दरसूरि शिष्य ^२
	"	मुक्तिचन्द्र गणि ^३
	"	कमलमन्दिर गणि ^४
	"	अज्ञात ^५
	टीका	अज्ञात ^६
चरित्र पञ्चक	टीका	उ० साधुसोम
	अवचूरि	उ० कनकसोम
	बालावबोध	कमलकीर्ति
महावीर चरित्र	टीका	उ० समयसुन्दर
	अवचूरि	कनककलश गणि ^७
	बालावबोध	विमलरत्न
	"	उ० समयसुन्दर ^८
	स्तवक	सुमति ^९

१. देवराज, इस पंजिका का उल्लेख केवल जिनरत्न कोष में ही है।
२. सोमसुन्दरसूरि शिष्य का नामोल्लेख नहीं है। लेखक का समय १६वीं शती का पूर्वार्ध है। यह अवचूरि स्तोत्र रत्नाकर द्वितीय भाग में प्रकाशित हो चुकी है।
३. मुक्तिचन्द्र गणि का समय १६वीं शती का पूर्वार्ध है। इनका कोई इतिवृत्त प्राप्त नहीं है। इसकी एक मात्र प्रति मेरे संग्रह में है।
४. इस अवचूरि के कर्ता खरतरगच्छीय वेगड़ शाखा के श्री जिनगुणप्रभसूरि के शिष्य कमलमन्दिर है। संभवतः आपका सत्ताकाल १७वीं शती है। इसकी तत्कालीन लिखित ६ पत्र की प्रति नाहटाजी के संग्रह में है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है:—
(आ०) सद्गुरुं गरिमागरं, ज्ञानविज्ञानसंयुतम् । प्रणम्य परया भक्त्याऽवचूरिर्लिख्यते मया । १।
(अ०) इत्यवचूरिः, कृता श्रीखरतर-वेगड़गच्छे श्रीजिनेश्वरसूरिसन्ताने श्रीजिनगुणप्रभसूरीश्वरसुविनेयेन मुनिना कमलमन्दिरेण शोधिता । पं० गुणसागरवाचनाय ।
५. इसकी एक मात्र प्रति यूनिवर्सिटी लायब्रेरी बम्बई में सुरक्षित है। जैसा कि कुछ सूचिपत्रों में कर्ता का नाम देवसूरि लिखा है। किन्तु लिपि-वाचन के भ्रम से 'तदवचूरि' को देवसूरि पढा गया हो, ऐसा प्रतीत होता है।
६. जिनरत्न कोषानुसार
७. खरतरगच्छीय श्री जिनचन्द्रसूरि के शिष्य रंगनिधान के पठनार्थ सं० १६०६ में इसकी रचना की गई है। इसी समय की एक प्रति भा० अ० रि० इ० पूना में नं० ३१३: १८७१-७२ पर पत्र ३ पंच पाठमय सुरक्षित है।
८. इसकी स्वयं लिखित प्रति राज० प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में है।
९. खरतरगच्छीय पिप्लक शाखा के श्री उदयसागर के प्रशिष्य श्री जयकीर्ति के शिष्य थे। आपका सत्ताकाल १७वीं शती का उत्तरार्ध है।

लघु अजित-शान्ति-स्तव	(उल्लासि)	
	टीका	उ० धर्मतिलक
	”	उ० समयसुन्दर
	”	उ० मुणबिनय
	बालावबोध	उ० साधुकीर्ति
	”	उ० कमलकीर्ति
	”	उ० देवचन्द्र
नन्दीश्वर स्तोत्र	टीका	उ० साधुसोम
भावारिवारण स्तोत्र	टीका	उ० जयसागर
	”	उ० मेरुसुन्दर
	”	” क्षेमसुन्दर
	”	चारित्रवर्धन
	”	मतिसागर ^१
	धवचूरि	अज्ञात ^२
	बालावबोध	उ० मेरुसुन्दर
	पादपूर्ति स्तोत्र	पद्मराज मणि

टीकाकारों का परिचय

मुनिचन्द्रसूरि

सूक्ष्मार्थविचारसार प्रकरण के चूणिकार आचार्य मुनिचन्द्रसूरि वृहद्गच्छीय पर्व-देवसूरि के प्रशिष्य और श्री यशोभद्रसूरि के शिष्य थे। आपको संभवतः श्री नेमिचन्द्रसूरि ने आचार्य पद प्रदान किया था। आपके विद्यागुरु पाठक विनयचन्द्र थे। आप न केवल असाधारण विद्वान् तथा वादीभ्रंशानन थे, अपितु अत्युग्र तपस्वी और बालब्रह्मचारी भी थे। आप केवल सौवीर (कांजी) ही ग्रहण करते थे, इसी कारण से आप “सौवीरपायी” के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपके अनुशासन में १०० साधु और साध्वियों का समुदाय निवास करता था। तत्समय के प्रसिद्ध वादीकण्ठकुहाल आचार्य वादी देवसूरि जैसे विद्वान् के गुरु होने का आपको सौभाग्य प्राप्त था। गुर्जर, लाट, नागपुर इत्यादि आपकी विहारभूमि के क्षेत्र थे। ग्रन्थ रचनाओं में प्राप्त उल्लेखों को देखते हुए आपका पाटण में अधिक निवास हुआ प्रतीत होता है। आपका स्वर्गवास सं० ११७८ में हुआ है।

१. मुनि कान्तिसागर संग्रह, जयपुर, सं० १५०१ लिखित प्रति।
२. इसकी प्रति महिमा भक्ति भंडार बीकानेर में नं० २१० पर है।

आप तत्समय के प्रसिद्ध और समर्थ टीकाकार तथा प्रकरणकार हैं। आपके प्रणीत टीका-ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है:—

१. देवेन्द्र-नरकेन्द्र-प्रकरण वृत्ति	सं० ११६८ पाटण	चक्रेश्वराचार्य संशो.
२. सूक्ष्मार्थविचारसार प्र० चूर्णी	सं० ११७० आमलपुर	शि. रामचंद्र सहायता से
३. अनेकान्तजयपताकावृत्त्युपरि टिप्पन	सं० ११७१	
४. उपदेशपद टीका	सं० ११७४	(नागौर में प्रारम्भ और पाटण में समाप्त)
५. ललितविस्तरा पञ्जिका		
६. धर्मबिन्दु वृत्ति		
७. कर्मप्रकृति टिप्पन		

प्रकरणों की तालिका निम्न प्रकार है:—

१. अंगुल सप्तति	११. प्राभातिक स्तुति
२. आवश्यक सप्तति	१२. मोक्षोपदेश पञ्चाशिका
३. वनस्पति सप्तति	१३. रत्नत्रय कुलक
४. गाथाकोष	१४. शोकहरोपदेश कुलक
५. अनुशासनाङ्कुशकुलक	१५. सम्यक्त्वोत्पादविधि
६. उपदेशामृतकुलक	१६. सामान्यगुणोपदेशकुलक
७. " "	१७. हितोपदेश कुलक
८. उपदेश पञ्चाशिका	१८. कालशतक
९. धर्मोपदेश कुलक	१९. मंडलविचार कुलक
१०. " "	२०. द्वादशवर्ग

आपने नैषधकाव्य पर भी १२००० श्लोक प्रमाणोपेत टीका की रचना की थी किन्तु दुर्भाग्यवश आज वह प्राप्त नहीं है।

मुनिचन्द्रसूरि ने इस सार्द्ध शतक प्रकरण पर सं० ११७० ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया गुरुवार के दिवस, आमलपुर में निवास करते हुए अपने शिष्य रामचन्द्रगणि (आचार्य बनने के बाद वादि देवसूरि के नाम से प्रसिद्ध) की सहायता से प्राकृत भाषा में २४७३ श्लोक प्रमाणवाली चूर्णी की रचना पूर्ण की:—

इच्छेसा जिणवल्लहस्स गणियो ववकाउ निष्फाड्धी,
वुन्नी चुन्नि य सुट्ठुनिट्ठुरपया भव्वाशसंबोहिणी ।
सखेवा मुणिसंस्साहुपहुणा पत्थेमि पन्नाक्खणा ।
अभस्संतु धिसोहयंतु य इमं वित्थारमाणु य ॥१॥

भ्रामलपुरस्स एसा निष्फत्तिमुवागया विहारम्मि ।
 नियसीसरामचंदाभिहारण गरिणो सहायत्ता ॥२॥
 विक्कमनिवामसंवच्छरेसु नहमुण्हिहरप्पमाणेसु ।
 तोइ सुइ मासिद्धा जेट्ठा इम बोय गुरुवारे ॥३॥
 पच्चक्खरं निरुविय सिलोगमाणेण ठावियं माणं ।
 चडवीससयाइं तिसत्तराइं एयाए चुन्नीए ॥४॥

आचार्य जिनवल्लभ प्रणीत ग्रन्थों पर सर्वप्रथम व्याख्याओं में हमें यह चूर्णी ही प्राप्त होती है। स्मरण रहे कि यह चूर्णी आ० जिनवल्लभ के देहावसान के ३ वर्ष पश्चात् ही बनाई गई है। यह चूर्णी, चूर्णी के नियमानुसार प्राकृत भाषा में रची गई है। ग्रन्थस्थ प्रत्येक वाक्यों को चूर्ण-चूर्ण करके विशद व्याख्या सह पदार्थ का प्रतिपादन चूर्णीकार ने बहुत ही सफलता के साथ किया है और आगमिक उद्धरणों सह प्रत्येक वस्तुओं का स्पष्टीकरण भी सुन्दर पद्धति से किया है। कई अंशों में तो आचार्य धनेश्वर की अपेक्षा भी यह चूर्णी विशेष महत्त्व रखती है। चूर्णीगत भाषा की प्राञ्जलता, प्रौढता और प्रवाहपूर्णता देखकर निश्चिततया कह सकते हैं कि चूर्णीकार का प्राकृत भाषा पर असाधारण अधिकार था। खेद है कि ऐसी महत्त्वपूर्ण चूर्णी का अभी तक भी प्रकाशन नहीं हुआ है।

इसकी प्रतियां प्र० कान्तिविजय जी संग्रह बड़ोदरा आदि में प्राप्त है।

रामदेव गणि

रामदेव गणि के संबंध कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है किन्तु स्वकृत षडशीति टिप्पणक में 'तस्सिस्सलवेण' से तथा सुमत्ति गणि रचित गणधरसाद्ध-शतक वृहद्वृत्ति में उल्लिखित "स हि भगवान् (जिनवल्लभसूरिः) यस्य शिरसि स्वहस्तपच्चं ददाति, स जडोऽपि रामदेवगणिरिव वदनकमलावतीर्णभारतीकोऽत्यन्तदुर्बोध-सूक्ष्मार्थसारप्रकरणवृत्ति विरचयति ।" उल्लेख से यह सिद्ध है कि आप जिनवल्लभसूरि के स्वहस्त-दीक्षित शिष्य थे। आपकी दीक्षा कब हुई, इसका कोई उल्लेख नहीं है किन्तु ११३०-६७ के मध्य में आपकी दीक्षा हुई होगी।

आपकी रचनाओं में सत्तरीटिप्पन, साद्धशतक टिप्पन तथा षडशीति टिप्पन प्राप्त हैं। जिनके आद्यन्त इस प्रकार हैं:—

सत्तरी टिप्पन:—

- (आ०) "सुगइगमसरलसरणि वीरं नमिऊण मोहतमतरणि ।
 सत्तरिए टिप्पेमि किंचि चुन्नीउ अणुसरिउ ॥
- (प्र०) "इय एउ सुमरणात्थं टिप्पणमित्तं पि किपि उद्धरियं ।
 लक्खणखंढवियारो न य काबन्वो य कोविदहं ॥४४७॥
 इत्थ य सुत्तविवन्नं अइमोहा किपि उद्धरिय होज्जा ।
 सोहिंतु जाणमाण मज्झ य मिच्छुक्कडं होउ ॥४४८॥
 कृतिरियं श्रीरामदेवगणेः ।"

साद्धंशतक टिप्पणः—

(अ०) “सिद्धत्थसुयं नमिउं सुहमत्थवियारटिप्पणं किच्चि ।

सुगुरुवएसेण अहं भणामि सरणत्थमप्पस्सा ।

तत्थ पगरणकारो मगलाभिधियाणं पडिपायणनिमित्तं इमां गाहामाहः—

(अ०) “इति सूक्ष्मार्थविचारसारप्रकरणस्य टिप्पणकं समाप्तम् ॥ इति ॥ अ० १४५०”

षडशीति टिप्पणः—

आ० “सिरि पासजिणं नमिउं वत्थुवियारस्सा विवरणं भणामो ।

इह आयसुमरणत्थं गुरुवएसा समासेणं ॥

“तत्थ ताव पगरणकारो इदुदेवयाणमोक्कारपुढवं अभिधेयं हंओयणं च गाहादुणेण भणेइः—”

(अ०) सुगुरुणं सिरिजिणवल्लहरणं सूरिणं सूरिपवराणं ।

उज्झयनियकज्जाणं परोवगारेक्करसियाणं ॥२॥

जेण कय वत्थुवियारसारनामं ति पगरणं पउरं ।

अप्पगंथमहत्यं तस्सेव णु विवरणं विहितं ॥३॥

तस्सिस्सलवेणं रामदेवगणिणा उ ममइणा वि ।

पाइयवयणे हि फुडं भव्वहियट्टेणं समासेण ॥४॥

इन तीनों टिप्पणकों की रचना प्राकृत भाषा में ही है। इससे आपका प्राकृत भाषा और कर्मसिद्धान्त पर अच्छा अधिकार था, ऐसा प्रतीत होता है। इन तीनों टिप्पणों की जिनमें प्रथम सं० १२११ तथा २,३ सं० १२४६ लिखित प्राचीन प्रतियां जैसलमेर जिनभद्रसूरि ज्ञान भंडार में सुरक्षित हैं।

इनकी टिप्पण संज्ञा होते हुए भी कतिपय वर्ण्यस्थलों पर आपने विवेचन भी विस्तार से बहुत सुन्दर किया है।

धनेश्वरसूरि

सूक्ष्मार्थ-विचार-सारोद्धार प्रकरण के सर्वप्रथम टीकाकार श्री धनेश्वरसूरि त्रिभुवन-गिरि के सम्राट् कर्दम भूपति थे और प्रतिबुद्ध होकर चन्द्रकुलीय श्री शीलभद्रसूरि के शिष्य बने थे। इनने अपने शिष्य पार्श्वदेव गणि (आचार्य पदारूढ होने पर श्रीचन्द्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध) की सहायता से सं० ११७१ चैत्र शुक्ला सप्तमी गुरुवार को अणहिलपुर पत्तन में रह कर इस वृहत्परिमाणवाली टीका की रचना पूर्ण की है। इसका संशोधन तत्समय के प्रसिद्ध आचार्य चक्रेश्वरसूरि ने किया है और इसका प्रथमालेखन इन्हीं के शिष्य मुनिचन्द्रगणि ने किया हैः—

सम्पूर्णनिर्मलकलाकलितं सदैव, जाड्येन वजितमखण्डितवृत्तभावम् ।

दोषानुषङ्गरहित नितरां समस्ति, चान्द्रकुलं स्थिरमपूर्वशशाङ्कतुल्यम् ॥३॥

तस्मिंश्चरित्रधनधामतया यथार्थः, सज्जिर ननु धनेश्वरसूरिवर्याः ॥

नीहारहारहरहारविकाशिकाश-सङ्काशकोत्तिनिवहैर्धवलीकृताशाः ॥४॥

ये निस्सङ्गविहारिणोऽमलगुणा-विश्रान्तविद्याधर-
व्याख्यातार इति क्षितौ प्रविदिता विद्वन्मनोमोदिनः ।
येऽनुष्ठानि जनेषु साम्प्रतमपि प्राप्तोपमाः सर्वत-
स्तेभ्यस्तेऽजितसिंहसूरय इहाऽभूवन् सतां सम्मताः ॥५॥

उद्दामधामभवजन्तुनिकामवाम-कामेभकुम्भतटपाटनसिंहपोताः ।
श्रीवद्धमानमुनिपाः सुविशुद्धबोधास्तेभ्योऽभवन् विशदकीर्त्तिवितानभाजः ॥६॥

लोकानन्दपयोधिवधनवशात् सद्वृत्तता सङ्गतः,
सौम्यत्वेन कलाकलापकलनाच्छ्लाघ्योदयत्वेन च ।
ध्वस्तध्वान्ततया ततः समभवंश्चन्द्रान्वयं सान्वयं,
कुर्वाणाः शुचिशालिनोऽत्र मुनिपाः श्रीशीलभद्राभिधाः ॥७॥
निःसख्यैरपि लब्धमुख्यगणनैराशाविकाशं सतां
कुर्वाणैरपि सङ्कटीकृतदिगाभोगुणप्रोणिकैः ।
श्वेतैरप्यनुरञ्जितत्रिभुवनैर्येषां विशालैर्गुणै-
श्चित्रं कोऽपि यशःपटः प्रकटितश्चेतो विचित्रैरपि ॥८॥

सत्तर्ककंकशधियः सुविशुद्धबोधाः, सुव्यक्तसूक्तशतमौक्तिकशक्तिकल्पाः ।
तेषामुदारचरणाः प्रथमाः सुशिष्याः, सद्योभवन्नजितसिंहमुनीन्द्रवर्याः ॥९॥

तेषां द्वितीय-शिष्या जाताः श्रीमद्धनेश्वराचार्याः ।
साद्गुणशतकस्य वृत्ति गुरुप्रसादेन ते चक्रुः ॥१०॥
शशिमुनिपशुपतिसख्ये वर्षे विक्रमनृपादतिक्रान्ते ।
चेत्रे सितसप्तम्यां समर्थितेयं गुरुवारे ॥११॥

पुक्तायुक्तदिवेचन-संशोधनलेखनैकदक्षस्य ।
निजशिष्यस्य सुसाहाय्याद् विहिता श्रीपार्श्वदेवगणे ॥१२॥
प्रथमादर्शं वृत्ति समलिखतां प्रवचनानुसारेण ।
मुनिचन्द्र-विमलचन्द्रौ गणी विनीतौ सदोद्भुक्तौ ॥१३॥
श्रीचक्रेश्वरसूरिभिरतिपटुभिर्निपुणपण्डितोपेतैः ।
अणहिलपाटकनगरे विशोध्य नीता प्रमाणमियम् ॥१४॥

इस ग्रन्थ प्रशस्ति के अतिरिक्त आपके सम्बन्ध में कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं। ग्रन्थ की इस विशद टीका को देखने से यह तो अत्यन्त ही स्पष्ट हो जाता है कि आप कर्म-साहित्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों के भी पूर्ण ज्ञाता थे। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में ऐसा विषेच्य विषय कोई भी अवशिष्ट नहीं रहा जिस पर किसी को पुनः लेखनी उठानी पड़े। टीका बहुत ही सुन्दर और सर्वार्थ-प्रकाशिनी है। व्याख्याकार की लेखनी अत्यन्त ही प्रौढ और प्राञ्जल होने से यह व्याख्या केवल विद्वद्भोग्या ही बन सकी है, ऐसा हम निःसंकोच कह सकते हैं। भाषा में माधुर्य, ओज तथा आलङ्कारिकता और समास-बहुलता भरी पड़ी है। उदाहरण के तौर पर अबतरणिका का थोड़ा सा भाग ही देखिये:—

“इहातिगम्भीरापारसंसारपारावारविहारिजन्तुनाऽतिनिविडशैवलवलयविस्फुरितान्धकारमहाहृदविवरनिगतग्रीवकच्छपेनेव करप्रसरविधुरितान्धकारतारतारकपरिकरितकौमुदीशशाङ्कदर्शनमिवावाप्यातिदुष्प्रापं जिनधर्मान्वितं मानुषत्वं सकलपुरुषार्थसारे परोपकारे यतितव्यम् । स च न निखिलकल्याणकारि जिनशासनोपदेशमन्तरेण । तस्य च प्रभूततरपदार्थविषययत्वेऽपि प्रथमं तावत् कर्मणः सकलदुःखोपनिपातहेतुत्वेन परमारातिभूतवात् तत्स्वरूपप्रकाशनविषये एवासौ युक्तः । तत्परिज्ञाने हि सदनुष्ठानतस्तदुच्छेदमाधाय प्राणिनः परमपदसम्पदं सपदि समासादयन्तीति । तत्स्वरूपप्रकाशनं च यद्यपि कर्मप्रकृत्यादिषु प्रभूततरग्रन्थेषु विहितमेव । तथापि तेऽतिविस्तीर्णत्वेनातिगम्भीरतया च दुरवगाहत्वाद् विशिष्टसंहननमेधादिरहितानामिदानान्तनमानवानां न तथाविधोपकारायालम् । अतस्तेषामनुग्रहाय कर्मप्रकृति-पञ्चसंग्रहादिशास्त्रादेवोद्धृत्य कर्मगतकतिचित्पदार्थानां प्रसङ्गतस्तदितरेषां च केषाञ्चित्प्ररूपणाय सूक्ष्मपदार्थनिष्कनिकषणकषपट्टकसन्निभप्रतिभः श्रीजिनवल्लभाख्यः सूरिः सार्द्धशतकाख्यं प्रकरणं चिकीर्षुः ।”

यह टीका जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर से प्रकाशित हो चुकी है ।

मलयगिरि

आगमिकवस्तुविचारसार प्रकरण के टीकाकार श्रीमलयगिरि के नाम से कौन जैन विद्वान् परिचित न होगा ? जैन आगमों में उपांग-साहित्य, छेद-साहित्य और प्रकरण-साहित्य पर आपकी उद्भट और प्राञ्जल लेखनी न चलती तो आज इस साहित्य का ज्ञान भी हमें होता या नहीं ? संदेह ही है । नवाङ्गीवृत्तिकारक खरतरगच्छविभूषण आचार्य श्री अभयदेव-सूरि के समान ही आप भी अपने व्याख्या-ग्रन्थों के कारण जैन-साहित्याकाश में सूर्य के समान प्रभापूर्ण स्थायी हो गये । श्वेताम्बर समुदाय के समस्तगच्छ और समग्र-विद्वान् आपको सदा से श्रद्धाञ्जलि चढाते आये हैं और आपके वाक्यों को आप्तवाक्य सदृश समझते आये हैं ।

किन्तु खेद है कि ऐसे भागधेय आचार्य का यत्किञ्चित् भी जीवन-वृत्त हमें प्राप्त नहीं होता । स्वयं टीकाकार ने अपनी लाघवता के कारण किसी भी टीका या ग्रन्थ में अपने नाम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं लिखा है । और तो और, किन्तु रचना संवत् का भी उल्लेख हमें प्राप्त नहीं होता । आपके कतिपय ग्रन्थों के आधार से केवल इतना ही निश्चित है कि आप चालुक्यवंशी कुमारपाल के समय में मज्जुद थे । किंवदन्तियों के आधार से तो यह मालूम होता है कि तत्समय के प्रसिद्ध जैनाचार्य महाराजा कुमारपाल प्रतिबोधक श्रीहेमचन्द्राचार्य के आप सहपाठी और सहविहारी थे और एक समय इन दोनों ने साथ ही में देवी की आराधना भी की थी । कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि आपका सत्ताकाल १३ वीं शती का पूर्वार्ध है ।

आपके प्रणीत अनेक ग्रन्थ हैं जिनका विस्तृत विवेचन जैन-साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास पृ० २७३ तथा मुनि पुण्यविजयजी लिखित बृहत्कल्पसूत्र प्रस्तावना में देखना चाहिये ।

प्रस्तुत टीका अन्य टीकाओं की अपेक्षा प्रौढ और उपादेय है । किसी-किसी स्थल पर तो (जैसे १४ गुणस्थान) टीकाकार ने इतना अधिक विशद विवेचन किया है कि उस

व्याख्या के अतिरिक्त तत्सम्बन्ध में अन्य ग्रन्थों को पढ़ने की आवश्यकता ही न रहे। आपकी व्याख्या पटुता के सम्बन्ध में क्या प्रकाश डाला जाय! सूर्य की किरणें सर्वत्र ही प्रकाशमान हैं।

इस प्रकरण पर टीका रचकर आपने जिनवल्लभगणि की शिष्ट और आप्तकोटि के महापुरुषों में गणना की है जो वस्तुतः आचार्य जिनवल्लभ की गीतार्थता और प्रामाणिकता को उद्घोषित कर रही है।

अन्य टीका-ग्रन्थों की तरह इसमें भी नाम के अतिरिक्त किञ्चित् भी उल्लेख प्राप्त नहीं हैं।

यह टीका 'सटीकाश्चत्वारः प्राचीनकर्मग्रन्थाः' नाम से आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हो चुकी है।

हरिभद्रसूरि

आगमिक-वस्तुविचारसार प्रकरण (षडशीति) के टीकाकार श्रीहरिभद्रसूरि बृहद्गच्छीय श्रीमानदेवसूरि के प्रशिष्य और उपाध्यायवर श्री जिनदेव के शिष्यरत्न थे। आपका सत्ताकाल १२ वीं शती का उत्तरार्द्ध है। आपने सं० ११७२ श्रावण शुक्ला ५ रविवार को सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में अणिहलपुर पाटण में आशापुरी वसति में निवास करते हुए ८८५ श्लोक-परिमाण की षडशीती पर टीका की रचना की है:—

‘मध्यस्थभावादचलप्रतिष्ठः, सुवर्णरूपः सुमनोनिवासः ।
 अस्मिन्महामेरुरिवास्ति लोके, श्रीमान् बृहद्गच्छ इति प्रसिद्धः ॥५॥
 तस्मिन्नभूदायतबाहुशाखः, कल्पद्रुमाभः प्रभुमानदेवः ।
 यदीयवाचो विबुधैः सुबोधाः, कर्णकृता नूतनमञ्जरीवत् ॥६॥
 तस्मादुपाध्याय इहाजनिष्ट, श्रीमान्मनस्वी जिनदेवनामा ।
 गुरुक्रमाराधयिताल्पबुद्धिस्तस्यास्ति शिष्यो हरिभद्रसूरिः ॥७॥
 अणहिल्लपाटकपुरे श्रीमज्जर्यासिहदेवनृपराज्ये ।
 आशापूरषसत्यां वृत्तिस्तेनेयमारचिता ॥८॥
 एककाक्षरगणनादस्या वृत्तेरनुष्टुभां मानम् ।
 अष्टौ शतानि जातं पञ्चाशत्समधिकानीति ॥९॥
 वर्षशतैकादशके द्वासप्तत्यधिके ११७२ नभोमासे ।
 सितपञ्चम्यां सूर्ये समर्थिता वृत्तिकेयमिति ॥१०॥

श्रीहरिभद्रसूरि भी तत्समय के प्रसिद्ध टीकाकारों में से हैं। आपके प्रणीत अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं; वे निम्नलिखित हैं:—

१. बन्धस्वामित्व कर्मग्रन्थ टीका र.सं. ११७२ पाटण
२. प्रशमरति प्रकरण वृत्ति सं. ११८५
३. क्षैत्रसमास वृत्ति
४. मुनिपतिचरित्र (प्राकृतभाषा)
५. श्रेयसनाथचरित्र (प्राकृतभाषा)

मुनिपति चरित्र और श्रेयांसनाथ चरित्र देखने से आपका प्राकृत भाषा पर भी पूर्ण अधिकार प्रतीत होता है। आपकी यह षडशीति पर टीका न अत्यधिक विस्तृत है और न अति संक्षिप्त ही। इसमें प्रकरणगत वस्तु का विवेचन अत्यन्त ही स्पष्टता के साथ किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि आप कर्म-साहित्य के भी पूर्णज्ञाता थे।

यह टीका 'सटीकाश्चत्वारः प्राचीनकर्मग्रन्थाः' नामक ग्रन्थ में आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हो चुकी है।

यशोभद्रसूरि

आगमिक-वस्तुविचारसार प्रकरण के टीकाकार आचार्य यशोभद्र चन्द्रकुलीय, राजगच्छीय (देशाई के अनुसार) आचार्य शीलभद्रसूरि के प्रशिष्य, सूक्ष्मार्थविचारसार प्रकरण के टीकाकार ख्यातनामा आचार्य श्रीधनेश्वरसूरि के प्रशिष्य तथा शाकंभरी नरेश, अजयदेव प्रतिबोधक, महाराजा अर्णोराज की राजसभा में दिगम्बर मतानुयायी प्रसिद्ध विद्वान् विद्याचन्द्र एवं गुणचन्द्र के विजेता, धर्मकल्पद्रुमग्रन्थ के प्रणेता आचार्य धर्मसूरि (धर्मघोष-सूरि) के शिष्य थे। जैसा कि प्रशस्ति से स्पष्ट है: -

शब्दैकारणतयाद्भुतवैभवेन, सद्भावभूषिततया ध्रुवतानुवृत्त्या ।
पुष्पात्यखण्डमिह यद्गमनेन संख्यं, चान्द्रं कुलं तदवनाधिविगीतमस्ति ॥१॥

तत्रोदितः प्रतिदिनं स्मरमत्सरादि-द्वैतेयनिर्दयविमर्दनकेलिलोलः ।

विश्वेप्यधृष्ट्यमहिमासवितेव सूरिः, श्रीशीलभद्र इति विश्रुतनामधेयः ॥२॥

× × × ×

तस्याऽभवद् भुवनवल्लभभाग्यसम्पद्, सूरिधनेश्वर इति प्रथितः स श्रुष्यतः ।

अद्याप्यमन्दमतयो ननु यत्प्रतिष्ठामादित्सवः किमपि चेतसि चिन्तयन्ति ॥४॥

सूक्ष्मार्थ-साद्धं शतकप्रकरणविवरणमिषेण सम्यग्दृशाम् ।

मलयजमिव लोकानां हृदयानि मुखानि भूषयति ॥५॥

× × ×

नृपतिरजयदेवो देवविद्वन्मनीष-मददलनविनोदः कोविदेस्तुल्यकालम् ।

स्थितिमुपधिविरुद्धां मागधीयामधत्त, स्वलितमखिलविद्याचार्यकं यस्य दृष्ट्वा ॥६॥

अर्णोराजनृपे सभां परिवृढे श्रीदेवबोधादिषु,
प्राप्तानेकजयेषु साक्षिषु सदिग्वासः शिरः शेखरः ।

सद्विद्योर्ऽपि गुणेन्दुरन्तरुदितक्षोभोद्भवेद्वेपथु-

हेतुर्यस्य निशम्य मन्त्रविमुखं तस्याज वादव्रतम् ॥१०॥

यस्य श्रीखण्डपाण्डुभ्रमति दशदिशः कीर्तिरुत्साहिते वा,

घाटं द्रष्टुं त्रिलोक्याः सुरभितभुवनैस्तैः पवित्रैश्चरित्रैः ।

तस्य श्रीधर्मसूरिनिरवधिधिषणाशालिनः शिष्यलेशः,

स्मृत्यै स्वस्येदमल्पं विवरणमकृत श्रीयशोभद्रसूरिः ॥११॥

१. आपकी प्रतिष्ठित सं० ११६५ की एक मूर्ति अजमेर म्युजियम म प्राप्त है। लेख के लिये देखें, उपाध्याय विनयसागर सम्पादित 'प्रतिष्ठालेख संग्रह' लेख १८.

इस प्रशस्ति में आचार्य ने रचनाकाल का निर्देश नहीं किया है किन्तु आचार्य धनेश्वर की सार्द्धशतक टीका का उल्लेख होने से तथा आचार्य जिनप्रभसूरि कृत विविधतीर्थकल्पान्तर्गत फलवर्धि पार्श्वनाथ कल्प में आ० धर्मसूरि द्वारा सं० ११८१ में फलौदी पार्श्वनाथ चैत्य की प्रतिष्ठा का उल्लेख होने से, यह निश्चित है कि आचार्य का सत्ताकाल १२ वीं शती का अन्तिम चरण और १३ वीं शती का प्रथम चरण है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है इसकी रचना ११८५ के पश्चात् आचार्य ने की है।

आचार्य यशोभद्र ने ग्रन्थकार पूज्य जिनवल्लभ की रचना के सम्मुख अपनी जो पंगुता-लघुता प्रकट की है; वह दर्शनीय है:—

क्वासौ श्रीजिनवल्लभस्य रचना सूक्ष्माथंचर्चाञ्जिता,
क्वेयं मे मतिरग्रिमा प्रणयिनी मुग्धत्व पृथ्वीभुजः।
पङ्गोस्तुङ्गनगाधिरोहणसुहृद्यत्नोयमार्यास्ततो—
ऽसद्ध्यानव्यसनार्णवे निपततः स्वान्तस्य पोतोपितः ॥२॥

यह टीका आचार्य मलयगिरि और आचार्य हरिभद्रसूरि प्रणीत टीकाओं के सम्मुख साधारण कोटि की होती हुई भी साधारण विद्वानों की तृषा को बुझाने में पूर्ण समर्थ है। श्लोक-परिमाण में भी अन्य टीकाओं की अपेक्षा इसका परिमाण विपुल है। स्थान-स्थान पर भाषा की प्राञ्जलता के साथ-साथ वाग्वैदग्ध्य भी प्राप्त होता है। विवेचन सुन्दर-पद्धति से किया गया है।

इस टीका की प्रति प्र० कान्तिविजयजी संग्रह बड़ोदा में सुरक्षित है।

देशाई के अनुसार आपका प्रणीत 'मद्यगोदावरी' नामक ग्रन्थ भी प्राप्त है।

श्रीचन्द्रसूरि

पिण्डविशुद्धिप्रकरण के टीकाकार श्रीचन्द्रसूरि चान्द्रकुलीय शीलभद्रसूरि के प्रशिष्य और श्रीधनेश्वरसूरि के शिष्य थे। मुनि अवस्था में आपका नाम पार्श्वदेव गणि था, आचार्य होने के पश्चात् आपका श्रीचन्द्रसूरि नाम प्रसिद्ध हुआ। सं० १२०४ में मन्त्री पृथ्वीपाल ने विमलवसहि (आबू) का उद्धार करवाया था, उस समय आप भी वहां विद्यमान थे।

आप एक समर्थ टीकाकार और प्रतिभाशाली विद्वान् थे। सं० ११७१ में जिन-वल्लभीय सार्द्धशतक पर आपके गुरुश्री ने टीका रची थी उसमें आप सहायभूत थे:—

युक्तायुक्तविवेचन-संशोधनलेखनेकदक्षस्य ।

निर्जशिष्यस्य सुसाहाय्याद् विहिता श्रीपार्श्वदेवगणेः ॥१२॥

(सार्द्धशतकटीका प्रशस्तिः)

आपके प्रणीत जो अन्य टीका-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, उसकी तालिका निम्नलिखित है:—

१. दिङ्नाम प्रणीत न्यायप्रवेश, हारिभद्रीय वृत्ति पर षञ्जिका सं० ११६६ :
२. महत्तर जैनदासीय निशीथचूर्णी पर विशोद्देशक व्याख्या सं० ११७३
३. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र वृत्ति सं० १२२२, ४. नन्दीसूत्रटीका दुर्गपदव्याख्या
५. जीतकल्पवृहच्चूर्णी व्याख्या सं० १२२७, ६. निरयावलीसूत्र वृत्ति सं० १२२८
७. चैत्यवन्दन सूत्र वृत्ति ८. सर्वसिद्धान्तविषमपदपर्याय
९. प्रतिष्ठाकल्प १०. सुखबोध्या समाचारी
११. पिण्डविशुद्धिवृत्ति सं० ११७८ ११. पद्मावत्यष्टक वृत्ति

आपका साहित्य सर्जन-काल ११६६ से १२२८ तक का है ।

पिण्डनिर्युक्ति आदि शास्त्रों का अवलोकन कर सं० ११७८ कार्तिक कृष्णा ११ रविवार, देवकुलकपाटक (देलवाड़ा) में चातुर्मास की स्थिरता करते हुए, ४४०० श्लोक प्रमाण की पिण्डविशुद्धि प्रकरण पर टीका की रचना आपने पूर्ण की है:—

दोषानुसङ्गरहितं सर्वत्तं जाड्यवर्जितं सकलम् ।
समभूदिह चान्द्रकुलं स्थिरं सदाऽऽपूर्वचन्द्रसमम् ॥१॥
तस्मिन् गुणमसिरोहणगिरिकल्पाः शीलभद्रसूर्याख्याः ।
प्रभवन्ति हि तु मुनीन्द्रा विशालमतयः सदाकृतयः ॥२॥
श्रौदायंस्थैर्यंगाम्भीर्यं धैर्यरूपादिसंयुताः ।
समभवन् सुशिष्यास्ते श्रीधनेश्वरसूरयः ॥३॥
× × ×
शास्त्रं पिण्डविशुद्धिसंज्ञितमिदं श्रीचन्द्रसूरिः स्फुटं,
तद्वृत्तिं सुगमां चकार तनुधीः श्रीदेवतानुप्रहात् ॥७॥
पिण्डनिर्युक्तिसच्छास्त्रवृद्धव्याख्यानुसारतः ।
नालिकेर्यादिसद्वृक्षे श्रीदेवकुलपाटके ॥८॥
बसुमुनिरुद्रं जतिं विक्रमवर्षे रवी समाप्येषा ।
कृष्णंकादश्यां कार्तिकस्य योगे प्रशस्ते च ॥९॥
× × ×
अस्यां चतुःसहस्राणि शतानां च चतुष्टयम् ।
प्रत्यक्षरप्रमाणेन श्लोकमानं विनिश्चयतम् ॥१४॥

प्रस्तुत टीका अन्य समग्र टीकाओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है । इसकी व्याख्या तो संस्कृत में है और उदाहरण प्राकृत भाषा में; जो इनके प्राकृत भाषा के सौष्ठव को सूचित करते हैं । वस्तु का विवेचन भी परिमाजित किन्तु सरल भाषा में आपने विस्तार से किया है । साथ ही अनेकों दृष्टान्त देकर वस्तु को उपादेय बना दिया है ।

इस टीका की रचना आचार्य जिनवल्लभ के स्वर्गारोहण (११६७) के ११ वर्ष पश्चात् की गई है । इसी को लक्ष्य में रख कर पन्यास मानविजय ने इस ग्रन्थ की भूमिका में

गच्छ-व्यामोह से जो यह लिखा है:—“शासनद्रोहकारि-नवीनमतोत्पादकस्य ग्रन्थं प्रमाणीकुर्वन्तः परमसूत्रानुसारिश्रीमच्चन्द्रसूरिमहाभागास्तस्योपरि वृत्तिं कुर्युरेतदपि सुबुद्धिपथं नावतरति ।” सो कितना प्रलापपूर्ण है । देखिये, आप ही के गुरु धनेश्वरसूरि जिन्होंने सं० ११७१ में खरतर-गच्छ मान्य इन्हीं जिनवल्लभगणि प्रणीत सार्द्धशतक पर टीका रची है; जिसमें आप (श्री चन्द्रसूरि) स्वयं सहायभूत थे । इस टीका में धनेश्वरसूरि स्पष्ट लिखते हैं:—

“जिणवल्लह गणित्ति, जिनवल्लभगणिनामकेन मतिमता सकलार्थ-संग्राहिस्थाना-ङ्गाद्यङ्गोपाङ्गपञ्चाशकादिशास्त्रवृत्तिविधानावाप्तावदातकीर्त्तिसुधाधवलितधरामण्डलानां श्री-मदभयदेवसूरीणां शिष्येण ।”

इससे अत्यन्त ही स्पष्ट है कि जिनवल्लभ नाम का अन्य कोई व्यक्ति नहीं किन्तु अभयदेवसूरि शिष्य ही है । अन्यथा आचार्य श्रीचन्द्र स्वयं ‘गणि’ शब्द की व्याख्या करते हुए “उण (पुनः) गणयोगात् साधुगणयोगाद्वा गणिना-सूरिणा” तथा “सूक्ष्मपदार्थ-निष्क निष्कषणपट्टकसन्निभप्रतिभजिनवल्लभाभिधानान्चार्यं” जैसे पूज्य शब्दों का व्यवहार कदापि नहीं करते । अतः मानविजयजी का “शासनद्रोहकारि” यह कथन अत्यन्त ही उपेक्षणीय है ।

यह टीका विजयदानसूरि ग्रन्थमाला सूरत से प्रकाशित है ।

यशोदेवसूरि

आप चन्द्र-कुलीय श्रीवीरगणि के प्रशिष्य और श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य थे । सं० ११७६ में आपने अपने सुयोग्य शिष्य श्री पार्श्वदेव की सहायता से पिण्डविशुद्धि पर लघुवृत्ति की रचना पूर्ण की । इस लघुवृत्ति का संशोधन आचार्य मुनिचन्द्रसूरि ने किया है । जैसा कि प्रशस्ति में कहा गया है:—

आसीच्चन्द्रकुलोद्गतिः शर्मानधिः सौम्याकृतिः सन्मतिः,
संलीनः प्रतिवासरं निलयगो वर्षासु सुध्यानधीः ।
हेमन्ते शिशिरे च शाबरहिमं सोढुं कृतोर्ध्वस्थिति-
भस्विच्चण्डकरे निदाघसमये चाऽऽतापनाकारकः ॥१॥

आदेयता तपस्त्याग-व्याख्यातृत्वादिसद्गुणैः ।

लोकोत्तरैर्विशालश्च श्रीमद्वीरगणिप्रभुः ॥२॥

श्रीचन्द्रसूरि नामा शिष्योऽभूत्तस्य भारतीमधुरः ।

आनन्दितभव्यजनः शंसितसशुद्धसिद्धान्तः ॥३॥

तस्यान्तेवासिना दृढा, श्रीयशोदेवसूरिणा ।

सुशिष्य-पार्श्वदेवस्य, सहाय्यात् प्रस्तुता वृत्ति ॥४॥

×

×

×

पिण्डविशुद्धिप्रकरणवृत्तिं कृत्वा यदवाप्तं मया कुशलम् ।

तेनाऽऽभवमपि भूयाद् भगवद्वचने ममाभ्यासः ॥६॥

श्रुतहेमनिकषपट्टैः श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिभिः पूज्यैः ।

संशोधितेयसखिला प्रयत्नतः शेषविबुधेश्च ॥७॥

टीका को देखते हुए यह मालूम होता है कि व्याख्याकार 'मूले इन्द्र विडौजा टीका' के चक्र में नहीं फंसे हैं और न इसका व्यर्थ में कलेवर ही बढ़ाया है; किन्तु ग्रन्थकार के आशय को विशदता और सरसता के साथ बहुत ही सुन्दर पद्धति से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भाषा भी आपकी दुरूह न होकर सरल होते हुए भी प्रवाह पूर्ण एवं परिमार्जित है। साथ ही इसकी एक यह भी विशेषता है कि विषय को रोचक बनाने के लिये प्रसंग प्रसंग पर उदाहरण भी दे दिये हैं। उदाहरण बृहद्वृत्ति की तरह विस्तृत न होकर संक्षेप में हैं; पर जो हैं वे भी प्राकृत आर्याओं में। इससे स्पष्ट है कि आपका प्राकृत भाषा पर भी अच्छा अधिकार था। यह वृत्ति लघु होते हुए भी अपने में पूर्ण है अर्थात् इसको समझने के लिये अन्य टीका की आवश्यकता नहीं रहती।

आपके प्रणीत और भी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जिनकी सूचि निम्न प्रकार है :—

सं० ११७२ में हारिभद्रीय पंचाशक पर चूर्ण, सं० ११७४ में इर्यापथिकी, चैत्यवन्दन और वन्दनक पर चूर्णयें, सं० ११७६ में पाटण में सिद्धराज जयसिंह के राज्य में सोनी नेमिचन्द्र की पोषधशाला में निवास करते हुए पाक्षिकसूत्र पर सुखावबोधा नाम की टीका और सं० ११८२ में रचित प्रत्याख्यान-स्वरूप आदि की रचनाएं प्राप्त हैं।

यह टीका जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है।

उदयसिंहसूरि

पिण्डविशुद्धि प्रकरण के दीपिकाकार श्री उदयसिंहसूरि चन्द्रकुलीय आगमज्ञ श्री श्रीप्रभसूरि (धर्मविधिप्रकरण के प्रणेता) के प्रशिष्य और श्रीमाणिक्यप्रभसूरि (कच्छूली पार्श्वचैत्य के प्रतिष्ठाकार) के शिष्य थे। आपने श्रीयशोदेवसूरि प्रणीत लघुवृत्ति को आदर्श मानकर तदनुसार ही सं० १२६५ में ७०३ श्लोक प्रमाणवाली इस दीपिका की रचना की। जैसा कि प्रशस्ति से स्पष्ट है:—

इति विविधविलसदर्थं सुविशुद्धाहारमहितसाधुजनम् ।

श्रीजिनवल्लभरचितं प्रकरणमेतन्न कस्य मुदे ॥१॥

माहेश इह प्रकरणे महार्थपंक्तौ त्रिवेश बालोऽपि ।

यद्वृत्त्यङ्गुलिलग्नस्तं श्रयंत गुरुं यशोदेवम् ॥२॥

शासीदिह चन्द्रकुले श्रीश्रीप्रभसूरिरागमधुरीणः ।

तत्पदकमलमरालः श्रीमाणिकप्रभाचार्यः ॥३॥

तच्छ्रव्याणुर्जडधी-रात्मविदे सूरिरुदयसिंहाख्यः ।

पिण्डविशुद्धेवृत्ति-मुद्घ्रे दीपिकाभेनाम् ॥४॥

अनया पिण्डविशुद्धे-दीपिकया साधवः करस्थितया ।

शस्यावलोककुशला दोषोत्थतमास्यपहरन्तु ॥५॥

विक्रमतो वर्षाणां पञ्चनवत्याधिकरदिमितशतेषु ।

विहितेयं श्लोकरिह सूत्रयुता त्र्यधिकसप्तशती ॥६॥

अन्य बृहद्वृत्तियों, लघुवृत्तियों का आश्रय लेकर इस दीपिका की रचना हुई है। यह दीपिका संक्षिप्त होते हुए भी वस्तुतः प्रकरण के लिये दीपिका सदृश ही है। संक्षिप्त-रुचि तज्ज्ञों के लिये यह दीपिका अत्यन्त ही महत्त्व की है। भाषा भी इसकी सरल और सुबोध है। संक्षिप्त होने पर भी इसमें प्रतिपादित विषयों का प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। इसमें दीपिकाकार ने कथानकों का आश्रय लेकर इसका कलेवर बढ़ाने का व्यर्थ प्रयत्न नहीं किया है; उदाहरणों के लिये वृत्तियों का उल्लेख कर दिया है।

उदयसिंहसूरि के संबंध में देसाई ने अपने "जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास" में लिखा है:—

"ते उदयसिंहे चड्ढावलि (चन्द्रावती) ना राउल धंधलो देवनी समक्ष मन्त्रवादि ने मन्त्र थी हराव्यो। तेणे पिण्डविशुद्धिविवरण, धर्मविधिवृत्ति अने चैत्यवन्दन दीपिका रची। अने ते सं० १३१३ मां स्वर्गस्थ थया। पछी कमलसूरि, प्रज्ञासूरि, प्रज्ञातिलकसूरि थया वगैरे।" (पृ० ४३४)

यह दीपिका जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार बम्बई से प्रकाशित हो चुकी है।

संवेगदेव गणि

पिण्डविशुद्धि प्रकरण के बालावबोधकार पं० संवेगदेव गणि तपागच्छनायक श्री सोमसुन्दरसूरि के पट्टधर श्रीरत्नशेखरसूरि के शिष्य थे। आपने पिण्डविशुद्धि पर सं० १५३१ में बालावबोध की रचना की है। आपके सम्बन्ध में कोई उल्लेखनीय बात प्राप्त नहीं है। आपकी दूसरी कृति १५१४ में रचित आवश्यक-पीठिका पर बालावबोध है। इससे प्रतीत होता है कि समय की मांग को स्वीकार करते हुए आपने अपनी लेखनी को भाषा-साहित्य की तरफ मोड़कर समयज्ञता का परिचय दिया है। पिण्डविशुद्धि बालावबोध का आद्यन्त इस प्रकार है:—

(प्रा०) श्रीमद्वीरजिनेशं नत्वा श्रीसोमसुन्दरगुरुं श्च।

पिण्डविशुद्धेर्बालावबोधरूपं तनोम्यर्थम् ॥१॥

×

×

×

(अं०) इति श्रीजिनवल्लभसूरिखरचित-पिण्डविशुद्धिप्रकरणास्यार्थो बालावबोधरूपः तपागच्छनायकश्रीसोमसुन्दरसूरिशिष्य-विजयमानभट्टारक-प्रभु-श्रीरत्नशेखरसूरि-शिष्य० पं० संवेगदेवगणितः समर्थितः ।"

उक्त बालावबोध मूल प्रकरण पर सुन्दर प्रकाश डालता है। भाषा होते हुए भी इसकी भाषा प्रसादगुण से पूर्ण है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से यह बालावबोध विवेचनीय अवश्य है।

इसकी अनेकों प्रतियां प्राप्त हैं।

१. जैन सा० सं० ६० के आधार से

युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि

पौषध-विधि-प्रकरण के वृत्तिकार आचार्य युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि श्रीजिनमाणिक्य-सूरि के शिष्य थे। आपके माता-पिता बीसा ओसवाल श्रीवंत और सियादे खेतसर (मारवाड़) के निवासी थे। आप का जन्म सं० १५६५ में हुआ था और बाल्यावस्था का आपका नाम था सुलतान। आचार्य श्रीजिनमाणिक्यसूरि के उपदेश से प्रभावित होकर ६ वर्ष की अल्पावस्था में आपने सं० १६०४ में दीक्षा ग्रहण की और आप का उस समय दीक्षा नाम रखा गया मुमतिधीर। सं० १६१२ भाद्रपद शुक्ला ६ गुरुवार को जैसलमेर के राउल श्रीमालदेवजी ने आचार्य पदारोहण का उत्सव किया और बेगडगच्छ (खरतरगच्छ की ही एक शाखा) के आचार्य गुणप्रभसूरि ने आपको आचार्य पद प्रदान कर तथा जिनचन्द्रसूरि नाम प्रख्यात कर गच्छनायक घोषित किया सं० १६१४ चैत्र कृष्णा सप्तमी को प्रचलित शिथिलाचार को दूर कर आपने क्रियोद्धार किया। सं० १६१७ में पाटण में जिस समय तपगच्छीय उद्भटविद्वान् कदाग्रही उ० धर्मसागरजी ने गच्छ-विद्वेषों का सूत्रपात किया उस समय उनका आचार्यश्री ने शास्त्रार्थ के लिये आह्वान किया और उनके उपस्थित न होने पर अन्य तत्काजीन समग्र-गच्छीय आचार्यों के समक्ष धर्मसागरजी को उत्सुक वादो घोषित किया था। सम्राट् अकबर के आमन्त्रण से सूरिजी १६४८ फाल्गुन शुक्ला १२ के दिवस ३१ साधुओं के परिवार सहित लाहौर में सम्राट् से मिले और स्वकीय उपदेशों से प्रभावित कर आपने तीर्थों की रक्षा एवं अहिंसा प्रचार के लिये कई फरमान प्राप्त किये थे। सं० १६४९ फाल्गुन वदि १० के दिवस सम्राट् के हाथ से ही युगप्रधान पद भी प्राप्त किया जिसका विशाल महोत्सव करोड़ों रूपये व्यय कर महामन्त्री कर्मचन्द्र बच्छावत ने किया था। सं० १६७० आश्विन कृष्णा २ को बिलाड़ा में आपका स्वर्गवास हुआ था।

२२ वर्ष जैसी अल्पावस्था में पौषधविधि प्रकरण जैसे सैद्धान्तिक विधि-विधान पूर्ण प्रकरण पर ३५४४ श्लोक प्रमाण वृत्ति रचकर आपने अपनी असीम प्रतिभा का परिचय दिया है। इस टीका की पूर्णाहूति सं० १६१७ विजय दसमी के दिवस पाटण में हुई है। इस प्रकरण के अन्तिम द्विपदी-पद्य की व्याख्या उपाध्याय जयसोम ने की है और इस वृत्ति का संशोधन तत्समय के प्रतिष्ठित गीतार्थशिरोमणि महोपाध्याय पुण्यसागर, उपाध्याय धनराज और महोपाध्याय साधुकीर्ति गणि ने किया है:—

“एतद्द्विपदीव्याख्या लिखनादवलीकनाच्च गुरुवचसा ।
जयसोमोपाध्याया एतत्कृत्योपयोगिनो विहिताः ॥१॥
ग्रथितमदः श्रीगुरुभिः शास्त्रं जिनचन्द्रसूरिभिर्विवृतम् ।
पुण्यधनसाधुर्वाणितमेतज्जयकारणं भूयात् ॥२॥

X X X X
तेषां गुरुणां शिष्येण श्रीजिनचन्द्रसूरिणा ।
श्रीपौषधविधेर्वृत्तिश्चक्रे वाणोप्रसादतः ॥१६॥
मुन्येकैणाङ्ककलाप्रमिते वर्षेऽणहिलपुरनगरे ।
बभासि विजयदसमीदिवसे सत्पुण्यसम्पूर्णे ॥२०॥

संयोज्य वृत्तिचूर्ण-सामाचारिं विलोक्य सदृष्ट्या ।
 श्रीपुण्यसागरमहोपाध्यायैः शास्त्रधौरेयैः ॥२१॥
 श्रीपाठकधनराजैः सुशोधिता साधुकीर्त्तिगणिनाऽपि ।
 विबुधैः प्रवाच्यमाना नन्दतु यावज्जिनेन्द्रमतम् ॥२२॥
 प्रत्यक्षरगणनेन त्रिसहस्रीपञ्चशतकसयुक्ता ।
 चतुरधिकैः पञ्चाशत्श्लोकैः प्रत्यक्षतः प्रकटा ॥२३॥

जिनवल्लभ के अन्य ग्रन्थों पर तो तत्काल ही अनेक वृत्तियों की रचना हो चुकी थी । किन्तु इस मूल प्रकरण की रचना होने के ५०० वर्ष तक भी इस पर कोई टीका, दीपिका, पञ्जिका और अवचूरि आदि की रचना हुई ही ज्ञात नहीं होती । सर्वप्रथम १७ वीं शती में ही आवश्यक सूत्र सम्बन्धी समग्र साहित्य (जिसमें वृत्ति, चूर्ण इत्यादि का भी समावेश है) का आलोडन कर, सुन्दर वृत्ति का निर्माण कर आपने विधिपक्ष (खरतरगच्छ) की समाचारी को सुस्थिर रखने का जो प्रयत्न किया है, वह वस्तुतः श्लाघ्य है ।

इस टीका में स्थान-स्थान पर आगमिक तथा प्राकरणिक उद्धरणों की बहलता दृष्टिगोचर होती है । इसकी भाषा अत्यन्त ही परिमार्जित है और विवेच्य विषय है प्रवाह पूर्ण ।

इस टीका का प्रकाशन उपाध्याय सुखसागरजी कर रहें हैं^१ ।

वाचनाचार्य विमलकीर्ति

प्रतिक्रमण-समाचारी के स्तबककार श्री विमलकीर्ति महोपाध्याय श्री साधुकीर्ति गणि के प्रशिष्य तथा उपाध्याय श्री विमलतिलक के शिष्य थे । जातितः आप हुम्बडगोत्रीय थे और आपके माता-पिता का नाम था श्रीचन्द्र शाह और गवरादेवी । सं० १६५४ माह शुक्ला ७ के दिवस "उक्तिरत्नाकर, धातुरत्नाकर, शब्दरत्नाकर" आदि अनेक ग्रन्थों के प्रणेता श्री साधुसुन्दर उपाध्याय ने आपको दीक्षा प्रदान की थी । आचार्य जिनराजसूरि जी ने सं० १६७४ के पश्चात् आपको 'वाचक' पद प्रदान किया था । सं० १६९२ किरहोर (सिन्ध) में आपका स्वर्गवास हुआ था ।

आपकी निम्नलिखित कृतियां प्राप्त हैं:—

- | | |
|--|---|
| १. चन्द्रदूत (मेघदूत पादपूर्तिरूप
सं० १६८१. प्र.) | ७. दशवैकालिक सूत्र स्तबक |
| २. पदव्याख्या | ८. उपदेशमाला स्तबक (र. सं० १६८६) |
| ३. जीवविचार बालावबोध | ९. प्रतिक्रमणसमाचारी स्तबक |
| ४. नवतत्त्व " | १०. यशोधर रास (र. सं० १६६५) |
| ५. षष्टिशतक " | ११. जोधपुर-मंडन पार्श्वस्तव |
| ६. जयतिहुअण " | १२. प्रतिक्रमण-विधि-स्तव (र. सं० १६९०ः) |

१. विशेष परिचय के लिये देखें, युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि ।

चन्द्रदूत काव्य देखने से कवि-प्रतिभा का हमें अवश्य ही ज्ञान होता है। यह काव्य मेघदूत की पादपूर्ति-रूप में बनाया गया है। पादपूर्ति रूप होता हुआ भी यह एक मौलिक काव्य का सौन्दर्य रखता है।

प्रतिक्रमण समाचारी का अक्षरार्थ-स्तवक (टब्बा) सामान्यतया सुन्दर है किन्तु इस स्तवक से कोई व्युत्पत्ति अथवा विचारणा शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

जिनपालोपाध्याय

युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि के आप शिष्य के। सं० १२२५ में पुष्कर में स्वयं आचार्यश्री ने आपको दीक्षा प्रदान की थी। १२६६ में जाबालिपुर (जालोर) विधिचैत्य में आचार्यश्री ने आपको उपाध्याय पद प्रदान किया था। सं० १२७३ में बृहद्वार में आचार्य जिनपतिसूरि की आज्ञा से महाराज पृथ्वीचन्द्र की अध्यक्षता में पं० मनोदानन्द को "जैन-षड्दर्शन से बाह्य हैं" विषय पर शास्त्रार्थ कर विजयपत्र प्राप्त किया था^१। सं० १२८८ आश्विन सुदि १० को पालनपुर में राजपुत्र श्री जगसिंह के सानिध्य में साधु भुवनपाल ने स्तूप पर ध्वजारोहण प्रतिष्ठा का महामहोत्सव आपके कर-कमलों से कराया था। सं० १३११ पालनपुर में आपका स्वर्गवास हुआ था।

आप न्यायशास्त्र, अलङ्कार, साहित्य-शास्त्र तथा चित्रकाव्य के मर्मज्ञ थे। आपकी प्रतिभा का यशोगान करते हुए आपके ही सतीर्थ्य श्री सुमतिगणि गणधरसाधंशतक बृहद्वृत्ति में लिखते हैं:—

नानातर्कवितर्ककंशलसद्वाणीकृपाणीस्फुरत्-
तेजःप्रौढतरप्रहारघटनानिष्पिष्टवादित्रजाः ।
श्रीजैनागमतत्त्वभावितधियः प्रीतिप्रसन्नाननाः,
सन्तु श्रीजिनपाल इत्यलमुपाध्यायाः क्षितौ विश्रुताः ॥

जैनागमों के भी आप पूर्णनिष्णात थे। आपने अभयकुमार-चरित्रकार चन्द्रतिलको-पाध्याय, सन्देहदोलावलीवृत्तिकार श्री प्रबोधचन्द्रगणि आदि प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों को शास्त्रों का अभ्यास करवाया था। इसीलिये वे अपने ग्रन्थों में आपको गुरु-रूप में स्वीकार करते हैं:—

सम्यगध्याप्य निष्पाद्य यश्चात्तेवासिनो बहून् ।
चक्रे कुम्भध्वजारोपं गच्छप्रसादमूर्धान ॥३८॥

१. इस शास्त्रार्थ का उल्लेख आपने स्वयं ने स्वप्रणीत युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि पृ. ४४-४६ में बड़े विस्तार से दिया है और इसी का उल्लेख उ. चन्द्रतिलक अभयकुमार चरित्र में भी करते हैं:—

भूयो भूमिभुजङ्गसंसदि मनोदानन्दविप्रं घना-
हङ्कारोद्गुरकन्धरं सुविदुरं पत्रावलम्बप्रदम् ।
जित्वा वादमहोत्सवे पुरि बृहद्वारे प्रदर्शयौच्चकं-
र्युक्तीः सङ्घयुतं गुरुं जिनपतिं यस्तोषयामासिवात् ॥३७॥

श्रीजिनपालोपाध्यायमीलेस्तस्यास्य सन्निधौ ।
मयोपादायि नन्द्यादिमूलागमाङ्गवाचना ॥३६॥

अभयकुमारचरित-प्रशस्ति

जिनपालोपाध्याय आसन् यस्यागमे गुरवः ।

संदेहदोलावृत्तिवृत्ति-प्रशस्ति

आपकी स्वतन्त्र मौलिक रचनाओं में सनत्कुमारचक्रिचरित^१ महाकाव्य है। इसमें २४ सर्ग हैं। इसके २१ वें सर्ग में युद्धवर्णन प्रसंग को लक्ष्य में रखकर कविकल्पना के साथ क. च. ट. त. प. य. इत्यादि वर्गों का परिहार करते हुए चित्रकाव्यों में जो चमत्कार दिखलाया है वह अन्यत्र सुलभ नहीं है। इसी की प्रशंसा करते हुए सुमति गणि लिखते हैं:—

नानालङ्कारसारं रचितकृतबुधाश्चयंचित्रप्रकारं,
नानाच्छन्दोभिरामं नगरमुखमहावर्णकाव्यप्रकामम् ।
दृग्ध काव्यं सटीकं सकलकविगुणं तुर्यचक्रेश्वरस्य,
क्षिप्रं यैस्तेऽभिषेकाः प्रथमजिनपदाश्लिष्टपाला मुदे नः ॥१३॥

इसमें 'सटीक' शब्द जो सुमति गणि ने लिखा है उससे यह तो निश्चित है कि इस पर आपने स्वयं ने टीका की रचना की थी; किन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि इसकी टीका आज अप्राप्त है।

आप केवल कवि ही नहीं थे किन्तु एक सफल टीकाकार भी थे। आपकी रचित निम्नाङ्कित टीकाएं प्राप्त हैं:—

- | | |
|--|--|
| १. षट्-स्थानक-वृत्ति ^२ (सं. १२६२) | २. उपदेशरसायन-विवरण ^३ (सं. १२६२) |
| ३. द्वादशकुलक-विवरण ^४ (सं. १२६३) | ४. पंचलिङ्गीविवरण-टिप्पण ^५ (सं. १२६३) |
| ५. धर्मशिक्षा-विवरण ^६ (सं. १२६३) | ६. चर्चरी-विवरण ^७ : (सं. १२६४) |
| ७. स्वप्नफलविवरण ^८ | ८. स्वप्नविचारभाष्यवृत्ति ^९ |

इनके अतिरिक्त युगप्रधानाचार्य गुर्वावलि^{१०} (सं. १३०५ दिल्ली वास्तव्य हैमाभ्यर्थनया) जो ऐतिहासिक दृष्टि से खरतरगच्छ के आचार्यों का एक सुव्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत करती है तथा जिनपतिसूरि पंचाशिका और संक्षिप्त पौषध विधि भी प्राप्त है।

१. यह महाकाव्य मेरे द्वारा सम्पादित होकर राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर से प्रकाशित हो चुका है।
२. ४.५. जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार सूरत से प्रकाशित
३. ७. पं० लालचन्द्र गांधी द्वारा संपादित अष्टभ्रंश काव्यत्रयी में प्रकाशित
६. अप्रकाशित है। प्राचीन प्रति मेरे संग्रह में है।
८. जैसलमेर भंडार
९. अप्राप्त।
१०. मुनि जिनविजय संपादित एवं सिंधी ग्रन्थमाला से प्रकाशित है।

कवि ने अपनी लघुता दिखाने के लिये अपना उपनाम 'शिष्यलेख' रखा है और इसी का सनत्कुमारादि काव्यों में प्रयोग किया है।

द्वादशकुलक-विवरण—

अनेक ग्रन्थों का अवलोकन कर प्रमाण देने हुए ३३६३ श्लोकोपेत द्वादशकुलक का विवरण आपने बहुत ही सुन्दर पद्धति से लिखा है। इस विवरण में शब्दों की व्यर्थ भरमार नहीं है, इससे ग्रन्थकार के मूल आशय को समझने में काफी सरलता हो गई है। इस का रचना काल १२६३ भाद्रपद शुक्ला १२ है और इसका प्रारंभ मच्छनायक श्री जिनेश्वरसूरि के आदेश से किया गया था:—

चक्रे तच्छिष्यलेशैर्निरुपमजिनपालाभिषेकैः प्रसादा-
दत्युप्रात् सदगुरुणां कुलकविवरणं किञ्चिदेतत् सुबोधम् ।
तज्छोध्यं सूरिवर्यैर्मयि विहितकृपैः सम्भवन्त्येव यस्माद्,
दोषाश्छद्मस्थवाक्ये किमुत कुवचने माहृशां मान्यभाजाम् ॥६॥
श्रीमत्सूरिजिनेश्वरस्य सुमुनिव्रातप्रभोः साम्प्रतं,
शीघ्रं चारुमहाप्रबन्धकवितुर्वक्ष्यात् समारम्भितम् ।

तन्निष्ठामधुना ययो^३ गुणनवादित्यप्रमाणे^६ वरे,^{१२}
वर्षे^३ भाद्रपदे^६ सितौ^{१२} शुभतरे^३ द्वादश्यद्दे पावने ॥७॥

× × ×
त्रयस्त्रिंशच्छतान्येव त्रिषष्ट्या सङ्गतानि च ।
प्रत्यक्षरं प्रमाणं भोः श्लोकानामिह निश्चितम् ॥६॥

धर्म-शिक्षा-विवरण—

धर्मोपदेशमय ४० श्लोक के इस छोटे से काव्य में वर्णित १८ वस्तुओं का सौद्वान्तिक-प्रतिपादन और दृष्टान्तों सहित विवेचन सुन्दर पद्धति से किया गया है। द्वादशकुलक विवरण की अपेक्षा इसकी भाषा कुछ अधिक प्रौढ़ है। जो स्वाभाविक भी है क्योंकि आप्त इत्यादि का विवेचन दार्शनिक विषय होने से दुरूह होता ही है; फिर भी उसे सरल पद्धति में रखने का आपने प्रयत्न अवश्य किया है।

इसकी भी रचना तत्कालीन गणनायक श्रीजिनेश्वरसूरि के आग्रह से सं० १२६३ पौष शुक्ला ६ को अनुमानतः २००० श्लोक प्रमाण में पूर्ण की गई है:—

गुणग्रहोष्णद्युतिसंख्य, वर्षे पौषे नवम्यां रचिता सितायाम् ।
स्पष्टाभिधेयाद्भुतधर्मशिक्षा-वृत्तिविबुद्धा स्फटिकावलीब ॥२॥

× × × ×

सूरिजिनेश्वर इतीह बभूव शाखी, यस्माद्भवत् फलयुगाकृतिशिष्ययुग्मम् ।
तत्रादिमो निरुपमो जिनचन्द्रसूरि-रन्यो नवाङ्गनिधिदोऽभयदेवसूरिः ॥४॥

ततोऽर्जिन श्रीजिनवल्लभाख्यः, सूरिः सुविद्यावनिताप्रियोऽसौ ।
 अद्यापि सुस्था रमते नितान्तं, यत्कीर्त्तिहंसी गुणिमानसेषु ॥५॥
 यश्चाकरोत् महावृत्तैरिदं प्रकरणं लघु ।
 धर्मशिक्षाभिधं भव्यसत्त्वानां शिवदन्ततः ॥६॥

X X X X

जिनपतिरिति सूरिस्तद्विनेयावतंसः,
 समभवदिह येन प्रोज्ज्वलानि प्रचक्रे ।
 गुणिजनवदनानि प्रौढवादीन्द्रवृन्द-
 व्रजविजयसमुत्थेरिन्दुगौरैर्यशोभिः ॥८॥
 तच्छिष्यलेसेन जडात्मनापि, प्रपञ्चितता किञ्चन धर्मशिक्षा ।
 चक्रे सुबोधा जिनपालनाम्ना निदेशतः सूरिजिनेश्वराणाम् ॥९॥

इस टीका की एक-मात्र प्रति मेरे संग्रह में सुरक्षित है । जिनपालोपाध्याय के विशेष परिचय के लिये देखें, मेरे द्वारा सम्पादित 'सनत्कुमारचक्रि चरित महाकाव्य' की भूमिका ।

युगप्रवरागम श्रीजिनपतिसूरि

संघपट्टक बृहत् वृत्ति के टीकाकार आ० जिनपतिसूरि श्री जिनवल्लभ के प्रपौत्र, युगप्रधान जिनदत्तसूरि के प्रशिष्य तथा मणिधारी जिनचन्द्रसूरि के शिष्य थे । आप विक्रमपुर (जैसलमेर का समीपवर्ती) के निवासी मालहू गोत्रीय यशोवर्धन सूर्यदेवी के पुत्र थे । आपका जन्म वि० सं० १२१० चैत्र कृष्ण ८ को हुआ था और आपकी दीक्षा सं० १२१७ फाल्गुन शुक्ला १० को जिनचन्द्रसूरि के हाथ से हुई थी । आपकी दीक्षावस्था का नाम नरपति था ।

सं० १२२३ भाद्रपद कृष्ण १४ को जिनचन्द्रसूरि का स्वर्गवास हो जाने से उनके पद पर १२२३ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी को यु० जिनदत्तसूरि के पादोपजीवि श्री जयदेवाचार्य ने नरपति को (आपको) स्थापित किया और नाम जिनपतिसूरि रखा । आचार्य पदारोहण के समय आप की उम्र केवल १४ वर्ष की ही थी ।

सं० १२२८ में जिस समय आप आशिका पधारे उस समय नगर का उल्लेखनीय प्रवेश महोत्सव तत्रस्थानीय नरेश भीमसिंहजी ने किया था । वहीं रहते हुए वहाँ के प्रामाणिक दिगम्बर विद्वान् (जिसका नामोल्लेख प्राप्त नहीं है) को शास्त्र-चर्चा में पराजित किया था ।

सं० १२३६ में अजमेर में इतिहास के प्रसिद्ध पुरुष अन्तिम हिन्दू सम्राट् महाराजा पृथ्वीराज चौहान की अध्यक्षता में, राजसभा में फलवर्द्धिका निवासी उपकेशगच्छीय पद्मप्रभ के साथ शास्त्रार्थ हुआ था । उस समय राजसभा में प्रधानमन्त्रि कैमास, सभा के शृङ्गार पं० वागीश्वर, जनार्दन गौड, विद्यापति आदि महाविद्वान् एवं महाराजा पृथ्वीराज का अतिवल्लभ मण्डलीक राणकतुल्य तथा जिनपतिसूरि का भक्त श्रावक रामदेव आदि उपस्थित थे । आचार्य-श्री के साथ शास्त्र-विद्या में एवं श्रावक रामदेव के साथ मल्लविद्या में पद्मप्रभ ने बहुत बुरी

तरह से पराजय प्राप्त कर तथा राजकीय नियमानुसार "अर्धचन्द्राकार" प्राप्त किया था। दो दिवस के पश्चात् सम्राट् पृथ्वीराज ने परिवार सहित उपाश्रय में आकर आचार्यश्री को 'जयपत्र' प्रदान किया था।

सं० १२४४ में आपकी निश्रा में तीर्थयात्रार्थ संघ निकला था। वह क्रमशः प्रयाण करता हुआ चन्द्रावती पहुंचा। वहां पूर्णिमापक्षीय आचार्य अकलङ्कदेवसूरि के साथ नाम-सम्बन्धी आदि अनेक विषयों पर मनोविनोदार्थ सुन्दर विचार-विमर्श हुआ था।

चन्द्रावती में ही पूर्णमासिक आचार्य तिलकप्रभसूरि के साथ तीर्थयात्रा आदि अनेक शास्त्रीय-विषयों पर शास्त्रचर्चा हुई थी।

संघ, चन्द्रावती से क्रमशः प्रयाण करता हुआ आशापल्ली पहुंचा। वहां आचार्यश्री का परमभक्त श्रावक क्षेमन्धर; जिसका पुत्र प्रद्युम्नाचार्य नाम से ख्यातिमान वादी देवाचार्य की पौषशाला में रहता था; जो उस समय चैत्यशसि-आचार्यों में प्रमुख माना जाता था। उसकी (प्रद्युम्नाचार्य की) आचार्य जिनपति के साथ शास्त्रार्थ करने की अभिलाषा थी। इस मनोकामना को आचार्यश्री ने स्वीकार किया, किन्तु संघ को वहां ठहरने का अवकाश न होने के कारण, आह्वान को लक्ष्य में रखकर, वहां से प्रयाण कर उज्जयन्त, शतुञ्जय इत्यादि तीर्थों की तीर्थयात्रा कर आचार्यश्री पुनः आशापल्ली (अहमदाबाद) आये और प्रद्युम्नाचार्य के साथ उनकी इच्छानुसार "आयतन-अनायतन" विषय पर शास्त्रार्थ किया। इस शास्त्रार्थ में आचार्य प्रद्युम्नसूरि विशेष समय तक स्थिर रह सका। अन्त में पराजय प्राप्त कर स्वस्थान को लौट गया। इसी वाद के उपलक्ष्य में आचार्य ने जो प्रत्युत्तर प्रदान किये थे उनका दिग्दर्शन कराने वाला स्वरचित 'प्रबोधोदय वादस्थल' नामक ग्रन्थ प्राप्त है जो जैसलमेर आदि भंडारों में है।

सं० १२५३ में षष्टिशतक प्रकरण के कर्त्ता नेमिचन्द्र भंडारी ने; जो अनेक वर्षों से शुद्ध गुरु की शोध में भटकते थे आचार्यश्री से प्रतिबोध पाया। इसी वर्ष पत्तन (अणहिल्ल-पुर पाटण) का भंग हो जाने से आचार्य ने घाटी काम में चातुर्मास किया था।

सं० १२७२ में "बृहद्धार" में नरेश पृथ्वीचन्द्र की सभा में काश्मीरी पण्डित मनोदानन्द का 'जैन षड्दर्शन बाह्य हैं' विषय पर आचार्यश्री की आज्ञा से उपाध्याय जिनपाल से शास्त्रार्थ हुआ था, उसमें उपाध्याय सफल हुए थे और जयपत्र प्राप्त किया था।

आपने अपने जीवनकाल में अनेकों विद्वानों के साथ ३६ शास्त्रार्थ किये और उन सभी विवादों में विजय-पताका प्राप्त की। इसीलिये प्रत्येक ग्रन्थकारों ने आपके नाम के साथ "षड्विंशशतादविजेता" विशेषण सुरक्षित रखा है।

आपने अपने ५४ वर्ष के लम्बे आचार्य-काल में सैकड़ों प्रतिष्ठाएं, सैकड़ों दीक्षाएँ एवं अनेकों योग्य व्यक्तियों को पद-प्रदान आदि अनेक कार्य किये हैं जिनका वर्णन जिनपालोपाध्याय लिखित गुर्वावली में उपलब्ध है। सं० १२७७ आषाढ शुक्ला दसमी को पालनपुर में आपका स्वर्गवास हुआ था।

१. युगप्रधानाचार्य गुर्वावली पृष्ठ ३३

आप वादी-विजेता तो थे ही साथ ही आपकी संघपट्टक की टीका का अवलोकन करते हैं तो कहना ही पड़ता है कि आपकी लेखनी भी सरस्वती-पुत्र के अनुकूल ही है। संघपट्टक जैसे ४० पद्यों वाली कृति पर ३२०० श्लोक प्रमाणोपेत टीका की रचना में आपने आगमों तथा प्रकरणों के अनेक उद्धरणों द्वारा विधिपक्ष की समर्थना में जो सफलता प्राप्त की है वह श्लाघनीय है। इस टीका की शैली नैयायिक-शैली है; जिसमें स्वतः ही प्रश्न उद्भूत कर नैयायिक-दृष्टि से ही उत्तर प्रदान किये गये हैं। इसकी भाषा अत्यन्त प्रौढ और प्राञ्जल होने के कारण विद्वद्भोग्या बन गई है। वाक्यों की आलंकारिक-छटा, प्रौढता तथा समासब-हलता का परिचय टीका की अवतरणिका से ही करिये:—

‘इह हि सदृशां पदार्थसाथप्रकटनपटीयसि समूलकाषड्कषितनि शेषदोषे निर्वाण-
चरमशिखरीशिखरमधिरूढे भगवति भास्वति श्रीमहावीरे, तदनु दुःषमासमयभविष्णु-
दशमाश्चर्यमहादोषान्धकारोदयात्तनिमानमासादयति जिनराजमार्गे मन्दायमानेषु सदृष्टिषु
सात्विकेषु सत्त्वेषु प्रोज्जम्भमाणेषु सदालोकबाह्येषु तामसेषु निरङ्कुशमत्तमतङ्गजवद्-
यथेच्छंगजत् सञ्चरिष्णुषु प्रमादमदिरामदावदायमानानवद्यविद्यासम्पत्तिषु सातशीलतया
स्वकपोलकल्पनाशिल्पिकल्पितजिनभवननिवासेषु चौलुक्यवंशमुक्तामाणिक्यचारुतत्त्वविचार-
चातुरीधुरीणविलसदङ्गरङ्गनृत्यन्नीत्यङ्गनारञ्जितजगज्जनसमाजश्रीदुर्लभराजमहाराजसभायां
अनल्पजल्पजलधिसमुच्छलदतुच्छविकल्पकल्लोलमालाकवलितबहलप्रतिवादिक्विदग्रामण्या
संविग्नमुनिनिवहाग्रण्या सुविहितवसतिपथप्रथनरविणा वादिकेसरिणा श्रीजिनेश्वरसूरिणा००”

इस टीका की रचना कब हुई है निश्चित नहीं कहा जा सकता। किन्तु इस टीका की प्रौढता देखते हुए सं० १२३५ के पश्चात् ही इसकी रचना हुई हो। आपके रचित लगभग ८.१० स्तोत्र भी प्राप्त हैं।

यह टीका अनुवाद सहित जेठालाल दलमुख की तरफ से प्रकाशित हो चुकी है।

हर्षराजोपाध्याय

सङ्घपट्टक लघुवृत्तिकार उपाध्याय हर्षराज श्रीजिनभद्रसूरि के प्रशिष्य, महोपाध्याय श्रीसिद्धान्तरुचि के प्रशिष्य तथा उपाध्याय अभयसोम के शिष्य थे। इनका विशेष वृत्तान्त ज्ञात नहीं है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में रचना संवत् का उल्लेख भी नहीं है, परन्तु

१. श्रीमति खरतरुगच्छे श्रीजिनभद्राभिधा गणाधीशाः ।
सिद्धान्तरुचिप्रौढानूचानाः सन्ति तच्छिष्याः ॥१॥
श्रीमदभयसोमास्तूपाध्यायास्तद्विनेयविख्याताः ।
तच्छिष्य हर्षराजोपाध्यायेन हि कृता वृत्तिः ॥२॥
लब्धिवागुरुभद्रोदयसाहायाच्च सङ्घपट्टस्य ।
श्रीमज्जिनपतिसूरीश्वरकृतबृहट्टीकातः ॥३॥
यदत्र हर्षराजेन लिखितं मतिमान्द्यतः ।
विरुद्धं च तदुत्सुत्रं बुधैः शोध्यं सुबुद्धिभिः ॥४॥

महोपाध्याय श्री सिद्धान्तरुचि के प्रशिष्य होने के कारण इस वृत्ति की रचना १६ वीं शताब्दि के प्रारंभ में हुई है ।

यह लघुवृत्ति वस्तुतः स्वतंत्र वृत्ति नहीं है किन्तु आ० जिनपतिसूरि रचित बृहद् टीका का सङ्कलनमात्र है । बृहद्टीका के प्रपञ्चित पक्ष-विपक्ष-प्रतिपादन, आगमिक-उद्धरण इत्यादि का त्यागकर मूल-ग्रन्थानुसारिणी समग्र टीका का प्रारंभ से अन्त तक पंक्ति-पंक्ति, अक्षर-अक्षर को उद्धृत कर लेखक ने संक्षिप्त संस्करण तैयार किया है ।^२

यह लघुवृत्ति श्रीजिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार सूरत से प्रकाशित हो चुकी है ।

लक्ष्मीसेन

सङ्घपट्टक काव्य की स्फुटार्था नाम की टीका रचने वाले श्री लक्ष्मीसेन के सम्बन्ध में उल्लेखनीय सामग्री का अभाव है । केवल इस टीका की प्रशस्ति से इतना ज्ञात होता है कि लक्ष्मीसेन विमलकीर्ति वाले श्रावक वीरदास के पौत्र और धीरवीर श्री हमीर के पुत्र थे । संघपट्टक जैसे दुरुह काव्य पर १६ वर्ष की अल्पायु में सं० १५१३ में स्फुटार्था नाम की टीका की आपने रचना की है ।

क्व जिनवल्लभसूरिसरस्वती, क्व च शिशोर्मम वाग्विमबोदयः ।
 शुक्वचोवदिमां सुजनाः खलु, श्रवणयोः कुतुकात् प्रकरिष्यथ ॥१॥
 श्रीवीरदास इति वीरजिनेश्वरस्य, पादाब्जपूजनपरायणचित्तवृत्तिः ।
 श्रीमानभूदमलकीर्तिवितानकेन, येनावृतं जगदिद करुणात्मकेन ॥२॥
 तस्यात्मजो भवदनन्तगुणाः समग्र-सम्यक्त्वसंग्रहविर्द्धितपुण्यराशिः ।
 श्रीमान् हमीर इति धीरतरः शरीरः, वाक्कमहद्भिर्भरनिश जिनपूजनाय ॥३॥
 तत्पुत्रोऽतिपवित्रकर्मनिरतः सद्विद्यया सवंतः,
 ख्यातः षोडशहायनोऽप्यरचयत् टीकां स्फुटार्थाभिधाम् ।
 लक्ष्मीसेन इति प्रसिद्धमहिमा देवान् गुरुनचयन्,
 जीयाब्जजीवदयापरः परपरीतापार्त्तिहन्ता वरः ॥४॥
 विमले श्रावणमासे वर्षे त्रिमहीषुचन्द्रसंगुणिते ।
 कृतवान् लक्ष्मीसेन टीका श्रीसङ्घपट्टस्य ॥५॥

यह टीका सामान्य सी ही है । टीकाकार कई-कई स्थलों पर शाब्दिक पर्यायों का कथन त्याग कर भावार्थ-तात्पर्यमात्र ही प्रकट करने को उत्सुक प्रतीत होता है, अतः कई स्थलों का विवेचन अस्पष्ट सा रह गया है । साथ ही इनके सन्मुख बृहद्टीका होने के कारण कई स्थानों पर उन्हीं शब्दों को अक्षरशः उद्धृत भी कर दिया है ।

आश्चर्य की वस्तु यह है कि इस टीका की जितनी भी प्रतियें देखने में आई हैं उन में केवल पद्य २६ की टीका प्राप्त नहीं होती है । इस पद्य की टीका टीकाकार स्वयं ही करना भूल गया या पश्चात् प्रतिलिपिकार भूलते ही आये, निश्चित नहीं कहा जा सकता ।

१. उदाहरण के लिये देखिये, मेरी लिखित संघपट्टक की भूमिका

इसमें सन्देह नहीं कि लक्ष्मीसेन का व्यक्तित्व अवश्य ही प्रभाव पूर्ण था, अन्यथा १६ वर्ष जैसी अल्पावस्था में इस दुरूह काव्य पर लेखिनी चलाना संभव ही नहीं था।

यह टीका जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार सूरत से प्रकाशित हो चुकी है।

महोपाध्याय साधुकीर्ति

सङ्घपट्टक के अवचूरिकार और लघु अजितशान्तिस्तव के बालावबोधकार महोपाध्याय साधुकीर्ति खरतरगच्छीय श्रीजिनभद्रसूरि की परम्परा में वाचनाचार्य श्री अमर-माणिक्य गणि के प्रमुख शिष्य थे। वैसे आप ओसवाल वंशीय सुचिन्ती गोत्रीय श्रेष्ठि वस्तुपाल-खेमलदेवी के पुत्र थे। आपने सं० १६१७ में युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि रचित पौषधविधिप्रकरण वृत्ति का संशोधन किया था और सं० १६२५ में आगरा में सम्राट् अकबर की सभा में पौषधविधि-विषय में तपागच्छीय बुद्धिसागर के साथ शास्त्रार्थ कर उन्हें निरुत्तर^१ किया था। सं० १६३२ में श्रीजिनचन्द्रसूरिजी ने आपको उपाध्याय पद प्रदान किया था। समय-समय पर गच्छनायक स्वयं आप से सैद्धान्तिक-विषयों में परामर्श लिया करते थे। सं० १६४६ माघ वदि १४ को जालोर में आपका स्वर्गवास हुआ था।

आपने अपने जीवनकाल में शेषनाममाला आदि मौलिक कृतियों और संघपट्टक आदि पर टीकाएं तथा सप्तस्मरण आदि पर बालावबोध एवं सतरभेदी पूजा इत्यादि लगभग छोटे मोटे २३ ग्रन्थों की रचना की हैं।

सङ्घपट्टक पर आपने सं० १६१६ माह शुक्ला पञ्चमी को अवचूरि की रचना पूर्ण की है^२। यह अवचूरि होते हुए भी अर्थ को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकाशित करने वाली होने से टीका का ही सादृश्य धारण करती है। इसकी भाषा भी प्राञ्जल है।^३

द्वितीय कृति, लघुअजित-शान्ति-स्तव पर सं० १६१२ दीपावली पर्व पर बीकानेर में मंत्रि संग्रामसिंह के आग्रह से बालावबोध की रचना पूर्ण की है। बालजीवों के लिये यह बालावबोध अत्यन्त ही उपादेय है।

उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ

संघपट्टक प्रकरण के बालावबोधकार उपाध्याय लक्ष्मीवल्लभ खरतरगच्छीय क्षैमकीर्तिशाखा के विद्वान् उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे। आपका गार्हस्थ्य जीवन का

१. आपके सम्बन्ध में आपके गुरुभ्राता कनकमोम कृत जहतपदवेली तथा जयनिधान कृत स्वर्गगमन गीत देखें।
२. तच्छिष्येण सुविहिता सुगमेयं साधुकीर्तिगणिनापि।
एकोनवशिसमधिक-षोडशसंवत्सरे प्रवरे ॥४॥
माघमासे शुक्लपक्षे पञ्चम्यां प्रवरयोगपूर्णावाम्।
विबुधैः प्रपद्यमाना समस्तसुखदायिनी भवतु ॥५॥
३. यह अवचूरि जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार सूरत से प्रकाशित है।

नाम हेमराज था। 'वल्लभ' नदी को देखने से ऐसा अनुमान किया जा सकता है सं० १७१० के लगभग आपकी दीक्षा जिनराजसूरि अथवा जिनरत्नसूरि के करकमलों से हुई होगी। प्राप्त पत्रों^१ के अनुसार आपको उपाध्याय पद सं० १७३३ के पूर्व ही प्राप्त हो चुका था।

१८वीं शती के आप एक प्रसिद्ध टीकाकार और भाषा-साहित्य के सर्जक थे। आपकी प्रणीत उत्तराध्ययन तथा कल्पसूत्र की वृत्तियों जितना आदर प्राप्त कर सकी हैं उतनी अन्य इन ग्रन्थों के टीकाकारों की कृतियों भी नहीं कर पाईं। इनके ग्रन्थों के अध्ययन से यह तो निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि आप अनेक विषयों के ज्ञाता थे। साथ ही यह भी कह सकते हैं कि इनकी कृतियों में 'पण्डितमन्य' की भावना का प्रदर्शन हमें कहीं भी नहीं मिलता; अपितु सामान्य तज्ज्ञों को आकर्षित करने का प्रयत्न अवश्य दिखाई पड़ता है। इनकी धर्मोपदेश स्वोपज्ञवृत्ति और कुमारसम्भव काव्य पर वृत्ति भी प्राप्त है। कुमारसम्भव की वृत्ति कवि की प्रारम्भिक रचना होने के कारण प्रौढ व परिमाजित नहीं बन सकी है। इसमें केवल खण्डान्वय पद्धति से पर्यायों पर ही अधिक बल दिया गया है। आपकी रचनाएं सं० १७२१ से ४७ तक की प्राप्त हैं। अतः सं० १७५० के लगभग आपका स्वर्गवास हो गया हो ऐसा सम्भव है।

आपकी भाषा में तो एक नहीं सैकड़ों कृतियों प्राप्त हैं। वे केवल राजस्थानी भाषा में ही नहीं; अपितु हिन्दी और सिन्धी भाषा में भी। भाषा-काव्य-साहित्य में आपने अपना उपनाम 'राजकवि' भी दिया है। राजस्थानी हिन्दी गद्य-साहित्य में आपकी तीन रचनाएं प्राप्त हैं, वे हैं-संघपट्टक का बालावबोध, कृष्ण शक्तिणी वेली और भर्तृहरि शतकवय स्तबक।

इस बालावबोध की रचना आपने कब की? प्रशस्ति के अभाव में कह नहीं सकते। किन्तु भाषा और शैली को देखते हुए कह सकते हैं कि आपकी यह प्रौढकालीन रचना है। यही कारण है, इस ग्रन्थ का विवेचन व्याख्याकार अच्छी तरह से कर सका है। व्याख्याकार ने आ० जिनपति की बृहट्टीका को ही आदर्श मानकर तदनु रूप बालावबोध की रचना की है।

इसकी प्रतियों अबीरजी भंडार व म० रामलाल जी संग्रह बीकानेर में हैं। आपके रचित पंचदंड चौ०, अमरकुमार रास, रात्रिभोजन चौ०, रत्नहास चौ० आदि रास, पंचकुमार कथा, भावनाविलास, कालज्ञान (वैद्यक) आदि प्राप्त कृतियों का परिचय राजस्थानी भा. २ में 'राजस्थानी भाषा के दो महाकवि' निबन्ध देखें।

महोपाध्याय पुण्यसागर

प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतं काव्य के टीकाकार महो० पुण्यसागर, बादशाह सिकन्दर लोदी को प्रसन्न कर ५०० बन्दियों को कारागार से मुक्त कराने वाले तथा आचारांग सूत्र की दीपिका नाम से व्याख्या बनाने वाले आ० जिनहंससूरि के स्वहस्त-दीक्षित शिष्य थे। गीतों में आपके मातुश्री का नाम उत्तमदेवी और पिताश्री का नाम उदयसिंहजी प्राप्त होता है।

१. सं० १७३३ का आ० जिनचन्द्रसूरि का आदेश पत्र, नाहटा संग्रह।

तत्कालीन समय के समर्थ आचार्य युगप्रधान जिनचन्द्रसूरिजी को भी सूरिपद के योगोद्धहन कराने वाले आप ही थे, तथा समय-समय पर युगप्रधानजी स्वयं सैद्धान्तिक-विषयों में आपसे परामर्श लिया करते थे। आप उस समय के उद्भट विद्वान् और गीतार्थप्रवर माने जाते थे। युगप्रधानजी ने जिनवल्लभीय पौषधविधि प्रकरण पर १६१७ में जिस टीका की रचना की थी उसका संशोधन^१ भी आपने किया था।

टीकाकार के रूप में आपने जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति उपांग पर (सं० १६४५ जैसलमेर राउल भीम राज्ये^२) बृहद्वृत्ति की रचना की है जो अन्य उपलब्ध समग्र टीकाओं से विशेष प्रौढता धारण करती है। आप की दूसरी टीका प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतं काव्य पर है। इनके अतिरिक्त आपके सुबाहुसन्धि (१६०४ जिनमाणिक्यसूरि आदेशात्), मुनिमालिका (जिनचन्द्रसूरि आदेशात्) एवं स्तवन इत्यादि प्रचुर परिमाण में प्राप्त हैं।

प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक काव्य पर यु० जिनचन्द्रसूरि के विजयराज्य में आपने सं० १६४० विक्रमपुर (बीकानेर) में 'कल्पलतिका' नाम की टीका की रचना स्वशिष्य पद्मराज गणि की सहायता से पूर्ण की है:—

“आसीत् पुरा खरतराभिघगच्छनाथः, श्रीमान् जिनेश्वरगुरुः शुभशाखिपाथः ।

सूरिस्ततोपि जिनचन्द्र इति प्रतीतः, शीतद्युतिप्रतिमचारुगुरुरखीतः ॥१॥

तदनुकीर्तितरंरचिनश्वराः, शुशुभिरेश्वरदेवमुनीश्वराः ।

विहितचङ्गनबाङ्गसुवृत्तयः, परहितोद्यतमानसवृत्तयः ॥२॥

तत्सन्ततो समजनिष्ट गरिष्ठधामा, सूरेश्वरः श्रुतधरो जिनभद्रनामा ।

श्रीजैनचन्द्रगणभृद्गुणरत्नराशे-रन्धिस्ततो जिनसमुद्रपुरश्चकाशे ॥३॥

तत्पट्टराजीवसहस्ररश्मयस्ततो बभुः श्रीजिनहंससूरयः ।

तेषां विनेयैर्विवृतिं विनिर्ममे, यत्नादियं पाठकपुण्यसागरं ॥४॥

समञ्चिता विक्रमसत्पुरेश्वरी, वृत्तिविद्यद्वाङ्मिरसेन्दुवर्षे ।

गुरौ शुभश्वेतमहो दशम्यां, श्रीजैनचन्द्राभिधसूरिराज्ये ॥५॥

पद्मराजगणिसत्सहायता-योगतः सपदि सिद्धिमागता ।

वृत्तिकल्पलतिका सतामियं, पुरयन्त्वभिमतार्थसन्ततिम् ॥६॥

इस विषय में त्रिलबद्धप्रश्नोत्तर काव्य पर कई अवचूरियें^३ प्राप्त थीं किन्तु विद्वद्भोग्या

१. श्रीपुण्यसागरमहोपाध्यायः पाठकोद्गधनराजः ।

अपि साधुकीर्तिगणिना सुशोभिता दीर्घदृष्ट्येयम् ॥२६॥

पौषधविधि-प्रकरणटीका प्रशस्ति

२. श्रीमज्जेसलमेरुदुर्गेनगरे श्रीभीमभूमिपती,

राज्ये शासति बाणवारिधिरसक्षीणीमिते वत्सरे ।

पुण्यार्के मधुमासि शुक्लदशमी सहासरे भासुरे,

टीकेषु विहिता सदैव जयतादाचन्द्रसूर्यं भुवि ॥२५॥

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका प्रशस्ति

३. जैन स्तोत्र रत्नाकर द्वितीय भाग में सोमसुन्दरसूरि-शिष्य रचित अवचूरि सह प्रस्तुत काव्य प्रकाशित हो चुका है ।

टीका प्राप्त नहीं थी। ऐसी अवस्था में कल्पलतिका नाम की टीका लिख कर पाठकजी ने एक क्षति की पूर्ति की है जो अभिनन्दनीय है।

प्रस्तुत काव्य अत्यन्त ही दुर्घट-काव्य है। टीका बिना इसका अर्थ करना एक कठिन कार्य है। किन्तु पाठकजी की प्रतिभा ने अपनी परिमार्जित और प्राञ्जल भाषा में इसको सरल और सरस बनाने में पूर्ण योग दिया है। इससे यह काव्य विषम होता हुआ भी सरलतम हो गया है जिसका श्रेय पाठकजी को ही है।

इस काव्य की विषमता को पाठकजी स्वयं स्वीकार करते हुए प्रारम्भ के मंगला-चरण में लिखते हैं:—

स जयताञ्जगति जनवल्लभः, परहितकपरो जिनवल्लभः ।
चतुरचेतसि यस्य चमत्कृति, रचयतीह चिरं रुचिर वचः ॥२॥
तद्विरचितविषमार्थप्रश्नोत्तरषष्टिशतकशास्त्रस्य ।
वितनोमि विवरणमह सुगमं स्वपरोपकारकृते ॥३॥

प्रस्तुत काव्यमयी टीका^१ प्रकाशन योग्य है। आशा है जैन समाज इस कृति को अवश्य प्रकाशित करेगा।

उपाध्याय साधुसोम

चरित्र पञ्चक और नन्दीश्वर स्तोत्र के टीकाकार उपाध्याय साधुसोम, जैसलमेर ज्ञान भंडार के संस्थापक श्रीजिनभद्रसूरि के प्रशिष्य और महोपाध्याय श्री सिद्धान्तरुचि के शिष्य थे। महो० सिद्धान्तरुचि १६ वीं शती के प्रौढ विद्वानों में माने जाते थे। आपने अपने पूज्य-गुरु आचार्य जिनभद्र के अनुरूप ही मांडवगढ (मालवा) में एक भंडार की स्थापना की थी।

संभवतः आचार्य जिनभद्रसूरि ने अपने करकमलों से सं० १५०० के पूर्व ही आपको दीक्षा प्रदान की होगी। इस अनुमान का कारण यह है कि आपने सं० १५१० में संग्रहणी पर अवचूरि और पुष्पमाला प्रकरण पर सं० १५१२ में वृत्ति की रचना की है। पुष्पमाला प्रकरण टीका की भाषा आलंकारिक, प्रवाहपूर्ण तथा परिमार्जित होने से १०.१५ वर्ष का व्यवधान होना तो स्वाभाविक ही है। आपको सं० १५१६ के पूर्व ही गणि पद प्राप्त हो चुका था और संभवतः तत्कालीन गच्छनायक श्रीजिनचन्द्रसूरि ने ही आपको उपाध्याय पद प्रदान किया था।

चरित्र पंचक पर सं० १५१६ में आपने अर्थ-प्रबोधिनी नामक टीका की रचना पूर्ण की:—

श्रीखरतरगच्छेश श्रीमज्जिनभद्रसूरिशिष्याणाम् ।
जीरापल्लीपार्वप्रभुलब्धवरसादानम् ॥१॥

१. १७ वीं शती की लिखित प्रति मेरे संग्रह में है।

श्रीग्यासदीनसाहेमहासभालब्धवाधिविजयानाम् ।
 श्रीसिद्धान्तरुचिमहोपाध्यायानां विनेयेन ॥२॥
 साधुसोमगणेशोनाकलेशेनार्थप्रबोधिनी ।
 श्रीबोरचरिते चक्रे वृत्तिश्चित्तप्रमोदिनीम् ॥३॥

X X X X
 जिनवल्लभसूरीन्द्रसूक्तिमौक्तिकपंचकः ।
 दशितार्था सुष्टुटीनां सुखप्राह्या भवन्त्विति ॥६॥
 चार्वचरित्रपञ्चकवृत्तिर्बिहिता नवैकतिथिवर्षे ।
 हर्षेण महर्षिगणैः प्रवाच्यमाना चिरं जयतु ॥७॥

इस टीका में आपने चरित्र संबंधी अनेक रहस्यों का समाधान आगमिक ग्रन्थों द्वारा करके जीवन-चरित्र का क्या महत्त्व है ? इत्यादि बातों का विशिष्ट प्रतिपादन किया है । टीका सुस्पष्ट और शिष्यहितैषिणी प्रतीत होती है ।

नन्दीश्वर स्तोत्र की टीका तो केवल पर्यायबोधिनी मात्र है, विशिष्ट टीकागुणों से युक्त नहीं । इनके अतिरिक्त संसारवावावृत्ति और कई स्तोत्रादि भी आपके प्राप्त होते हैं ।

चरित्र पंचक की प्रतियां पूना, यशसूरि भंडार जोधपुर आदि में प्राप्त हैं । और नन्दीश्वरस्तोत्र-टीका की प्रतियां बीकानेर बड़ा भंडार आदि तथा मेरे संग्रह में है ।

वाचक कनकसोम

चरित्र-पञ्चक अवचूरिकार वाचक कनकसोम आचार्य जिनभद्रसूरि सन्तानीय वाचनाचार्य श्रीअमरमाणिक्य गणि के शिष्य थे और महोपाध्याय श्री साधुकीर्ति आपके बृहद् गुरुभ्राता थे । वैसे आप ओसवंशीय नाहटा गोत्र के थे । आपके माता-पिता का नामोल्लेख हमें प्राप्त नहीं है । वृत्तरत्नाकर की सं० १६१३ चैत्र कृष्णा ११ को लिखित, आपकी करकम-लाङ्कित प्रति प्राप्त होने से यह निश्चित है कि आपको दीक्षा श्रीजिनमाणिक्यसूरिजी ने प्रदान की होगी । जिनवल्लभीय चरित्र पञ्चक पर अवचूरि की सं० १६१५ की स्वयं लिखित प्रति होने से यह अनुमान करना अस्वाभाविक नहीं होगा कि आपकी दीक्षा सं० १६००-१६०५ के मध्य में हुई होगी । चरित्र पञ्चक पर अवचूरि लिखने के लिये १० वर्ष की दीक्षा-पर्याय तो अवश्य होना ही चाहिये । सं० १६४८ में यु० श्रीजिनचन्द्रसूरि अकबर के आमन्त्रण से लाहोर पधारे थे उस समय आप भी साथ थे । संभवतः आपको वाचक पद यु० जिनचन्द्रसूरि ने ही दिया होगा । थावच्चा सुकोमल चरित्र की अन्तिम रचना सं० १६५५ में होने से इसके पश्चात् ही आपका स्वर्गवास हुआ है ।

आपकी रचित जइतपदवेली, हरिकेशी संधि आदि भाषात्मक १० रचनायें और नववाडी गीत, जिनचन्द्रसूरि गीत आदि अनेक गीत भी प्राप्त हैं ।

संस्कृत रचनाओं में आपकी यह एक ही कृति उपलब्ध है । इसमें आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पांचों तीर्थकरों के चरित्र पर आपने

अवचूरि की रचना सं० १६१५ में की है। यह अवचूरि सुगम, सुबोध तथा पठनीय है। इसमें वाक्याडम्बर रहित किन्तु परिमार्जित शैली का अनुसरण किया गया है।

कमलकीर्ति

चरित्र-पञ्चक बालावबोध और लघु अजितशान्ति स्तव के बालावबोधकार श्रीकमलकीर्ति आचार्य श्रीजिनमाणिक्यसूरि के प्रशिष्य, वाचनाचार्य श्रीकल्याणधीर गणिके शिष्य थे। युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि स्थापित ४४ नन्दियों में ४० वीं नन्दी 'कीर्ति' होने से अनुमानतः सं० १६५० और १६६० के मध्य में आपकी दीक्षा हुई होगी। सं० १६७६ में आपने महीपाल चरित्र चतुष्पदी की रचना की है। इससे भी यह अनुमान स्वाभाविक सा ही प्रतीत होता है।

सं० १६८७ चैत्र शुक्ला ६ सोमवार को आपने बाल ब्रह्मचारिणी सूजी नामकी श्राविका के लिये सप्तस्मरण बालावबोध की २५०० श्लोक परिमाण में रचना की है; जो सखवाल गौत्रीय श्रेष्ठि सांगण के पुत्र श्री सहस्रकरज की पुत्री थी और आपकी चाची लगती थी तथा जिनको आप माता के रूप में ही मानते थे; उसी के लिये आपने स्वयं सं० १६८८ में यह प्रति भी लिखी है।

लघु अजित-शान्ति स्तव बालावबोध (२० सं० १६८९) और चरित्र पञ्चक बालावबोध (२० सं० १६९८ श्रा० व० ६) पर आपने बहुत ही विस्तृत विवेचन लिखे हैं। इसमें उन्होंने न केवल कवि की प्रतिभा को सम्यक् रूप से प्रकट करने का सफल प्रयत्न किया है अपितु स्तोत्र में वर्णित भगवान् के स्वरूप की दार्शनिक मीमांसा भी अच्छी की है। आपकी ये दोनों कृतियाँ पठन योग्य हैं।

उपाध्याय समयसुन्दर

जैन जगत् के प्रसिद्ध कवि समयसुन्दर का नाम किसने न सुना होगा? आप मूलतः राजस्थान में साचौर के निवासी थे और आपके पिता का नाम था रूपसी तथा माता का नाम लीलादेवी था। १७वीं शती के प्रसिद्ध जैनाचार्य सम्राट् अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि के आप प्रशिष्य तथा सकलचन्द्र गणिके शिष्यरत्न थे। आपके विद्यागुरु थे वाचक महिमराज और वाचक समयराज। आपके पाण्डित्य, चारित्य और सिद्धान्तज्ञान का समुचित मूल्यांकन करना यहां संभव नहीं। अकबर की सभा में आपने "राजानो ददते सौख्यम्" की व्याख्या में ८ आठ लाख अर्थ कर 'भारती-पुत्र' कलिकाल कालिदास-ता सिद्ध की थी। आप व्याकरण, न्याय, दर्शन, लक्षण, साहित्य, आमम आदि के प्रकाण्डपण्डित थे और इनकी वाग्मिता तथा प्रगल्भता का लोहा उस समय सब मानते थे।

जब यु० जिनचन्द्रसूरि सम्राट् अकबर के आग्रह से लाहोर पधारे थे उस समय आप भी साथ में थे। सं० १६४६ में फाल्गुन शुक्ला २ को आचार्यश्री ने आपको वाचक पद प्रदान किया था। सं० १६७१ लवरा में जिनसिंहसूरिजी ने आपको उपाध्याय पद दिया था। सं० १६८७-१६८८ के दुष्काल के कारण जो साधु-समाज में शिथिलता आ गई थी उसका परिहार कर १६९१ में आपने क्रियोद्धार किया था। जैसलमेर के राउल श्रीभीमसिंहजी को

प्रसन्न कर मयणों (मीणों) द्वारा मारे जाने वाले 'सांडा' जीवों को बचाया था। सिन्धु देश में विहार करते हुए सिद्धपुर के मखनूम महमद शेख को प्रतिबोध देकर पञ्चनदीय जलचर जीवों तथा गौ की रक्षा का अमारी पटह बजवा कर अहिंसा धर्म का सुन्दर प्रचार किया था। मंडोवर (मंडोर) और मेड़ता के नृपति आपके भक्त थे। सं० १७०२ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को अहमदाबाद में आपका स्वर्गवास हुआ था।

आपके द्वारा सर्जित साहित्य-निधि आज भी अपार संख्या में उपलब्ध है। आपने अनेकों मौलिक ग्रन्थ, टीका ग्रन्थ, विधि-विधान सम्बन्धी ग्रन्थ, संग्रहात्मक ग्रन्थ, रास-चतुष्पदी आदि भाषा-साहित्य के अनेकों ग्रन्थ निर्माण किये। आपके स्तोत्र, स्तवन, स्वाध्याय, (सज्जाय) पद आदि की तो गिनती भी नहीं है, जिसमें बहुलता से अनेकों नष्ट हो गये हैं। फिर भी प्रचुर परिमाण में आपका साहित्य उपलब्ध है। आपके प्रणीत साहित्य की तालिका और आपके जीवन का कला-कलाप विस्तार भय से यहां नहीं दिया जा रहा है। आपके सम्बन्ध में विशेष प्ररिचय 'समयसुन्दर कृति-कुमुमाञ्जलि' की भूमिका में और युगप्रधान जिनचन्द्र-सूरि पुस्तक में प्राप्त होगा।

आपने वीर-चरित्र पर एक टीका लिखी। दुर्भाग्यवश अब तक की प्राप्त-प्रतियों में इसकी प्रशस्ति नहीं है। अतः इसका रचनाकाल नहीं बताया जा सकता। आपके लघु अजित शान्ति स्तव वृत्ति की रचना सं० १६६५ में हुई है। टीकाकार के रूप में आपकी शैली सर्वदा शिष्य-हितैषिणी रही है। इसी कारण यह भी प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिये उपादेय वस्तु बन गई है। भाषा सरल और वाक्याडम्बर रहित तथा परिमार्जित है।

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार सूरत की तरफ से ये प्रकाशित हो चुकी हैं।

विमलरत्न

वीर-चरित्र बालावबोधकार विमलरत्न पाठक विमलकीर्ति के शिष्य थे। आपके सम्बन्ध में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। आपके नाम को सुरक्षित रखने वाला केवल यही एक बालावबोध उपलब्ध है। इसकी रचना आपने सं० १८०२ पौष शुक्ला दसमी को साचोर (मारवाड़) में की थी। इसकी एक मात्र ११ पत्र की प्रति श्री मोतीचन्दजी खजांची संग्रह बीकानेर में सुरक्षित है।

यह बालावबोध विवेचन पूर्ण है। इसमें श्रमण महावीर के पूर्व-भवों और तपस्या के सम्बन्ध में लेखक ने अच्छा विवेचन किया है। इसे पढ़कर जरा साहित्यिक आनन्द अवश्य प्राप्त होता है। इसकी भाषा भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा परिमार्जित है।

वाचनाचार्य धर्मतिलक

लघु अजित-शान्ति-स्तव के टीकाकार वाचनाचार्य धर्मतिलक गणि आचार्य जिनपतिसूरि के पट्टधर आचार्य जिनेश्वरसूरि द्वितीय के शिष्य थे। सं० १२६७ चैत्र शुक्ला

१. देखें मेरी लिखित 'महोपाध्याय समयसुन्दर'

१४ को पालनपुर में श्री जिनेश्वरसूरि ने आपको दीक्षा प्रदान की थी। सं० १३२५ ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्थी को सुवर्णगिरि (जालोर) में आचार्य जिनेश्वर ने ही आपको वाचनाचार्य पद से अलंकृत किया था। सम्भव है विद्याध्ययन आपने श्री लक्ष्मीतिलकोपाध्याय आदि के पास में किया हो। एतदरिक्त अन्य कोई ऐतिह्य उल्लेख आपके सम्बन्ध में प्राप्त नहीं है। आपकी रचनाओं में भी केवल यही एक टीका प्राप्त है। इसकी रचना सं० १३२२ फाल्गुन कृष्णा ६ को हुई है। यह रचना आपने मुनि अवस्था में की है और वाचनाचार्य पद आपको १३२५ में मिला है। इसका संशोधन श्री लक्ष्मीतिलकोपाध्याय ने किया है—

तेषां युगप्रवरसूरिजिनेश्वराणां, शिष्यः स धर्मतिलको मुनिरादधाति ।
 ध्याख्यामिमामजितशान्तिजिनस्तवस्य, स्वार्थ-परोपकृतये च कृताभिसन्धिः ॥२॥
 विचक्षणैर्ग्रन्थसुवर्णमुद्रिका, विचित्रविच्छक्तिभि (वृ) ता विनिर्मिता ।
 यदीयनेत्रोत्तमरत्नयोगतः, श्रियं लभन्ते क्षितिमण्डले पराम् ॥३॥
 तैः श्री लक्ष्मीतिलकोपाध्यायैः परोपकृतदक्षैः ।
 विद्वद्भिर्वृत्तिरियं समशोधिततरां प्रयत्नेन ॥४॥ युग्मम्
 नयनकरशिखीन्दु १३२२ विक्रमवर्षे तपस्यसितषष्ठ्याम् ।
 वृत्तिः समर्थिताऽस्या मानं च सविंशतिस्त्रिंशती ॥५॥

यह टीका प्रौढ एवं विद्वद्भोग्या है। इसमें विशेषावश्यक भाष्य जैसे ग्रन्थों के भी उद्धरण हमें प्राप्त होते हैं। इसमें वस्तु का विवेचन प्राञ्जल और प्रौढ भाषा में होते हुए भी सरलता को लिये हुए है जिससे उनका इस भाषा पर आधिपत्य प्रकट होता है।

यह टीका वैराग्यशतकादि पञ्चग्रन्थों में प्रकाशित हो चुकी है।

उपाध्याय गुणविनय

लघुअजितशान्तिस्तव के टीकाकार गुणविनय के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में ऐतिह्य प्रमाणों का अभाव है। युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि द्वारा स्थापित ८ वीं नन्दि 'विनय' होने से आपका दीक्षा काल संभवतः १६२१ या २२ का होगा। आप जिनकुशलसूरि सन्तानीय क्षेम-कीर्ति शाखा के प्रौढ विद्वान् उपाध्याय जयसोम गणि के शिष्य थे। जिस समय सं० १६४८ में युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि सम्राट् अकबर के आग्रह से लाहोर पधारे थे उस समय आप भी उनके साथ में थे। यु० जिनचन्द्रसूरि ने सं० १६४६ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को आपको वाचनाचार्य^१ पद से सुशोभित किया था। सम्राट् जहांगीर ने आपकी असाधारण प्रतिभा से प्रभावित होकर आपको 'कविराज'^२ पद प्रदान किया था।

१. कर्मचन्द्रवंशप्रबन्धवृत्ति ।

२. आपके शिष्य मतिकीर्ति निमित्त नियुक्तिस्थापन प्रश्नोत्तर ग्रन्थ की प्रशस्तिः—

“चम्पू-रघु-मुख्यानां ग्रन्थानां विवरणात्तथा जहांगीरात् ।
 नवनवकवित्वकथने स्यादाप्राप्तं कविराजपदम् ॥५॥

आप प्राकृत, संस्कृत तथा देश्यभाषा के उद्भूत विद्वान् थे । आपकी विशेष ख्याति टीकाकार और जैनाग्रमों के प्रौढ अभ्यासी के रूप में थी । सं० १६७५ वैशाख शुक्ला १३ को सं० रूपजी कारित वृहद् प्रतिष्ठा महोत्सव के समय आ० जिनराजसूरि के साथ शत्रुञ्जय पर आप भी विद्यमान थे । आपका साहित्य-सर्जन काल सं० १६४१ से १६७६ तक का है । सं० १६७६ के पश्चात् आपकी कोई कृति प्राप्त न होने से संभव है १६७६ के आसपास ही आपका स्वर्गवास हो गया हो । आपकी निर्मित कृतियों की तालिका इस प्रकार है:—

(१) सव्वत्थ शब्दार्थ समुच्चय^१ (“सव्वत्थ” शब्द के ११७ अर्थ)

(२) खण्डप्रशस्ति वृत्ति (२० सं० १६४१) मेरे द्वारा संपादित होकर शीघ्र ही राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित होने वाली है । ३. नेमिदूत वृत्ति^२ (सं० १६४४ बीकानेर) । ४. नलचम्पू वृत्ति^३ (२० स. १६४६ सैरुणा) । ५. रघुवंश टीका^४ (सं० १६४६ बीकानेर) । ६. वैराग्य शतक टीका^५ (सं० १६४७) । ७. संबोध सप्तति टीका^६ (सं. १६५१) । ८. कर्मचन्द्र वंश प्रबन्ध टीका (सं. १६५६ तोसामनगर) । ९. लघु शान्तिवृत्ति^७ (१६५६ वेनातट) । १०. इन्द्रिय पराजय शतक वृत्ति,^८ ११. लघु अजितशान्तिवृत्ति, १२. ऋषि-मण्डल अवचूरि^९, १३. दशाश्रुतस्कन्ध टीका^{१०}, १४. शीलोपदेशमाला लघुवृत्ति ।^{११},

भाषा टीकाएं—१५ बृहत्संग्रहणी बालावबोध^{१२}, १६. आदिनाथ स्तव बालावबोध (बापड़ा, ज्ञाननन्दन आग्रह से) । १७. णमुत्थुणं बाला० । १८. जयतिहुअण स्तोत्र बाला०^{१३}, १९. भक्तामर स्तवक, २०. कल्पसूत्र बालावबोध^{१४}, २१. चरण-करण-सत्तरी भेद ।

संग्रहात्मक—२२. हुण्डिका (सं० १७५७ सैरुणा, पद्य सं० १२०००) । २३. प्रश्नोत्तर । रास चौपाई—२४. कयवन्ना संघि^{१५} (१६५४ नेमिजन्म महिमपुर) । २५. कर्मचन्द्र वंशावली रास^{१६} (१६५६ भा० व० १०) । २६. अंजना सुन्दरी रास^{१७} (१६६३ खंभात) । २७. ऋषिदत्ता चौपाई (१६६३ खंभात) । २८. गुणसुन्दरी चौपाई^{१८} (१६६५ नवानगर) । २९. नलदमयन्ती प्रबन्ध (१६६५ नवानगर) । ३०. जम्बूरास (१६७० बाडमेर) । ३१. धन्ना शालिभद्र चौपाई (१६७४ आगरा श्रीमाल मानसिंह आग्रह से) । ३२. अगडदत्त रास ।

१. अनेकार्थरत्न मंजुषा में प्रकाशित
२. मेरे द्वारा सम्पादित होकर सुमति सदन कोटा से प्रकाशित हो चुकी है ।
३. सेठिया लायब्रेरी बीकानेर, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ।
४. बीकानेर भंडार ५. न. हीरा० हं० द्वारा प्रकाशित
६. आत्मानन्द सभा भावनगर द्वारा प्र० । ७. नाहटा संग्रह । ८. मेरे संग्रह में
१०. उल्लेख फुटकर पत्र में, अप्राप्य, ११. आत्मानन्द सभा भावनगर
१२. अपूर्ण प्रति अनंतनाथ ज्ञान भंडार बम्बई, १३. पत्र १३ स्वयं लि० रामचन्द्र भं० बीकानेर;
१४. कई पत्र स्वयं लिखित बन्नीदास संग्रह कलकत्ता ।
१५. बीकानेर भं० । १६. प्रकाशित
- १७-१८ मेरे संग्रह में ।

३३. कलावती चौपाई (१६७३ सांगानेर)। ३४. बारह त्रत रास (१६५५)। ३५. जीवस्वरूप चौ.^१ (१६६४ राजनगर)। ३६. मूलदेव चौपाई^२ (१६७३ जे० सु० ३ सांगानेर)। ३७. दुमुह प्रत्येक बुद्ध चौपाई।^३

खण्डनात्मकः—३८. अंचलमत स्वरूप वर्णन^४ (१६७४ भा० सु० ६ मालपुरा)। ३९. लुम्पकमततमोदिनकर चौपाई^५ (१६७५ सा० व० ६ सांगानेर)। ४०. तपा ५१ बोल चौपाई^६ (१६७६ राडद्रहपुर)। ४१. प्रश्नोत्तर मालिका अपरनाम पार्श्वचन्द्र मत दलन (१६७३ सांगानेर)। ४२. कुमतिमत खण्डन^७ अपरनाम उत्सूत्रोद्घाटन कुलक (१६७५ नवानगर)। इनके अतिरिक्त आपके स्तवन और स्वाध्याय तो अनेक हैं जिनका यहां उल्लेख कर कलेवर बढ़ाना उचित नहीं।

लघु अजित-शान्ति-स्तव टीका की प्रति सन्मुख न होने से इसका भी विवेचन नहीं किया जा सकता।

उपाध्याय देवचन्द्र

अठारहवीं शती के सुप्रसिद्ध कवि, आध्यात्मिक और द्रव्यानुयोगिक उपाध्याय देवचन्द्र गण खरतरगच्छीय उपाध्याय दीपचन्द्र गण के शिष्य थे। आपका जन्म सं० १७४६ में बीकानेर निकटवर्ती ग्राम के निवासी लूणिया गोत्रीय तुलसीदास-धनबाई के यहां हुआ था। परम्परानुसार आपके अभिभावकों ने अपने पुत्ररत्न को बहोरा (भेंट) दिया था। श्री राजसागरजी ने आपको सं० १७५६ में दीक्षित कर आपका राजविमल नाम रखा। परन्तु आपका यह राजविमल नाम प्रसिद्धि को प्राप्त न कर सका, केवल देवचन्द्र नाम ही चलता रहा। सरस्वती की कृपा और गुरु के आशीर्वाद से थोड़े ही समय में आप सब ही शास्त्रों में निष्णात हो गये। सं० १७६६ में, २० वर्ष की अवस्था में आपने ध्यानदीपिका चौपाई नामक ग्रन्थ की पद्यबन्ध रचना कर आध्यात्मिक प्रगति और साहित्यनिष्ठा का जो परिचय दिया है वह स्मरणीय है। यह ध्यानदीपिका दि० शुभचन्द्राचार्य रचित ज्ञानार्णव का राजस्थानी पद्यानुवाद है।

आपका प्रारम्भिक विहार क्षेत्र तो सिन्ध व मरुधर ही रहा, किन्तु आपकी विमल-कीर्ति मरुधर देश तक ही सीमित न रह सकी। आपकी ख्याति से प्रभावित होकर श्री खिमाविजयजी ने गुर्जर देश पधारने का आपको आमन्त्रण दिया। सं० १७७७ में आप पाटण पधारे और जहां श्री ज्ञानविमलसूरि जैसे विद्वान् भी सहस्रकूट चैत्यों के नाम बताने में असफल हो गये थे वहां आपने शास्त्रोक्त नाम बतला कर ज्ञानविमलसूरि के हृदय में भी अपना एक स्थान बना लिया था।

१. पत्र १३ भा० ओ० रि० इ० पूना, २. पत्र ५ मुकनजी संग्रह बीकानेर।
३. आदिपत्र यति रामलालजी सं० बीकानेर। ४. थाहह भं० जैलमेर।
५. जयपुर संघ भंडार। ६. बीकानेर भंडार। ७. प्रकाशित

तपागच्छीय संविग्नपक्षीय प्रसिद्ध विद्वान् जिनविजयजी, उत्तमविजयजी, विवेक-विजयजी^१ आदि ने आपके पास महाभाष्य जैसे महान् ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन किया था।

उस समय ढूँढक (स्थानकवासी) लोग प्रतिमा-अर्चन का जो आत्यन्तिक निषेध कर रहे थे उन्हीं के नेता माषिकलालजी आदि को आपने मूर्तिपूजक बनाया।

भावनगर के महाराजा आपके भक्त थे। अहमदाबाद की शान्तिनाथ पोल में सहस्रफणा बिंब, सहस्रकूट जिनबिंब, शंखजय पर प्रतिष्ठा, लींबड़ी, धांगघ्रा, चूडा इत्यादि अनेक स्थलों पर आपने प्रतिष्ठाएँ करवाईं।

सं० १८१२ में अहमदाबाद में गच्छनायक ने आपको उपाध्याय-पद प्रदान किया और सं० १८१२ भाद्रपद कृष्णा अमावस्या को अहमदाबाद में आपका स्वर्गवास हुआ।

आप एकपक्षीय विद्वान् नहीं थे। जहाँ जिनविजयजी जैसे विद्वान् आपके पास महाभाष्य पढ़ते थे वहाँ आप भव्य-परोपकारार्थं व्याख्यान में गोमट्टसारादि दिगम्बर ग्रन्थों का भी प्रयोग करते थे। ध्यानदीपिका, आममसार, द्रव्य-प्रकाश जैसे उच्च कोटि के ग्रन्थों को भाषा में प्रणयन करते थे तथा ज्ञानसार जैसे ग्रन्थों पर संस्कृत टीका की रचना करते थे। आप बहुश्रुत एवं बहुज्ञ थे। आपने द्रव्य-प्रकाश ब्रजभाषा में बनाया है। आपकी समस्त रचनाओं का संग्रह श्रीमद् देवचन्द्र नाम से दो भागों में अध्यात्मज्ञान प्रसारक मंडल पादरा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। अतः रचित साहित्य के संबंध में यहाँ उल्लेख करना पिष्ट-पेषण मात्र ही होगा।

लघु अजित-शान्तिस्तव की प्रति का अभी तक हमें पता नहीं चल सका है; संभवतः वह अप्राप्य है।

उपाध्याय जयसागर

ओसवाल वंश के दरडागोत्रीय पिता आसूराज और माता सोखू के आप पुत्ररत्न थे। जिनराजसूरि आपके दीक्षा गुरु थे और आपके विद्यागुरु थे जिनवर्धनसूरि। सं० १४७५ में या उसके आस-पास ही आचार्य जिनभद्रसूरि ने आपको उपाध्याय पद से अलंकृत किया था।

आचार्य जिनभद्रसूरि ने जो ग्रन्थोद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारंभ किया था उसमें आपका पूर्ण सहयोग था। आपने भी अपने उपदेशों से बहुत से ग्रन्थ लिखवाये जो जैसलमेर, पाटण आदि के भंडारों में आज भी उपलब्ध हैं।

आप साहित्य के उच्चकोटि के मर्मज्ञ थे। आपने कई मौलिक-ग्रन्थों, टीकाओं एवं स्तोत्रों की रचनाएँ कीं जिसमें से कई तो काल-कवलित हो चुकी हैं और कई शोध के अभाव में अभी तक उपलब्ध नहीं हुई हैं। वर्तमान में जो कुछ साहित्य उपलब्ध है उनमें से पूर्व-रत्नावली, विज्ञप्ति-त्रिवेणी, पृथ्वीचन्द्र चरित्रादि मौलिक, संदेहदोलावली वृत्ति आदि ६ टीका ग्रन्थ, जिनकुशलसूरि छन्द आदि ३३ भाषा-कृतियाँ एवं तीर्थमाला स्तव, स्तोत्र आदि फुटकर

१. जिनविजय निर्वाणरास तथा उत्तमविजय निर्वाणरास देखें।

२५ रचनार्ये उपलब्ध हैं। श्रीवल्लभोपाध्याय ने जयसागरोपाध्याय रचित साधारण जिनस्तुति टीका में लिखा है कि 'जयसागरोपाध्याय ने संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में ५०० लघु स्तोत्रों की रचना की थी और स्तुतियों की भी विपुल परिमाण में रचना की थी।'

आपने अपने जीवन में अनेक तीर्थयात्राएं की थीं, जिनमें से नगरकोट तीर्थयात्रा का वर्णन 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' जैसे आलङ्कारिक ग्रन्थों में पाया जाता है। आपकी शिष्य-परंपरा भी बड़ी थी। आपके संबंध में विशेष ज्ञातव्य के लिये देखें मेरे द्वारा लिखित 'अरजिन स्तव की भूमिका'।

भावारिवारण स्तोत्र वृत्ति का रचना काल ज्ञात नहीं। यह वृत्ति बाला-बबोधहिताय लिखी गई है। सामान्यतया यह वृत्ति सुन्दर है और प्राथमिक अभ्यासियों के लिये तो उपादेय है ही।

यह टीका हीरालाल हंसराज की तरफ से प्रकाशित हो चुकी है।

वाचनाचार्य चारित्रवर्धन

पंच महाकाव्यों के प्रसिद्ध व्याख्याकार वाचनाचार्य चारित्रवर्धन भारतीय वाङ्मय के एक समर्थ प्रतिभाशाली एवं विश्रुत विद्वान् थे। व्याकरण, निरुक्त तथा अलंकार विषयक आपका ज्ञान इतना व्यापक था कि अन्य परवर्ती टीकाकारों को भी आपका 'मत' स्वीकार करना पड़ा। आपकी टीकाओं को देखने से न केवल हमें उनके व्याकरण तथा लक्षणशास्त्र के अगाध ज्ञान का पता चलता है अपितु उनके न्याय, दर्शन, जैन-सिद्धान्त और साहित्य का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि आप सर्वदेशीय विद्वान् थे। यही कारण है कि आप अपनी टीकाओं की प्रशस्ति में अपनी योग्यता का गर्व भरे शब्दों में स्वयं को 'नरवेष सरस्वती' उपनाम स्थापित करते हुए लिखते हैं:—

तच्छिष्य-प्रतिपक्षदुद्धरमहावादीभयञ्चाननो,
नानानाटकहाटकामरगिरिः साहित्यरत्नाकरः ।
न्यायाम्भोजविकाशवासरमणिबौद्धेति जाग्रत्प्रभो,
वेदान्तोपनिषान्निषन्नाघषणोऽलङ्कारचूडामणिः ॥
श्रीधीरशासनसरोरुहवासरेशः, सद्धर्मकर्मकुमुदाकरपूर्णमेन्दुः ।
वाचस्पतिप्रतिमधीनरवेषवाणि-चारित्रवर्धनमुनिविजयी जगत्याम् ।

चारित्रवर्धन गणि खरतरगच्छ की एक प्रमुख शाखा (जो लघु खरतर के नाम से प्रसिद्ध है) के प्रसिद्ध जेनाचार्य मुहम्मद तुगलक प्रतिबोधक, विविधतीर्थकल्प आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों के रचयिता, १४ वीं शती के उद्भट विद्वान् श्रीजिनप्रभूपूरि की परम्परा के चौथे आचार्य श्रीजिनहितसूरि के प्रशिष्य तथा उपाध्याय कल्याणराज के शिष्य थे:—

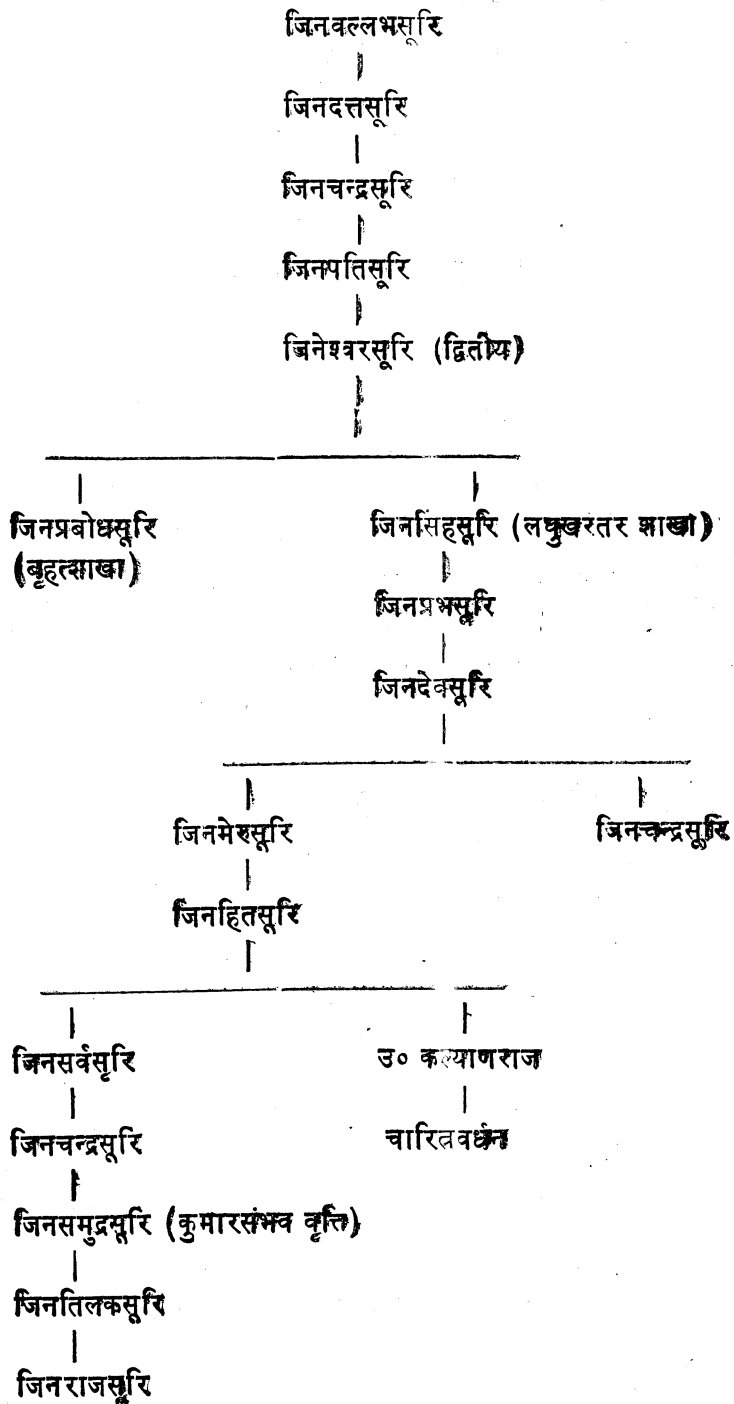
वंशे श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरोः सिद्धान्तशास्त्रस्थवित्,
दर्पिष्ठप्रतिवादि कुञ्जरघटाकण्ठीरवः सूरिराट् ।
नानानव्यसुभव्यकाव्यरचनाकाव्यो विभाख्याऽमल-
प्रज्ञो विज्ञानतो जिनेश्वर इति प्रीठप्रतापोऽभवत् ॥१॥

शिष्यस्तदीयोऽजनि जन्तुजात-हितार्थसम्पादनकल्पवृक्षः ।
 विपक्षवादिद्विपपञ्चवक्त्रः, सूरीश्वरः श्रीजिनसिंहसूरिः ॥२१॥
 तत्पट्टपूर्वाद्द्विसहस्ररश्मि-जिनः प्रभः सूरिपुरन्दरोऽभूत् ।
 वाग्देवताया रसनां तदीयामास्थानपट्टं जगदुर्बुवेन्द्राः ॥३॥
 तदनु जिनदेवसूरिः स्वश्रेमुषी-तजितत्रिदशसूरिः ।
 निरुपमसमरससूरिः सूरिवरः सप्तजनिष्ट जयी ॥४॥
 तदनु जिनमेहसूरिः दूरीकृतपातको निरातङ्कः ।
 सप्तजनि रजनीवल्लभदत्तो मदनोरयोतार्क्षः ॥५॥
 गुरुरगणमणिसिन्धुर्मेव्यलोकैकबन्धु-
 विधुरितकुमतीषः प्रीणितशेषसङ्घः ।
 जिनमतकृतरक्षस्तर्जितारातिपक्षोऽ-
 बनि जिनहितसूरिस्त्वक्तनिश्चेषसूरिः ॥६॥
 जिनसर्बसूरिरभवत्तपट्टेऽवट्टित-प्रबलमोहः ।
 सञ्जनपङ्कजराजीविकः शशास्वान्महीजस्कः ॥७॥
 तस्य जिनचन्द्रसूरिः शिष्यो दक्षः कलावतां पक्षः ।
 कक्षीकृताऽखिलजनोपकारसारः सदाचारः ॥८॥
 सूरिजिनसमुद्रारूढस्तस्य जज्ञे महामतिः ।
 अन्तिषत्सुकृतीसाधुवृन्दान्भोजनभोगिणः ॥९॥
 जिनतिलकसूरिरस्माद् विजयी जीयादशेषगुणकलितः ।
 श्रीवीरनाथशासनसरसीसहभास्करः श्रीमाद् ॥१०॥
 तत्पट्टपूर्वाचिलमीलचन्द्रः, विपक्षवादिद्विपपञ्चवक्त्रः ।
 जीयात् सदाऽसौ जिनराजसौरिः, सत्पक्षमुक्ते जिनधर्मरक्षः ॥११॥
 जिनहितसूरेः^२ शिष्यो, बभूव भूमीशवन्दितांघ्रियुगः ।
 कल्याणाराजनामोपाध्यायस्तीर्णशास्त्राब्धिः ॥१२॥
 तशिष्य.....

—रघुवंशटीका प्रशस्ति

१. यह पद्य नैषध, सिन्दूरप्रकर, कुमारसंभव की प्रशस्तियों में नहीं है। केवल रघुवंशवृत्ति की प्रशस्ति में है।
२. नैषधीय प्रशस्ति में जिनहितसूरेः के स्थान पर जिनसिंहसूरेः पाठ है जो मुरु परम्परा तथा छन्दो मंग दृष्टि से प्रयोग्य है।

इस प्रशस्ति के अनुसार आपका वंशक्रम इस प्रकार है:—



गणि चारित्रवर्धन की पूर्वावस्था का वर्णन तथा दीक्षा-शिक्षा इत्यादि का वर्णन पूर्णतः अनुपलब्ध है। केवल टीकाओं की प्रशस्तियां देखने से यह ज्ञात होता है कि आपका साहित्य-सर्जन काल सं० १४६२ से १५२० तक का है। आचार्य जिनहितसूरि के प्रशिष्य चारित्रवर्धन थे और आचार्य-परम्परा के अनुसार जिनराजसूरि ५वें पट्ट पर आते हैं। इस दृष्टि से चारित्रवर्धन का दीक्षा काल अनुमानतः १४७० स्वीकार किया जा सकता है। चाहे कल्याणराज अतिवृद्ध हों या चारित्रवर्धन; किन्तु यह निःसंदेह है कि इनकी दीक्षा पर्याय बहुत बड़ी रही है। कुमारसम्भव टीका की रचना सं० १४६२ में हुई है। इस टीका का आद्योपान्त भाग अवलोकन करने से यह निश्चित ज्ञात होता है कि यह कृति प्रारम्भिक अवस्था की नहीं अपितु प्रौढावस्था की है। तथा इसमें उल्लिखित स्वयं के लिये वाचना-चार्य पद को ध्यान में रखने से ऐसा अनुमान होता है कि लगभग २०-२२ वर्ष का समय उनकी दीक्षा को हो चुका होगा। इस दृष्टि से दीक्षा समय १४७० के लगभग ही आता है। सं० १४६२ की रचना में जिनतिलकसूरि का उल्लेख होने से सम्भवतः वाचनाचार्य पद आपको इन्होंने प्रदान किया होगा।

कवि की कोई भी मौलिक कृति प्राप्त नहीं है। व्याख्या ग्रन्थ अवश्य प्राप्त हैं जो इनकी कीर्ति को अक्षुण्ण रखने में अवश्य समर्थ हैं।

तालिका इस प्रकार है—

१. रघुवंश शिष्यहितैषिणी वृत्ति^१ अरडक्कमल्ल अभ्यर्थनया
२. कुमारसंभव शिशुहितैषिणी वृत्ति^२ सं० १४६२^३
३. शिशुपालवध वृत्ति^४
४. नैषध वृत्ति सं० १५११^५
५. मेघदूत वृत्ति^६
६. राघवपाण्डचीय वृत्ति

१. मेरे संग्रह में,

२. गुजराती मुद्रणालय बम्बई द्वारा सं० १९५४ में प्रकाशित।

३. वर्षे विक्रमभूपतेर्विरचिता दृगन्दमन्वङ्किते,

माघे मासि सिताष्टमी सुरगुरावेशोऽञ्जलिर्वा बुधाः। (कु. सं. वृ. प्र.)

४. नाहटाजी की सूचना के अनुसार नित्य विनय मणि जीवन जैन लायब्रेरी, कलकत्ता आदि में प्राप्त है।

५. तेनामुख्यविपक्षवादिनकराहंकारविश्वम्भरा—

भूल्लेखप्रभुणा शिवेषुमाशभृत्संख्या कृते वत्सरे।

टीका राघवलक्षमाधवतिथौ शक्रेण चक्रे महा—

काव्यस्यातिगरीयसो मतिमतां श्रीनैषधस्यार्थदाः ॥१४॥

(नैषध-टीका-प्रशस्ति)

६. मेरे संग्रह में व मुद्रित

७. सिन्दूर प्रकर वृत्ति सं० १५०५^१ भीषण अभ्यर्थनया

८. भावारिवारणस्तोत्र वृत्ति^२

९. कल्याणमन्दिर स्तोत्र वृत्ति^३

रघुवंश और नैषधटीका में तो कवि ने अपनी प्रतिभा एवं पाण्डित्य का पूर्ण उपयोग किया है। नैषध की टीका में तो कवि ने अपनी कलम ही तोड़ दी है और उसने उसमें यह प्रयत्न किया है कि अन्य टीकाओं की भी यह 'जननी' पथप्रदर्शिका बन सके।

“यद्यपि बह्व्यस्टीकाः सन्ति मनोज्ञास्तथापि कुत्रापि ।

एषा विशेषजननी भविष्यतीत्यत्र मे यतः ॥

यही कारण है कि गुजराती मुद्रणालय बम्बई से प्रकाशित कुमारसंभव वृत्ति की प्रस्तावना में सम्पादक आपके पाण्डित्य की प्रशंसा करता हुआ लिखता है:—

“चारित्रवर्धनकृता शिशुहितैषिणी टीका.....”, सा च श्लोकाभिप्रायं स्पष्टतया विशदीकरोति पदार्थाश्चाभिर्वक्ति, अतो शिशुहितैषिणी व्युत्पत्सूनाभतीवोपकारिणीति सम्प्रधार्य ।”

सिन्दूरप्रकर जैसे १०० पद्यों के काव्य पर ४६०० श्लोक^४ प्रमाणोपेत टीका की रचना कर गणिजी ने अपनी असाधारण योग्यता का परिचय दिया है। इस टीका में व्याख्याकार ने सुरचिपूर्ण एवं मौलिक दृष्टान्तों की शानों माला ही खड़ी कर दी है।

आपके टीकाओं की प्रशस्तियों को देखने से यह मालूम होता है कि न केवल आप ही नरवेष सरस्वती थे; अपितु आपका भक्त-श्रावक-वृन्द भी नरवेषसरस्वती तो नहीं किन्तु सरस्वत्युपासक अवश्य था और इन्हीं भक्तों की अभ्यर्थना से ही इनने महाकाव्यों पर अपनी लेखनी चलाई। ऊपर सूचित नं० १.३.७ ग्रन्थों में व्याख्याकार ने जो उपासकों का परिचय दिया है वह ऐतिह्य दृष्टि से बहुत ही महत्व रखता है। व्याख्याकार प्रत्येक का परिचय प्रशस्तियों में इस प्रकार देता है:—

१. श्रीमद्विक्रमभूपतेरिषुवियद्बाणोन्दुसंख्यामिते,
वर्षे राघसिताष्टमी गुरुदिने टीकामिमा निर्म्ममे ।

सिन्दूरप्रकरस्य चारुकरुणो निर्मापयामासिवाद्,

दृष्टान्तैः कलितामनाथधिषणश्चारित्रनामामुनिः ॥११॥

(सिन्दूर प्रकर वृत्ति प्रशस्ति)

२. श्रीपुण्यविजयजी संग्रह

३. हीरालाल र. कापड़िया द्वारा उल्लेख

४. अनुष्टुभां सहस्राणि चत्वार्यष्टौ शतानि च ।

ग्रन्थसंख्या मिता यत्र विवृतौ वर्णसंख्यया ॥१३॥

“इत्यखण्डपाण्डित्यमण्डितपाण्डुभूमण्डलाखण्डलस्थापनाचार्यकपूर् रचीरधाराप्रवाह-
प्रभृतिविरदावलीचलितललितोत्कटवदान्यसुभटदेशलहरवंशसरसीरुहविकाशनमार्त्तण्डबिम्ब-
प्रचण्डदोर्दण्डविकटचेचटगोत्राभिदुन्नतसाधुश्रीदेशलसन्तानीय-साधु-श्रीभैरवात्मजसाधु-श्रीसहस्र-
मल्लसमश्रयिता.....”

(शिशुपालवध प्र०)

श्रीमालवंशहंसो, डौडागोत्रे पवित्रगुणपात्रम् ।
समजनि जगलूश्रेष्ठी, विशिष्टकर्मा वरिष्ठयशाः ॥१४॥
मालू श्रेष्ठी तस्य, प्रशस्यमूर्तिर्बभूव तनुजन्मा ।
पुत्रोऽमुष्य स भूधर इत्याख्यो दक्षजनमान्यः ॥१५॥
जगसीधर इति तस्माज्जातः स्मरविग्रहः कलानिलयः ।
तस्यापि लखमसिहस्तनयो विनयी नयाभिज्ञः ॥१६॥
तेजपालस्ततो जज्ञे सुतो मुख्याद्यगोपि च ।
पीप्पडो बाहडो न्यूनधर्मः शर्मनिधिः सुधीः ॥१७॥
धमुख्यमुख्यो दाक्षिण्यभाजनं तनुजो जयी ।
देवसिह इति स्वान्तःवासिताऽर्हत्पदाम्बुजः ॥१८॥
साधुः सालिगनामाऽभूत्तत्पुत्रः स चरित्रभूः ।
एतस्याङ्गसमुद्भूताश्चत्वारोऽपि जयन्त्यमी ॥१९॥
ग्राहूः साधुधियां भूमिर्भैरवो रिपुर्भैरवः ।
ततः सेहुण्डनामा च धर्मधामा मनोरमः ॥२०॥
अरडकमल्लस्तुर्यो, वर्यो धुर्यः सताममात्सर्यः ।
सत्कार्यो धर्मधनो, मनोहरः सकलललनानाम् ॥२१॥
यद्यप्येष कनिष्ठस्तदपि गुणैर्ज्येष्ठ एव विख्यातः ।
कान्तगुणोऽनगुबुद्धिः शुद्धाचारो विचारज्ञः ॥२२॥
तत्त्वाद्गत्वरमन्त्राखिलमुख्यां वस्तुजातमवधार्य ।
यो धर्म एव बुद्धिं विदधाति नितान्तगुरुधिषणः ॥२३॥
एतेनाभ्यथितोऽप्यर्थं.....

[कुमारसंभववृत्ति प्र०]

इसी श्रीमालवंशीय डौडागोत्रीय अरडककमल की अभ्यर्थना से रघुवंश काव्य^१ की व्याख्या का भी प्रणयन किया है ।

श्रीमालवंशसरसीरुहतिग्मभानुः, सडहोरगोत्रकुमुदाकरशीतभानुः ।
धारु इति प्रथितचारुयशोविलासः, श्रीमानभूच्छुभमतिर्यतिपादसेवी ॥१॥

१. इति श्रीमालान्वयसाधुश्रीसालिगतनुजश्रीअरडककमलसमभ्यथित..... ।

वल्लभ-भारती]

[१५६]

तस्याङ्गजोऽजनि जनव्रजनीरजाको, बीजाभिधो विधुत... विपक्षलक्षः ।
कक्षीकृताखिलमहोपकृतिर्कृतज्ञः, सर्वज्ञशासनसरोजमरालमौलिः ॥२॥

तत्पुत्रः कामदेवोऽभूत्, कामदेव-समद्युतिः ।

अर्थिनां कामदः कामं, सामजातगतिः (?) कृती ॥३॥

तस्याङ्गभूः समजनिष्ट विशिष्टकीर्ति-श्रीदिर्वासिह इति सिहसमानशौर्यः ।

वर्यः सतां गुणवतां प्रथमः पृथुश्रीस्तीर्थङ्करक्रमसरोहहचञ्चरीकः ॥४॥

पुत्रस्तदीयोऽजनि वस्तुपालः, गुभाशयोऽद्धन्दुसनाभिभालः ।

जिनेन्द्रपादाचननाकपालः, समस्तवैरिव्रजनाशकालः ॥५॥

अभूतामस्य पुत्रो द्वौ, सच्चरित्रपवित्रितौ ।

ज्येष्ठः सहजपालारूपो, द्वितीयो भीषणः प्रभुः ॥६॥

निर्दूषणो यो निजवंशभूषणं, गुगानुरागेण वशीकृताशयः ।

अनन्यसामान्यवरेण्यतां दधद्धाति निःकेवलमेव धर्मताम् ॥७॥

यः कारुण्यपयोनिधिर्गुणवतां मुमुक्षुः सतामग्रणी—

मर्दिद्वै (?) रिकुलेभकेशरि शिशुनिश्वोपकारक्षमः ।

धर्मज्ञः सुविचक्षणः कविकुलैः संस्तूयमानो वशी,

जीयाज्जैनमताम्बुजैकमधुपः श्रीभीषणः शुद्धधीः ॥८॥

देवगुरुचरणनिरतो विरतो पापात् प्रमादसंत्यक्तः ।

सोऽयं भीषणनामा कामतनुर्भाति धर्ममतिः । ९ ।

सोऽहमस्यथितोऽत्यर्थं टीकां ठक्कुरभीषणैः ।

सिन्दूरप्रकरस्यास्याकार्षं चारित्रवर्द्धनः ॥९॥

[सिन्दूरप्रकर वृत्ति-प्रशस्तिः]

उपासकों के लिये रघुवंश, कुमारसंभव तथा शिशुपालवध इत्यादि महाकाव्यों पर प्रौढ एवं परिष्कृत शैली में व्याख्या करना उपासकों की योग्यता और बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन करता है ।

देशलहर सन्तानीय चेचटगोत्रीय भैरवसुत सहस्रमल्ल, श्रीमालवंशीय डौडागोत्रीय सालिग सुत अरडक्कमल तथा श्रीमालवंशीय दोरगोत्रीय ठक्कुर भीषण प्रायः करके विहार और उत्तर प्रदेश के ही निवासी थे और संभवतः यह निश्चित है कि लघु खरतर शाखा का फैलाव भी इसी प्रदेश में था । आगे भी हम देखते हैं कि १७ वीं शती के अन्तिम चरण में जब इस लघु शाखा परम्परा का ह्रास हो जाता है, तो बृहत्शाखीय जिनराजसूरि के शिष्य जिनरंगसूरि को इस शाखा के अनुयायी स्वीकार लेते हैं जो आज भी इसी रूप में अवस्थित हैं । अतः चारित्रवर्द्धन का विहार-भ्रमण-प्रदेश भी यही प्रदेश रहा है । केवल २,४,७ नं० की कृतियों में संवत् का उल्लेख प्राप्त है, अन्यो में नहीं । नैषधटीका की रचना स० १५११ में हुई है । यदि इस रचना को अन्तिम मान लें तो अनुमानतः स० १५२० तक आप विद्यमान रहे होंगे ।

प्रस्तुत भावारिवारण स्तोत्र टीका की भाषा, शैली तथा विशिष्टता देखते हुए यह निश्चिततया कह सकते हैं कि यह प्रारंभिक कृति होने पर भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से उत्तम और पठनीय है ।

न केवल गणि चारित्रवर्धन ही देवी पद्मावती के उपासक थे अपितु जैनप्रभिय सारी परम्परा ही पद्मावती को इष्ट मान कर उपासना करती रही है । यही कारण है कि नैषधीय व्याख्या के प्रारंभ में ही चारित्रवर्धन लिखते हैं:—

पद्मावती भगवती जगती नमस्या भूयाद्भूयान्तिशमिनी जगतो वयस्या ।
नागाधिराजरमणी रमणीयहास्या, देवैर्नुता मम विकाशिसरोरुहास्या ॥२॥

उपाध्याय मेरुसुन्दर

युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि की परम्परा में वाचनाचार्य शीलचन्द्र गणि के प्रशिष्य, वाचक रत्नमूर्ति गणि के आप शिष्य थे । आपका सत्ताकाल सोलहवीं शती का पूर्वार्ध है । आप के सम्बन्ध में विशेष ज्ञात नहीं है किन्तु आप के साहित्य को देख कर यह तो निश्चित हो ही जाता है कि लोकभाषा को लक्ष्य में रख कर आपने जो अनुपम साहित्य सेवा की है वह भाषा-साहित्य की दृष्टि से सर्वदा चिर-स्मरणीय रहेगी । वाग्भटालंकार और विदग्धमुख-मंडन जैसे आलंकारिक ग्रन्थों को भाषा के बालावबोध रूप देने में जिस दक्षता का परिचय दिया है वह स्तुत्य है । आप की प्रणीत निम्न-कृतियां उपलब्ध हैं:—

१. शीलोपदेशमाला बालावबोध (सं० १५२५ मांडवगढ में श्रीमाल धनराज की अभ्यर्थना से रचित)
२. पुष्पमाला बालावबोध (सं० १५२८ पूर्व)
३. षड्वावश्यक बालावबोध (सं० १५२५ वै. सु. ५ मांडवगढ संघ की अभ्यर्थना से)
४. कर्पूर प्रकर बालावबोध (सं० १५३४ से पूर्व)
५. योगशास्त्र बालावबोध
६. पंचनिग्रन्थी बालावबोध
७. अजितशांति बालावबोध
८. शत्रुञ्जय स्तवन बालावबोध (सं० १५१८)
९. भावारिवारण स्तोत्र बालावबोध
१०. वृत्तरत्नाकर बालावबोध
११. संबोधसत्तरी बालावबोध
१२. श्रावक प्रतिक्रमण बालावबोध
१३. कल्पप्रकरण बालावबोध
१४. योगप्रकाश बालावबोध
१५. अंजनासुन्दरी कथा
१६. प्रश्नोत्तर ग्रन्थ
१७. भावारिवारण वृत्ति

१८. षष्टिशतक बालावबोध
१९. वाग्भटालंकार बालावबोध,
२०. विदग्धमुखमण्डन बालावबोध

भावारिवारण स्तोत्र पर वृत्ति और बालावबोध दोनों की आपने रचना की है। किस संवत् में इन की रचनायें हुई हैं यह ज्ञात नहीं है। भावारिवारण की वृत्ति और बालावबोध दोनों ही सुविस्तृत और सुन्दर हैं। इसकी प्रतियां भांडरकर और एन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना आदि में सुरक्षित है।

विशेष अध्ययन के लिये देखें, डा० भोशीलाल ज० सांडेसरा लिखित 'षष्टिशतक प्रकरण त्रय बालावबोध' की भूमिका।

क्षेमसुन्दर

भावारिवारण स्तोत्र के टीकाकार क्षेमसुन्दर के सम्बन्ध में हमें किञ्चित् भी उल्लेख प्राप्त नहीं है। किन्तु आप खरतरगच्छीय पिप्पलक शाखा के प्रवर्तक आचार्य जिनवर्धनसूरि के शिष्य थे। अतः आपका सत्ताकाल १५ वीं शती का अन्तिम भाग और १६ वीं शती का पूर्वार्ध है।

इस टीका की रचना आपने कब और कहां पर की? इसका प्रशस्ति में कोई उल्लेख नहीं। टीका सामान्यतया सुन्दर है। इसमें प्रायः पर्यायों पर ही विशेष बल दिया गया है। इसकी प्रति जयचन्द्रजी भंडार व मुनिराज श्री पुण्यविजयजी के संग्रह में है।

उपाध्याय पद्मराज

आचार्य जिनवल्लभ-प्रणीत ग्रन्थों और स्तोत्रों पर टिप्पण, चूर्ण, वृत्ति, अवचूरि, दीपिका, पञ्जिका, बालावबोध, स्तवक आदि अनेक विवरण प्राप्त हैं। किन्तु स्तोत्रों पर स्वतन्त्र पादपूर्त्यात्मक रचनाओं में केवल एक कृति को छोड़ अन्य कोई प्राप्त नहीं है। यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि वृत्ति इत्यादि की रचना करना सहज है किन्तु पादपूर्त्यात्मक रचनायें करने के लिये साहित्य-शास्त्र, लक्षण-शास्त्र, छन्द-शास्त्र पर पूर्ण अधिकार होने के साथ-साथ एक विशेष प्रकार की प्रतिभा भी आवश्यक है। यही कारण है कि इस प्रकार की रचनायें वल्लभीय-साहित्य में ही नहीं अपितु संस्कृत-साहित्य में भी अल्प परिमाण में ही प्राप्त होती हैं।

इसी प्रकार की पादपूर्त्यात्मक रचना जिनवल्लभ प्रणीत समसंस्कृत-प्राकृत भाषा में महावीर-स्तोत्र प्रसिद्ध नाम भावारिवारण स्तोत्र पर है। इस कृति के कर्ता हैं उपाध्याय पद्मराज गणि।

वाचक पद्मराज खरतरगच्छीय श्रीजिनहंससूरि के प्रशिष्य, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति इत्यादि ग्रन्थों के टीकाकार महोपाध्याय श्रीपुण्यसागर के शिष्य थे। 'राज' नन्दी को देखते हुए युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि के कर-कमलों से सं० १६२३ के लगभग आपकी दीक्षा हुई होगी। प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक वृत्ति की प्रशस्ति देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि सं० १६४० के पूर्व

ही आप गणि पद से अलंकृत हो चुके होंगे। भावारिवारण पादपूर्ति महावीरस्तोत्र की सं० १६५६ में रचित स्वोपज्ञ वृत्ति प्रशस्ति में 'उपाध्याय' पद का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि तत्पूर्व ही आप इस पद को युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि से प्राप्त कर चुके थे।

आप प्रतिभाशाली विद्वान् थे। आपकी प्रतिभा की प्रशंसा आपके गुरु महोपाध्याय पुण्यसागरजी भी प्रश्नोत्तरैषष्टिशत वृत्ति^२ और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वृत्ति आदि में करते हैं। प्रशस्तियों के अनुसार ये दोनों ही कृतियाँ आपके सहयोग से पूर्ण हुई थीं। आपकी स्वतंत्र और मौलिक रचनाओं में तो भावारिवारण पादपूर्ति महावीर स्तोत्र और महायमकमय^३ पार्श्वनाथ स्तोत्र ही है और टीकाओं में भुवनहिताचार्य^४ तथा जिनेश्वराचार्य रचित दण्डक-स्तुति मुख्य हैं और भाषा-साहित्य में उवसग्गहर बालवबोध, अभयकुमार चौपाई एवं स्तवन, स्वाध्याय आदि ३० कृतियाँ प्राप्त हैं।

इस स्तोत्र में कवि-निबद्ध श्लोक का अन्तिम चरण ही लेकर पादपूर्ति की गई है, इसी कारण से इस स्तोत्र के भी ३० ही पद्य हैं। सभी पद्यों में अलंकारों एवं गुणों का प्राचुर्य है। उदाहरण के लिये देखिये:—

गम्भीरिमालयमहापरिमाणमङ्ग-
सम्बद्धभङ्गलहरीबहुभङ्गिचङ्गम् ।
नीरालयं नयमणी कुलसङ्कलं वा,
देवागमं तव नरा विरला महन्ति ॥११॥

इस स्तोत्र पर स्वयं आपकी ही लिखित वृत्ति प्राप्त है। इसकी रचना सं० १६५६ आश्विन कृष्ण १० को जैसलमेर में हुई है:—

खरतरगणे नवाङ्गी-वृत्तिकृतामभयदेवसुरीणाम् ।
वंशे क्रमादभूवत् श्रीमज्जिनहंससुरीन्द्राः ॥१॥
तेषां शिष्यवरिष्ठाः समग्रसमयार्थनिष्ककषपट्टाः ।
श्रीपुण्यसागरमहोपाध्यायाः जज्ञिरे विज्ञाः ॥२॥
तेषां शिष्यो विवृति वाचकवर-पद्मराज-गणिरकरोत् ।
भावारिवारणान्तिमचरणनिबद्धस्तवस्यैताम् ॥३॥
ग्रहकरणदर्शनेन्दुप्रमितेन्दे चाश्विनासितदक्षम्याम् ।
श्रीजैसलमेरुपुरे श्रीमज्जिनचन्द्रगुरुराज्ये ॥४॥

टीका सामान्यतया सुन्दर तथा समृद्ध है। इसकी एक मात्र प्रति मेरे संग्रह में है और इसका प्रकाशन सुमति-सदन कोटा, द्वारा 'भावारिवारण-पादपूर्त्यादिस्तोत्र संग्रह' नाम से हो चुका है।

१. तेषां शिष्यो विवृति वाचकवर-पद्मराज-गणिरकरोत् ।

२. पद्मराजगणि-सत्सहायतायोगतः सपदि सिद्धिमवाप्ता ।

वृत्तिकल्पलतिका सतामियं पूरयन्त्वभिमतार्थसन्वतिम् ॥६॥

[प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत वृत्ति प्र०]

३.४. भावारिवारण पादपूर्त्यादिस्तोत्र संग्रह में प्रकाशित ।

रूपसंहार

रससिद्धकवीश्वर गीतार्थप्रवर प्रबल क्रान्तिकारी आचार्यश्रेष्ठ श्री जिनवल्लभसूरि के कृतित्व की प्रशंसा करते हुए जहां दादा जिनदत्तसूरि इन्हें महाकवि कालीदास, माघ, वाक्पतिराज से भी अधिक उच्चकोटि का महाकवि और सुविहित चारित्र-चूडामणि युगप्रवर मानते हैं, वहीं जिनपालोपाध्याय के वचनों में सुविद्यावनिताप्रिय जिनवल्लभ की कीर्तिहंसी आज भी प्रसन्न चित्त से गुणिजनों के मानस में रमण कर रही है। ऐसे आगमज्ञ जिनवल्लभ के व्यक्तित्व और कृतित्व पर मेरे जैसे अज्ञ का समीक्षात्मक अध्ययन लिखना 'पंगु गिरि लंघे' के समान ही है फिर भी प्रयत्न कर जो कुछ मैंने लिखा है वह आचार्य जिनवल्लभ की कृपा और आशीर्वाद का ही सुफल है। अतः षडशीति के टीकाकार श्री यशोभद्रसूरि के शब्दों को उद्धृत करता हुआ मैं आचार्य जिनवल्लभ के चरणों में श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ।

कवासौ श्रीजिनवल्लभस्य रचना सूक्ष्मार्थचर्चाञ्चिता,
कवेयं मे मतिरभिमाप्रणयिनी मुग्धत्व पृथ्वीभुजः ।
पङ्गोस्तुङ्गमगाधिरोहणसुहृद्यत्नोयमार्यास्ततो-
ऽसद्ध्यानव्यसनारणवे निपततः स्वान्तस्य पोतोपितः ।



परिशिष्ट : १.

युगप्रधान जिनदत्तसूरि रचित

जिनवल्लभसूरि-गुणवर्णन

सूरिपयं दिनमसोगचन्दसूरीहि चत्तभूरिहि ।
तेसि पयं मह पहुणो दिनं जिणवल्लहस्स पुणो ॥८४॥

जिनवल्लभसूरिः—

अत्थगिरिमुवगएसु जिण-जुगपवरागमेसु कालवसा ।
सूरम्मि व दिट्ठहरेण विलसियं मोहसंतमसा ॥८५॥
संसारचारगाओ निव्विन्नेहि पि भव्वजीवेहि ।
इच्छंतेहि वि मुक्खं दीसइ मुक्खारिहो न पहो ॥८६॥
फुरियं नक्खत्तेहि महागहेहि तओ समुल्लसियं ।
बुड्ढी रयणियरेणावि पाविया पत्तपसरेण ॥८७॥
पासत्थकोसियकुलं पयडीहोउण हंतुमारद्धं ।
काए काए य विघाए भावि भयं जं न तं गणइ ॥८८॥
जग्गति जणा थोवा सपरेसि निव्वुइं समिच्छंता ।
परमत्थरक्खणात्थं सद्दं सद्दस्स मेलंता ॥८९॥
नाणा सत्थाणि धरति ते उ जेहि विथारिऊण परं ।
मुसणात्थमागयं परिहरंति निज्जोवमिह काउं ॥९०॥
अविणासियजीवं ते धरंति धम्मं सुवंसनिप्फन्नं ।
मुक्खस्स कारणं भयनिवारणं पत्तनिव्वाणं ॥९१॥
धरियकिवाणा केई सपरे रक्खंति सुगुरुफरयजुया ।
पासत्थचोरविसरो विथारभीओ न ते मुसई ॥९२॥
मग्गुम्मग्गा नज्जंति नेय विरलो जणो त्थि मग्गन्तू ।
थोवा तदुत्तमग्गे लग्गति न बीससंति घणा ॥९३॥
अन्ने अन्नत्थीहि सम्मं सिवपहमपिच्छिरेहि पि ।
सत्था सिवत्थिणो चालिया वि पडिया भवारणो ॥९४॥
परमत्थसत्थरहिएसु भव्वसत्थेसु मोहनिहाए ।
सुत्तेसु मुसिज्जंतेसु पोडपासत्थचोरेहि ॥९५॥
असमंजसमेयारिसमवलोइय जेण जायकरुणेण ।
एसा जिणाणमाणा सुमरिया सायरं तइया ॥९६॥
सुहसीलतेणगहिण भवपल्लितेण जगडियमणाहे ।
ओ कुणइ कु वि यत्तं सो वणं कुणई संवस्स ॥९७॥

तित्थयररायाणो आयरिया रक्खयव्व तेहि कया ।
 पासत्थपमुहचोरोवरुद्धणभव्वसत्थाणं ॥६८॥
 सिद्धपुरपत्थियाणं रक्खट्ठाऽऽयरियव्वयणउ सेसा ।
 अहिसेयवायणायरिय-साहुणो रक्खणा तेसि ॥६९॥
 ता तित्थयराणाए मए वि ते हुंति रक्खणिज्जाओ ।

वीरवृत्तिः—

इय मुणिय वीरवृत्ति पडिवज्जिय सुगुरुसन्नाहं ॥१००॥
 करिय खमाफलयं धरिउमक्खयं कयदुरुत्तररक्खं ।
 तिहुयणसिद्धं तं जं सिद्धंतमसि समुक्खिविय ॥१०१॥
 निव्वाणाठाणमणहं सगुणं सद्धम्ममविसमं विहिणा ।
 परलोयसाहगं मुखकारणं धरिय विप्फुरियं ॥१०२॥
 जेण तओ पासत्थाइतेणसेणा वि हक्किया सम्मं ।
 सत्थेहि महत्थेहि वियारिऊणं च परिचत्ता ॥१०३॥
 आसन्नसिद्धिया भवसत्थिया सिवपहम्मि संठविया ।
 निव्वुइमुविति तह जे पडंति ना भीमभवरण्णे ॥१०४॥
 मुद्धाऽऽणाययणगया चुक्का मग्गाउ जायसदेहा ।
 बहुजणपुट्ठविलग्गा दुहियो ह्था समाहूया ॥१०५॥

आयतनम्:—

दंसियमाययणं तेसि जत्थ विहिणा समं हवइ मेलो ।
 गुरुपारतंतओ समयसुत्तओ जस्स निप्फत्ती ॥१०६॥

आयतनविधि —

दोसई य वीयरओ तिलोयनाहो विरायसहिएहि ।
 सेविज्जंतो संतो हरइ हु संसारसंतावं ॥१०७॥
 वाइयमुवगीयं नट्टमवि सुयं दिट्ठमिट्ठमुत्तिकरं ।
 कीरइ सुसावएहि सपरहियं अमुचियं जत्थ ॥१०८॥
 रागोरगो वि नासइ सोउं सुगुरुवएसमंतपए ।
 भव्वमणो सालूरं नासइ दोसो वि जन्थाही ॥१०९॥
 नो जत्थुस्सुत्तजणकमु त्थि प्हाणं बली पइट्ठा य ।
 जइ-जुवइपवेसो वि य न विज्जइ विज्जइविमुक्को ॥११०॥
 जिणजत्ता-प्हाणाइ दोसाणं जं खयाइ कीरंति ।
 दोसोदयम्मि कह तेसि संभवो भवहरो होज्जा ॥१११॥
 जा रत्ती जारत्थीणमिह रइ जणइ जिणवरगिहे वि ।
 सा रयणी रयणियरस्स हेऊ कह नीरयाण मया ॥११२॥
 साहू सयणासण-भोयणाइआसायणं च कुणमाणो ।
 देवह रएण लिप्पइ देवहरे जमिह निवसंतो ॥११३॥

तंबोली तं बोलइ जिणवसहिट्टिणण सो खद्धो ।
 खुद्धे भवदुक्खजले तरइ विणण नेय सुगुरुतरि ॥११४॥
 तेसि सुविहियजइणो य दंसिया जेउ हुंति आययणं ।
 सुगुरुजणपारतंतेण पाविया जेहि नाणसिरी ॥११५॥
 संदेहकारितिमिरेण तरलियं जेसि दंसणं नेयं ।
 निव्वुइपहं पलोयइ गुरु-विज्जुवएसओ सहओ ॥११६॥
 निप्पच्चवायचरणा कज्जं साहंति जे उ मुत्तिकरं ।
 मन्नंति कयं तं जं कयंतसिद्धं तु सपरहियं ॥११७॥
 पडिसोएण पयट्टा चत्ता अणुसोअगामिणी वत्ता ।
 जणजत्ताए मुक्का मय-मच्छर-मोहओ चुक्का ॥११८॥
 सिद्धं सिद्धंतकहं कहति बीहंति नो परेहितो ।
 वयणं वयति जत्तो निव्वुइवयणं धुवं होइ ॥११९॥
 तव्विवरीआ अन्ने जइवेसधरा वि हुंति न हु पुज्जा ।
 तद्दंसणमवि मिच्छत्तमणुखणं जणइ जीवाणं ॥१२०॥
 धम्मत्थीणं जेण विवियरयणं विसेसओ ठवियं ।
 चित्तउडे चित्तउडे ठियाण जं जणइ निव्वाणं ॥१२१॥
 असाहएणावि विही य साहिओ जो न सेससूरीणं ।
 लोयणपहे वि वच्चइ वुच्चइ पुण जिणमयन्नूहि ॥१२२॥

धवलोपमा—

घणजणपवाहसरियाणुओअपरिवत्तसंकडे पडिओ ।
 पडिसोएणाणीओ धवलेण व सुद्धधम्मभरो ॥१२३॥

मेघोपमा—

कयबहुविज्जुज्जोओ विसुद्धलद्धोदओ सुमेहु व्व ।
 सुगुरुच्छाइयदोसायरपहो पहयसंतावो ॥१२४॥
 सव्वत्थ वि वित्थरिअ वुट्ठो कयसस्ससंपओ सम्मं ।
 नेव वाअहओ न चलो न गज्जिओ जो जए पयडो ॥१२५॥

जलघ्युपमा—

कहमुवमिज्जइ जलही तेण समं जो जडाण कयबुड्डी ।
 तियसेहिं पि परेहिं सुयइ सिरि पि हु महिज्जंतो ॥१२६॥

सूर्योपमा—

सूरेंण व जेण समुग्गएण संहरिय मोहतिमिरण ।
 सहिट्ठीणं सम्मं पयडो निव्वुइपहो हूओ ॥१२७॥
 वित्थरियममलपत्तं कमलं बहुकुमयकोसिया दूसिया ।
 तेयस्सीण वि तेओ विगओ विलयं गया दोसा ॥१२८॥
 विमलगुणचक्कवाया वि सव्वहा विहडिया वि संघडिया ।
 अमिरेहिं अमरेहिं पि पाविओ सुमणसंजोगो ॥१२९॥

भवजरोण जगियमवगियं दुट्ठसावयगरोण ।
जडुमवि खंडियं मंडियं य महिमंडलं सयलं ॥१३०॥

चन्द्रोपमा—

अथमई सकलंको सया संसको वि दंसियपओसो ।
दोसोदए पत्तपहो तेण समो सो कहं हुज्जा ॥१३१॥

विष्णुपमा—

संजणियविही संपत्तगुरुसिरी जो सया विसेसपयं ।
विणहुव्व किवाणकरो सुरपणओ धम्मचक्कघरो ॥१३२॥

ब्रह्मोपमा—

दंसियवयणविसेसो परमप्पाणं य मुणइ जो सम्मं ।
पयडविवेओ छच्चरणसम्मओ चउमुहु व्व जए ॥१३३॥

शम्भूपमा—

घरइ न कवड्डयं पि हु कुणइ न बंधं जडाण कया वि ।
दोसायरं च चक्कं सिरम्मि न चडावए कह वि ॥१३४॥
संहरइ न जो सत्ते गोरीए अप्पए न नियमंगं ।
सो कह तविवरीएण संभुणा सह लहिज्जुवमं ॥१३५॥

विद्या—

साइसएसु सगं गएसु जुगपवरसूरिनियरेसु ।
सव्वाओ विज्जाओ भुवणं भमिऊण स्संताओ ॥१३६॥
तह वि न पत्तं जुगवं जव्वयणपंकए वासं ।
करिय परुप्परमच्चंतं पणयओ हूँति सुहियाओ ॥१३७॥
अनुन्नविरहविहुरोहतत्तगत्ताओ तणुईओ ।
जायाओ पुण्णवसा वासपयं पि जो पत्तो ॥१३८॥
तं लहिय वियसियाओ ताओ तव्वयणसररुहगयाओ ।
तुट्ठाओ पुट्ठाओ समगं जायाओ जिट्ठाओ ॥१३९॥

अनुपमेयत्वम्—

जाया कइणो के के न सुमइणो परमिहोवमं ते वि ।
पावति न जेण समं समंतओ सव्वकव्वेण ॥१४०॥
उवमिज्जंते संतो संतोसमुविति जम्मि नो सम्मं ।
असमाणुणो जो होइ कह णु सो पावए उवमं ॥१४१॥
जलहिजलमंजलीहिं जो मीणइ नहंगणं पि पएहिं ।
परिसक्कइ सो वि न सक्कइ जग्गुणगणं भणिएउं ॥१४२॥
जुगपवरगुरुजिणोसरसीसाणं अभयदेवसूरीणं ।
तित्थभरधरणधवलाराणंतिए जिणमयं विमयं ॥१४३॥
सविणयमिह जेण सुयं सप्पणयं तेहि जस्स परिकहियं ।
कहियाणु सारओ सव्वमुवगयं सुमइणा सम्मं ॥१४४॥

निच्छम्भं भव्वाणं तं पुराओ पयडियं पयत्तेण ।
 अकयसुकयंगिदुल्लह जिणवल्लहसूरिणा जेण ॥१४५॥
 सो मह सुहविहिसद्धम्मदाअगो तित्थनायगो य बुरू ।
 तप्पयपउमं पाविअ जाओ जायासुजाओ हं ॥१४६॥
 तमगुदिरणं दिन्नगुणं वंदे जिणवल्लहं पहुँ पअओ ।

—गणधरसाई शतक पा० ८५-१४७

अयसाअयसंतासो हरिअ सारंगभग्गसंदेहो ।
 गयसमअदप्पदलणो आसाइयपवरकअवरसो ॥१५॥
 भीमभवकाअणाम्मी दंसियगुरुवयणरयणसंदेहो ।
 नीत्तेससत्तगरुओ सूरी जिणवल्लहो जअइ ॥१६॥
 उवरिट्ठिअसच्चरणो अउरसुओगप्पहाअ सच्चरणो ।
 असममअरायमहणो उड्ढमुहो सहइ जस्स करो ॥१७॥
 दंसियनिम्मलनिच्चलदंतगुणोऽगरिणयसावउत्थअओ ।
 गुरुगिरिगरुओ सरहु अ व सूरी जिणवल्लहो होत्था ॥१८॥
 जुगपवरागमपीउसपाणपीणिअमणा कया भव्वा ।
 जेण जिणवल्लहेअं गुरुणा तं सब्बहा वंदे ॥१९॥

—सुगुरुपारतन्त्र्य स्तोत्र पा० १५-१९

नमिअि जिणोसरधम्मह तिहुयणसामियह,
 पायकमलु ससिनिम्मलु सिअगयगामियह ।
 अरिअि जहट्ठियगुणअुइ सिरि जिणवल्लहह,
 जुगपवरागमसूरिहि गुणिगणादुल्लहह ॥१॥
 ओ अअमाणु पमाणइ छइरिसण तणइ,
 आणइ जिअ नियनामु न तिसण जिअ कुअि अणइ ।
 अरपरिवाइगइंदवियारणअंचमुहु,
 तसु गुणवअणु करण कु सक्कइ इक्कमुहु ? ॥२॥
 जो अयअणु वियाणइ सुहलअखणनिलउ,
 सइ असइ वियाणइ सुवियअखणतिलउ ।
 सुअंदिण वक्खाणइ अंइ जु सुअइमउ,
 गुरु लहु लहि पइठावइ नरहिउ विअयमउ ॥३॥
 केअु अउअु जु अियइ नवरसअरसहिउ,
 लअपसिअिहि सुकइहि सायरु जो महिउ ।
 सुकइ माहु ति पसंसहि जे तसु सुहगुरुहु,
 साहु न मुणहि अयाणुअ अइअियसुरगुरुहु ॥४॥
 कालियासु कइ आसि जु लोइहि अअियइ,
 ताअ जाव जिणवल्लह कइ नाअअियइ ।
 अप्पु अित्तु परियाणहि तं पि विसुअ न य,

ते वि चित्तकइराय भगिज्जहि मुद्धनय ॥१॥
 सुकइविसेसियवयणु जु वप्पइराउकइ,
 सु वि जिणवल्लह पुरउ न पावइ कित्ति कइ ।
 अवरि अरोयविरोयहि सुकइ पसंसियहि,
 तवकव्वामयलुद्धिहि निच्चु नमंसियहि ॥२॥
 जिण कय नाणा चित्तइ चित्तु हरंति लहु,
 तसु दंसणु विणु पुत्तिहि कउ लब्भइ दुलहु ।
 सारइ बहु थुइ-थुत्तइ चित्तइ जेण कय;
 तसु पयकमलु जि पणमहि ते जण कयसुकय ॥३॥
 जो सिद्धं तु वियाणइ जिणवयणुअभविउ,
 तसु नामु वि सुणि तूमइ होइ जु इहु भविउ ।
 पारतंतु जिणि पयडिउ विहि विसइहि कलिउ,
 सहि ! जसु जसु पसरंतु न केणइ पडिखलिउ ॥४॥

× × × × × ×

इय निष्पुअह दुल्लह सिरिजिणवल्लहिण,
 तिविद्ध निवेइउ चेइउ सिवसिरिवल्लहिण ।
 उस्सुत्तइ वारंतिण सुत्तु कहंतइण,
 इह नवं व जिणसासणु दंसिउ सुम्मइण ॥५॥
 इक्कवयणु जिणवल्लह पहु वयणइ घणइ,
 कि व जंपिवि जणु सक्कइ सक्कु वि जइ मुणइ ।
 तसु पयभत्तह सत्तह सत्तह भवभयह
 होइ अंतु सुनिरुत्तउ तव्वयणुअजयह ॥६॥
 इक्ककालु जसु विज्ज असेस वि वयणि ठिय,
 मिच्छदिट्ठि वि वंदहि किंकरभावट्टिय ।
 ठाणि ठाणि विहिपक्खु वि जिण अप्पडिखलिउ,
 कुडु पयडिउ निक्कवडिण पर अप्पउ कलिउ ॥७॥
 तसु पयपंकयउ पुत्तिहि पाविउ जण-भमरु,
 सुद्धनाण-महुपाणु करतंतु हुइ अमरु ।
 सत्थु हुंतु सो जाणइ सत्थ पसत्थ सहि,
 कहि अणुवमु उवमिज्जइ केण समाणु सहि ॥८॥
 बद्धमाणसूरिसीसु जिणोसरसूरिवरु,
 तामु सीसु जिणच्चंजईसरु जुगपवरु ।
 अभयदेउमुणिनाहु नवंगह वित्तिकरु,
 तसु पयपंकय-भसलु सलक्खणुचरणकरु ॥९॥
 सिरिजिणवल्लह दुल्लह निष्पुअहं जणहं,

हउं न अंतु परियाणउं अहु जण तग्गुणह ।
 सुद्धधम्मि हउं ठाविउ जुगपवरागमिण,
 एउ वि मइ परियाणिउ तग्गुणसंकमिण ॥४५॥
 भमिउ भूरिभवसायरि तह वि न पत्तु मइ,
 सुगुरुरयणु जिणवल्लह दुल्लह सुद्धमइ ।
 पाविय तेण न निव्वुइ इह पारत्तियइ,
 परिभव पत्त बहुत्त न हुय पारत्तियइ ॥४६॥
 इय जुगपवरह सूरिहि सिरिजिणवल्लहह,
 नायसमयपरमत्थह बहुजणदुल्लहह ।
 तसु गुणयुइ बहुमाणिण सिरिजिणवत्तगुह,
 करइ सु निरुवमु पावइ पउ जिणदत्तगुह ॥४७॥

—सचंरी पद्य १-८; ४०-४७,

सिरिजिणवल्लहसूरीहि विरइयं जमिह तं वंदे ॥२२॥
 कलिकालकुमुइणीवणसंकोयणकारि सूरकिरणव्व ।
 इह सुत्तासुत्तपया व भासणुल्लासिणो जेसि ॥२३॥
 ठाणट्ठाणद्वियमग्गनासि संदेहमोहतिमिरहरा ।
 कुरगहिवग्गकोसियकुलकवलियलोयणा लोया ॥२४॥
 तेहि पभासियं जं तं विहडइ नेय घडइ जुत्तीए ।
 वंदे सुत्तं सुत्ताणुसारि संसारिभयहरणं ॥२५॥
 गुरुगयणयलपसाहण पत्तपहो पयडिया समदि सोहो ।
 ह्यसिबपहसंदेहो कयभव्वम्भोरुहविबोहो ॥२६॥
 सूरुव्व सूरिजिणवल्लहो य जाउ जए जुगपवरो ।

—श्रुतस्तव गाय २२-२७

नैमिचन्द्र भण्डारी विरचित

जिनवल्लभसूरि गुरुगुणवर्णन

परामवि सामिय वीरजिण, गणहर गोयम सामि ।
 सुघर्मसामिअन लगि सरणि जुगप्रधान सिवगामि ॥१॥
 तित्थुघरणु सु मुणिरयण, जुगप्रधान क्रमि पत्तु ।
 जिणवल्लहसूरि जुगपवरो, जसु निम्मलउं चरित्तु ॥२॥
 तसु सुहगुरु गुणकित्तणइ, सुरराउ वि असमत्थु ।
 तो भत्तिअभर तरलियउ, कह हंउ कहि सकयत्थो ॥३॥
 कह भवसायर दुहंपवर, कह पत्तउ मणुयत्तु ।
 किह जिणवल्लहसूरिवयणु, जाणउ समय पवित्तु ॥४॥
 कह सबोहि मणु उल्लसिउ, कह सुद्धउ सम्मत्तु ।
 जुगसमला नाएण मइं, पत्तउ जिणविह-तत्तु ॥५॥
 जिणवल्लभसूरि सुहगुरुह, बलि कि जिमु नुररय्य ।
 जसु वयरोण विजाणीयए, तुट्टइ कुमय-कसाय ॥६॥
 मूढा मिल्हहु मूढ पहु, लग्गहु सुद्धइ घम्मि ।
 जो जिणवल्लहसूरि कहिउ, गच्छउ जिम सिवरम्मि ॥७॥
 अथिर माइ पिय बंधवइ, अथिर रिद्धि गिहवासु ।
 जिणवल्लहसूरि पय नमउं, तोडउ भवदुहपासु ॥८॥
 परमपणइ न के वि गुरु, निम्मल घम्मह हुंति ।
 सन्वि ति सुहगुरु मन्निअहि, जे जिणवयण मिलति ॥९॥
 'गुरु गुरु' गायवि रंजियहि, मूढउ लोउ अयाणु ।
 न मुणइ जं जिण आण विणु, गुरु हुइ सत्तु समाणु ॥१०॥
 जिम सरणाइय माणुसहं, कोइ करइ सिरछेउ ।
 न मुणइ जं जिण-भासियउ, तिम कुगुरुह संजोउ ॥११॥
 हुंइ-विसप्पिणि भसम गहु, दूसम कालु कलिदु ।
 जिणवल्लहसूरि भड्डु नमहु, जिणउ सत्तु निसिट्टु ॥१२॥
 जा जहि कुलगुरु आवियउ, ते तहि भक्ति करंत ।
 विरला जोइवि जिणवयण, जहि मुण तहि रवंति ॥१३॥
 हा हा दूसमकाल बलु, खल वक्कत्तण जोइ ।
 नामेणिय सुविहिय तणइ, मित्तु वि वयरीय होइ ॥१४॥

तहि चेडाहिव हउ नमउ, सुमणिय परमत्थांह ।
 हीयइइ जिणवर इक्कपर, अनु सुद्धउ गुरु जांह ॥१५॥
 जिण जिणवर पइ हीलियइ, जग्गु रंजियइ सहासु ।
 सो वि सुगुरु परामंत यह, फूटि न हिया हयासु ॥१६॥
 मिरियभवे जिउ वीर जिण, इक्क उसत्त लवेण ।
 कोडाकोडि सागर भमिउ, कि न भणह मोहेण ॥१७॥
 तव संजम सुत्तेण सह, सव्वु वि सहलउ होइ ।
 सो वि उमुत्तलवेण सह, भवदुह-लक्खइ देइ ॥१८॥
 माया मोह चएह जण, दुलहउ जिण-विह्वम्म ।
 जो जिणवल्लहसूरि कहिउ, सिग्घ देह सिव सम्मु ॥१९॥
 संसउ कोइ म करहु मुणि, संसइ होइ मिच्छत्तु ।
 जिणवल्लहसूरि जुगपवर, नमहु सु तिजग पवित्तु ॥२०॥
 जइ जिणवल्लहसूरि गुरु, नह दिट्ठउ नयणेहि ।
 जुगपहाण तउ जाणीयइ, निच्छइ गुण-चरिएहि ॥२१॥
 ते धन्ना सुकयत्थ नर, ते संसार तरंति ।
 जे जिणवल्लहसूरि तणीए, आण सिरेण धरंति ॥२२॥
 तह न रोग दोहग्गु नह, तह मंगल कल्लाण ।
 जे जिणवल्लह गुरु नमइ, तिन्नि संभ सुविहाण ॥२३॥
 सुविहिय-मुणि-चूडाण्यण, जिणवल्लह बहुराउ ।
 इक्क जीह किम संथुणाउ, भोलउ भत्ति सहाउ ॥२४॥
 संगइ ते मन्नाकि गुरु, उग्गइ उग्गइ सूरि ।
 जो जिणवल्लह पइ कहइ, गमइ उमग्गु सुद्धरि ॥२५॥
 इकि जिणवल्लह जाणीयइ, सव्वु मुणियइ धम्मु ।
 अनु सुहगुरु सवि मनियउ, तित्थु जि धरहि सुहम्मु ॥२६॥
 इय जिणवल्लह थुइ भणिय, सुणियइ करइ कल्लाणु ।
 देउ बोहि चउवीस जिण, सासइ सुखनिहाणु ॥२७॥
 जिणवल्लह क्रमि जाणियउ, हिव मइ तासु सुसीसु ।
 जिणदत्तसूरि जुगपवरो, उद्धरियउ गुरुवंसो ॥२८॥
 तिणिय निय पइ पुण ठावियउ, बालउ सीहकिसोह ।
 परमइ-मइगल-बलदलणु, जिणचंदसूरि मुणि सारु ॥२९॥
 तसु सुपट्टि हिव गुरु जयउ, जिणपत्तिसूरि मुणिराउ ।
 जिणमय-विहि-उज्जोयकरु, दिणवर जिम विक्खाउ ॥३०॥
 पारतनु विहि विसयसुहु, वीरजिणेसर वयणु ।
 जिणवइसूरि गुरु हिव कहइ, निच्छइ अन्न न कवणु ॥३१॥
 धन्न ति पुरवर पट्टणइ, धन्न ति देस विचित्त ।
 जिहि विहरइ जिणवइ सुगुरु, देसण करइ पवित्त ॥३२॥

कवणु सु होसइ दिवसडउ, कवणु सु तिहि सुमुहुत्तु ।
जिहि वंदिसु जिणवइ सुगुरु, निसुणिसु धम्मह तत्तु ॥३३॥
सल्लुद्धारु करेसु हउ, पालिसु दिहु सम्मत्तु ।
नेमिचंदु इम वीनवइ, सुहगुरु-गुणगण-रत्तु ॥३४॥
नंदउ विहि-जिणमंदिरइं, नंदउ विहिसमु-दाउ ।
नंदउ जिणपत्तिसूरि गुरु, विहि-जिणधम्म पसाउ ॥३५॥

परिशिष्ट : ३.

जिनवल्लभसूरि-स्तुत्यात्मक-पद्याः

१. मुनिचन्द्रसूरि—[सं० ११७०]

कालोच्चियसमयपरसमयगंधगन्धेण जिणवल्लहगणिणा ।

—सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धारप्रकरण चूर्ण अवतरणिका

२. धनेश्वरसूरि—[सं० ११७१]

सूक्ष्मपदार्थनिष्कनिष्कषणकषपट्टकसन्निभप्रतिभः श्रीजिनवल्लभाख्यः सूरिः ।

—सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धारप्रकरण-टीका अवतरणिका

३. कवि पल्ह—[सं० ११७१ लगभग]

देवसूरि पट्ट नेमिचंद्र बहुगुणिहि पसिद्धउ,

उज्जोयणु तह बद्धमाणु खरतरवर लद्धउ ।

सुगुरु जिणोसरसूरि नियमि जिणचंद्रु सुसंजमि,

अभयदेउ सवंगुनाणी जिणवल्लहु आगमि ॥

—जिनदत्तसूरि-स्तुति. पद्य ४.

४. हरिभद्रसूरि—[सं० ११७२]

जिनवल्लभगणिनामा सूत्रकारः ।

—षडशीति-टीका अवतरणिका

५. श्रीचन्द्रसूरि—[११७७]

सूक्ष्मपदार्थनिष्कनिष्कषणपट्टकसन्निभप्रतिभजिनवल्लभाभिधानाचार्यः ।

—पिण्डविशुद्धि-टीका

६. यशोभद्रसूरि—[१२वीं शती का अन्तिम चरण]

क्वासो श्रीजिनवल्लभस्य रचना सूक्ष्मार्थचर्चाञ्जिता,

क्वेयं मे मतिरग्निमाप्रणयिनी मुग्धत्व पृथ्वीभुजः ।

पङ्गोन्मुङ्गनगाधिरोहणमुद्दयत्नोयमार्यास्ततो—

ऽसद्भयानव्यसनाणवे निपततः स्वान्तस्य पीतोऽपितः ॥

—षडशीति-टीका-मंगलाचरण प० २

इति विविधबिलसदर्थेषु विशुद्धाहारमहितसाधुजनम् ।

श्रीजिनवल्लभरचितं प्रकरणमेतन्न कस्य मुदे ? ॥

माहश इह प्रकरणे महार्थपंक्ती विवेश बालोऽपि ।

यद्वृत्त्यङ्गलिलग्नस्तं श्रयत गुरुं यशोदेवम् ॥

—पिण्डविशुद्धि-टीका-प्रशस्तिः

७. अज्ञात—[जेसलमेर भाण्डागारीय ताडपत्रीय प्रति से, समय
लगभग १३वीं शती]

दूसमदमनीरहरु दुसहभममगहमयहरु
हुंडवसप्पिणिसप्पगरुड संजमसिरिकुलहरु ।
निव्ववाइमयमतदंतिदारणपंचाणु,
गुरु-सावय-समणेस समण-आनेवण कारणु ।
जुगपवर-सूरि जिणवल्लह ह जो प्राणाकरु गणहरु ।
सो सरहु म गुरु संसउ करहु जो अविह भवभूरिहरु ॥१२॥
जसु सन्नाणु अमाणु मणह विप्फुरइ फुरंतउ,
पर कवित्त सुकइत्तबंध विरयइ जु तुरंतउ ।
जो निम्मलचारित्तरयणसत्रयरणायह,
मिच्छतिमिरतमहरणु तत्तपयडणदिवायह ।
भावारिमहीरुहमतकरि करणचरण संजम सहिउ ।
तहु वीरपदं पय अणुसरहु सगुण गणिहि जे अविरहिउ ॥१३॥

— जिनदत्तसूरि स्तुति छप्पय १२-१३

८. कवि पद्मानन्द — [१२वीं शती का अन्तिम चरण]

सिक्तः श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरोः शान्तोपदेशामृतैः,
श्रीमन्नागपुरे चकार सदनं श्रीनेमिनाथस्य यः ।

— वैराग्यशतक

९. श्री मलयगिरि—[१३वीं शती]

न चायमाचार्यो न शिष्टः ।

— षडशीति-टीका अवतरणिका

१०. जिनपतिसूरि—[१३वीं शती का पूर्वार्द्ध]

कवेमाः श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरोः मूक्षमार्थसारा गिरः,
क्वाहं तद्विवृतौ क्षमः क्लमजुषां दुर्मधसामग्रणीः ।
द्विड्वत्तद्विपदन्तभञ्जनभुजस्तम्भैर्जयश्रीः क्व नु,
प्राप्या सङ्गरमूर्धनि व्यवसितः क्लीवः क्व तल्लिप्सया ॥२॥

— सङ्घट्टक-टीका-मंगलाचरण

सूरिः श्रीजिनवल्लभोऽजनि बुधश्चान्द्रे कुले तेजसा,
सम्पूर्णोऽभयदेवसूरिचरणांभोजालिलीलायितः ।
चित्रं राजसभासु यस्य कृतिनां कर्णे सुषादुर्दिनं,
तन्वाना विबुधैर्गुं रोरपि कवेः कैतं स्तुताः सूक्तयः ? ॥१॥
हित्वा वाङ्मयपारदृश्वतिलकं य दीप्रलोकम्पूर्णं,
प्रज्ञानामपि रञ्जयन्ति गुणिनां चित्राणि चेतांस्यहो ।
लुण्टाक्यश्च्युततन्द्रचन्द्रमहसामद्याप्यविद्यामुषः,
कस्यान्यस्य मनोरमाः सकलदिक्कूलङ्कषाः कीर्तयः ? ॥२॥

माधुर्यशार्करितशर्करया रयाद् यं ,
पीयूषवर्षमिव तर्कगिरा किरन्तम् ।
विद्यानुरक्तवनिताजनिवास्यलास्यं ,
हित्वा परत्र न मनो विदुषामरंस्त ॥३॥

—सङ्घट्टक-टीका-प्रशस्तिः

तदनु समभूच्छिष्यस्तस्य प्रभुजिनवल्लभो,
जगति कवितागुम्फा यस्य द्रवद्रसमन्धराः ।
अनितरकविच्छायापत्या चमत्कृतिचुञ्चवो,
न हृदि मधुरा लग्नाः कस्य स्मरस्य यथेषवः ? ॥८॥

—पञ्चलिङ्गीप्रकरण-टीका-प्रशस्तिः

११. जिनपालोपाध्याय— [१३वीं शती]

चित्रं चित्रं वितन्वन्नवरसरुचिरं काव्यमन्यच्च भूयः,
सर्वं निर्दोषमहो-मुखमिव सगुणत्वेन षट्शुक्रि ।
कान्तावत्कान्तवर्णं भरतनृपतिवच्चार्वलङ्कारसारं,
चक्रे भाषादिसूक्तेष्वभिमुखमहो धीमतां मानसं यः ॥१०॥

—सनत्कुमारचक्रि-चरितमहाकाव्य प्रशस्तिः

ततोऽजनि श्रीजिनवल्लभारव्यः, सूरिः सुविद्यावनिताप्रियोऽसौ ।
अद्यापि सुस्था रमते नितान्तं, यत्कीर्तिहंसी गुणिमानसेषु ॥५॥

—धर्मशिक्षा-टीका-प्रशस्तिः

शिष्योऽथ स श्रीजिनवल्लभाख्यश्चैत्यासिनः सूरिजिनेश्वरस्य ।
प्राप्य प्रसन्नोऽभयदेवसूरि, ततोऽग्रहीज्ञानचरित्रचर्याम् ॥७॥
शुभगुरूपदसेवासनात्सिद्धान्तसारा—

व्यतिगलितचैत्यावासिमध्यात्वभावः ।

गृहिष्टुहवसति स स्वीचकारातिशुद्ध्या

सुविहितपदवीवद्गाढसंवेगरङ्गः ॥८॥

तथाऽस्य संविग्नशिरोमणोरभून्मनः प्रसन्नं सकलेषु जन्तुषु ।
जिनानुकृत्यां भुवनं विबोधयन्, यथा न शश्राम महामनाः स्वयम् ॥६॥
धर्मोपदेशकुलकाङ्क्षितधारलेखं, श्राद्धेन बन्धुरधिया गणदेवनामा ।
प्राबोधयत्सकलवाग्जडदेशलोकं, सूर्योऽरुणेन कमलं किरणैरिव स्वैः ॥१०॥

तानि द्वादशविस्तृतानि कुलकान्यम्भोधिवद् दुर्गमा—

न्यत्यन्तं च गभीरभूरिसुपदान्युन्निद्रितायाणि च ।

व्याख्यातुं य उपक्रमः कृष्णधियाऽप्याधीयते मादृशे,

नारोढुं तदमर्त्यशैलशिखरं प्रागल्भ्यतः पङ्कना ॥११॥

एवं श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरोश्चारित्रचूडामणे—

भगव्यप्राणिविबोधने रसिकतां वीक्ष्याद्भूतां शाश्वतीम् ।

आदेशाद् गुणविभवाङ्गविवृतिप्रस्तावकस्यादरात्,

प्रादात् सूरिपदं मुदञ्चितवपुः श्रीदेवभद्रप्रभुः ॥१२॥

—द्वादशकुलक-टीका-मंगलाचरणम्

जयन्ति सन्देहलतासिधाराः, श्रोत्रप्रमोदामृतवारिधाराः ।

सूरेगिरः श्रीजिनवल्लभस्य, प्रहीणपुण्याङ्गमुदुलंभस्य ॥१॥

आसन्नत्र मुनीश्वराः सुबहवश्चारित्रलक्ष्म्यास्पदं,

स्तोकाः श्रीजिनवल्लभेन सदृशा निर्भीकवाग्निस्तराः ।

संग्रामे गहनेऽपि भूरिसुभटश्रेण्या वरे भारते,

तुल्याः श्रीजितवाजिना विजयिनो वीराः कियन्तोऽभवत् ॥२॥

—द्वादशकुलक-टीका-प्रशस्तिः

१२. नेमिचन्द्र भण्डारी—[१३वीं उत्तरार्ध]

अञ्ज वि गुरुणो गुणिणो मुद्धा दीसंति तउयडा केइ ।

परं जिणवल्लह सरिसो, पुणो वि जिणवल्लहो चेव ॥१०७॥

वयणो वि सुगुरु जिणवल्लहस्स केसि न उल्लसइ सम्मं ।

अह कह दिणमणितेयं उलूयाणं हरइ अंघत्ते ॥१०८॥

दिठ्ठा वि के वि गुरुणो हियए न रमंति मुणिय तत्ताणं ।

के वि पुण अदिठ्ठु च्चिय, रमंति जिणवल्लहो जेम ॥१२६॥

—षष्टिशतक प्रकरण

१३. अभयदेव सूरि—[सं० १२७८]

तच्छिष्यो जिनवल्लभः प्रभुरभूद् विश्वम्भराभामिनी—

भास्वद्भ्रालललामकोमलयशःस्तोमः शमारामभूः ।

यस्य श्रीनरवर्मभूपतिशिरःकोटीररत्नाड कुर—

ज्योतिर्जालजलैरपुष्यत सदा पादारविन्दद्वयी ।

काश्मीरानपहाय सन्ततहिमव्यासङ्गवैराग्यतः,

प्रोन्मीलद् मुणसम्पदा परिचिते यस्याभ्यपङ्के रुहे ।

सान्द्रामोदतरङ्गिता भगवती वाग्देवता तस्थुषी,

धारालामलम्भय-काव्यरचनाव्याजादनृत्यञ्चिरम् ॥

—जयन्तविजय-काव्य-प्रशस्तिः

१४. पूर्णभद्रगणि—(सं० १२८५)

आकर्ण्यभयदेवसूरिसुपुरोः सिद्धान्ततत्त्वामृतं,

येनाज्ञायि न सङ्गतो जिनगृहे वासो यतीनामिति ।

तं त्यक्त्वा गुहमेधिगेहिवसतिनिदूषणा शिश्रिये,

सूरिः श्रीजिनवल्लभोऽभवदसौ विख्यातकीर्तिस्ततः ।

—अन्यशालिभद्रचरित्र-प्रशस्तिः

१५. उदयसिंहसूरि—[सं० १२६५]

सुविहितहितसूत्रघार जयति जिनवल्लभो गणियेन ।

येन पिण्डविशुद्धिप्रकरणमकारि चारित्रभवनम् ॥

—पिण्डविशुद्धिदीपिका-मंगलाचरण प० २.

१६. चित्रकूट वास्तव्य सा. सल्हाक लिखित प्रति—
(सं. १२६५)

“चारित्रचूडामणिश्रीजिनवल्लभसूरि.....”।

१७. पूर्णकलशगणि—(सं. १३०७)

तस्मिन् सोऽभयदेवसूरिरभवत् क्लृप्ताङ्गवृत्तिस्ततः,

संविग्नो जिनवल्लभो युगवरो विद्यालिताराऽम्बरम् ।

—प्राकृतद्वयाश्रय-टीका प्रशस्ति प. २

१८. अभयतिलकोपाध्याय—(सं. १३१२)

तच्छिष्यो जिनवल्लभो गुरुरभाच्चारित्रपाविश्रयतः,

सारोद्धारसमुच्चयो नु निखिलश्रीतीर्थसार्थस्य यः ।

सिद्धाकर्षणमन्त्रकोन्वखिलसद्विद्याभिरालिङ्गनात्,

कीर्त्या सर्वगया प्रसाधितनमोयानाप्रयविद्यो ध्रुवम् ।

—संस्कृत-द्वयाश्रय टीका प्रशस्ति प. ४

जज्ञे तदीयपदवीनलिनीमरालः, स्वेभ्यश्चरित्ररमया जिनवल्लभाख्यः ।

—न्यायालंकार-टीका प्रशस्ति

१९. चन्द्रतिलकोपाध्याय—(सं. १३१२)

श्रीजिनवल्लभसूरिस्तत्पट्टेऽभूद् विमुक्तबहुभूरिः ।

भव्यजनबोधकारी कल्मषहारी सदोद्यतविहारी ॥

तर्क-ज्योतिरलङ्कृतीनिजपरानेकागमाल्लक्षणं,

यो वेत्ति स्म सुनिश्चितं सुविहितश्चारित्रचूडामणिः ॥

नानावाग्जडमुख्यकान् जनपदान् श्रीचित्रकूटस्थितां,

चामुण्डामपि देवतां गुणनिधियो बोधयामासि वा ॥

—अभयकुमार-चरित्र-प्रशस्ति प. १०-११

२०. लक्ष्मीतिलकोपाध्याय—(सं. १३१७)

विद्वत्ताऽतिशर्याद्धि संयमरमात्रेमातुरः सर्वतो,

वक्त्रो यस्य यशःकुमार उदितः श्रीतारकाधीश्वरम् ।

चित्रं न्यत्कृतवांस्त्रिलोकमपि च प्रसाधयल्लीलया,

तीर्थं श्रीजिनवल्लभो गणपतिः शास्ति स्म सोऽयं ततः ॥

—भावकधर्म-टीका प्रशस्ति प. ४

२१. प्रबोधचन्द्रगणि—(सं. १३२०)

विद्या मा भवताकुला जननि ! वाम्देवि ! त्वमाशवासयं—
ता धातस्त्वमिमां प्रबोधय गिरं ब्रह्मवृ ! स्वयं मा मुहः ।
आसीनोऽभयदेवसूरिमुनिराट्-पट्टे जगद्वल्लभः,
सूरिः श्रीजिनवल्लभः स्वरसतः सिद्धं तवैवेप्सितम् ॥

—सदेहदोलावलि-टीका प्रशस्ति प० ५

२२. धर्मतिलकगणि—(सं. १३२२)

वर्णानातिक्रान्तानुपमभागधेयाः सुगृहीतनामधेयाः सकललोकसंश्लाघ्यमहाधर्म्य-विमलगुणा-
मणिश्रेणायः संविम्नमुनिजनव्रातचूडामणयः स्वप्रज्ञातिशयविशेषविनिर्जितामरसूर्यः
श्रीजिनवल्लभसूरयः ।

—लघुप्रशस्तिशान्तिस्तव-टीका-प्रवतरणिका

२३. सङ्घपुर जिनालयशिलालेख—(सं १३२६)

अपमलगुणाग्रामोऽमुष्मादधीतजिनागमः,
प्रवचनधुराघोरेयोऽभूद् गुरुजिनवल्लभः ।
सकलविलसद्विद्यावल्लीफलावलि विप्रमं,
प्रकरणगणो यस्यास्येन्दोः सुधा विभूतेतराम् ॥१०१॥
सम्यक्त्वबोधचरणांस्त्रिजगज्जनौघ-चेतोहरैर्वरगुणैः परिरब्धगात्रम् ।
यं वीक्ष्य निसृष्टहृत्खामणिमार्यलोकः सस्मार सप्रमदमार्यमहागिरीराम् ॥१०२॥

—बीजापुर-वृत्तान्त पृ. ४

२४. जिनप्रबोधसूरि—(सं. १३२८)

चान्द्रे कुलेऽजनि गुरुजिनवल्लभाख्यो ।
ऽर्हच्छासनप्रथयिताऽऽभुतकृच्चरित्रः ।

—कातम्बदुर्गपदप्रबोध

२५. जगद् कवि—(सं. १२७८-१३३१)

धन्नु सु जिणवल्लहु वक्खाणि, नाण-रयणकेरी छइ खाणि ।
बइतालीस सुद्धु पिण्डु विहरेइ, त्रिविधु मंदिरु जगि प्रगट्टु करेइ ॥

—सम्यक्त्वमाई चउपई गा ४१

२६. प्रभानन्दाचार्य—(सं. १३३५)

तस्मान्मुनीन्दुजिनवल्लभोऽथ, तथा प्रथामाप निर्जगुणोर्षः ।
विपश्चितां संयमितां गणो च, धुराणता तस्य यथाऽधुनापि ॥

—ऋषभपंचाशिका टीका

२७. ठक्कुर फेरू—[सं० १३४७]

नदि-न्हवणु-बलि-रहु-सुपइट्ट, तालारासु जुवइ मुणिसिट्ट ।
निसि जिणहरि जिणि वारिय अविहि, शुणहु सु जिणवल्लहसूरि सुविहि ॥१७॥

—युगप्रधान चतुष्पदिका

२८. जिनप्रभसूरि—[सं० १३५६]

वंशे श्रीजिनवल्लभव्रतिपतेः शुभंयंशोभिर्दिशः ।

—द्वयाशय-काव्य-प्रशस्ति प० २

२९. सोमतिलकसूरि—[सं० १३६२]

संविग्नचूडामणयो न केषां, स्युर्वल्लभाः श्रीजिनवल्लभास्ते ।

मूर्त्तार्षिपि यद्गीर्भविनाममूर्त्त-मात्मानमुत्तुङ्गगुणैः ससज्ज ॥३॥

—शीलतरङ्गिणी-प्रशस्तिः

३०. तरुणप्रभसूरि—[सं० १४११]

तदीयपादद्वयपद्मसेवा-मधुव्रतः श्रीजिनवल्लभोऽभूत् ।

यदङ्गरङ्गे व्रतनर्त्तकेन, किं नृत्यतां कीर्त्तिधनं न लेभे ॥३॥

—षड्वावश्यक-बालावबोध-प्रशस्तिः

३१. भुवनहिताचार्य—[सं० १४१२]

.....जिनवल्लभ.....शाङ्गनावल्लभो.....प्रियः ।

यदीयगुणगौरवं श्रुतिपुटेन सुधोपमं निपीय ।

शिरसोऽधुनापि कुरुते न कस्ताण्डवम् ? ॥२०॥

—राजगृह प्रशस्ति, नाहर जैन लेख संग्रह प्रथम भाग

३२. सङ्घतिलकसूरि—[सं० १४२२]

तत्पट्टपूर्वाचलचूलिकायां, भास्वानिव श्रीजिनवल्लभाख्यः ।

सच्चक्रसम्बोधनसावधान-बुद्धिः प्रसिद्धो गुरुमुख्य आसीत् ॥३॥

—सम्यक्त्वसप्तति-टीका प्रशस्तिः

३३. देवेन्द्रसूरि—[सं० १४२६]

तदनु जिनवल्लभाख्यः प्रख्यातः समयकनककषपट्टः ।

यत्प्रतिबोधनपट्टहोऽधुनापि दन्ध्वन्यते जगति ॥५॥

—प्रश्नोत्तररत्नमाला-टीका-प्रशस्तिः

३४. बद्धमानसूरि—[सं० १४६८]

श्राद्धप्रबोधप्रवणस्तत्पट्टे जिनवल्लभः ।

सूरिवल्लभतां भेजे त्रिदशानां नृणामपि ॥१४॥

—आचारविनकर-प्रशस्तिः

३५. जेसलमेर सम्भवजिनालय-प्रशस्ति-शिलालेख—[सं० १४६७]

ततः क्रमेण श्रीजिनचन्द्रसूरि-नवाङ्गीवृत्तिकार-श्रीस्तम्भन-पाशर्वनाथ-प्रकटी-कार-श्रीअभयदेवसूरि-श्रीपिण्डविशुद्ध-यादिप्रकरणकार-श्रीजिनवल्लभसूरि.....

३६. गुणरत्नोपाध्याय—[सं० १५०१]

यः स्फुर्जत्कलिकालकुण्डलिकरालाऽऽस्यस्थितेः दुःस्थिते,

लोकेस्मिन्नवधूयुकुग्रहविषं सिद्धान्तमन्त्राक्षरैः ।

चक्रे तन्मुखमुद्रया वसुकृते सज्जं स्वमत्यावरं,

स श्रीमाद् जिनवल्लभोऽजनि गुरुस्तस्मान्महामन्त्रवित् ॥६॥

—षष्टिशतक-टीका-प्रशस्तिः

३७. जयसागरोपाध्याय—[सं० १५०३]

श्रीवीरशासनाम्भोधिसमुल्लासनशीतगोः ।

सूरैरभयदेवस्य नवाङ्गीवृत्तिवेषसः ॥

पट्टालङ्कारसारश्रीः सूरिः श्रीजिनवल्लभः ॥

पृथ्वीचन्द्रचरित्र-प्रशस्ति प० २-३

३८. महेश्वर कवि—[सं० १५०४]

एतत्कुले श्रीजिनवल्लभाख्यो गुरुः

—काव्यमनोहर सर्ग ७, प० ३५

३९. लक्ष्मीसेन—[सं० १५१३]

क्व जिनवल्लभसूरि सरस्वती, क्व च गिशोर्मम वाग्विभवोदयः ।

—सङ्घपट्टक-टीका-मंगलाचरण प० १

४०. साधुसोमोपाध्याय—[सं० १५१६]

जिनवल्लभसूरीन्द्रसुक्तिमीत्तिकपत्तयः ।

दर्शितार्थः सुदृष्टीनां सुखग्राह्या भवन्त्विति ॥६॥

—चरित्र-पञ्चकवृत्ति-प्रशस्ति:

४१. कमलसंयमोपाध्याय—[सं० १५४४]

विचारवद्वाङ्मयवारधाता, गुरुर्गरीयान् जिनवल्लभोऽभूत् ।

सूत्रोक्तमार्गाचरणोपदेश-प्रावीण्यपात्रं न हि यादृशोऽन्यः ॥४॥

—उत्तराध्ययन सूत्र 'सर्वार्थसिद्धि' टीका-प्रशस्ति:

४२. पद्ममन्दिर गणि—[सं० १५५३]

प्राप्तोपसम्पद्द्विभवस्तदन्ते, द्विधाऽपि सूरिजिनवल्लभोऽभूत् ।

जग्रन्थ यो ग्रन्थमनर्थसार्थ-प्रमाथिनं तीव्रक्रियाकठोरः ॥७॥

—ऋषिमण्डल-वृत्ति-प्रशस्ति:

४३. युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि—[सं० १६१७]

तत्पट्टपद्मवनबोधनराजहंसाः,

विश्वातिशायिचरणामलशीलहंसाः ।

चारित्र्यचारुमनसो विहितोपकाराः,

सप्रातिहार्य-जिनवल्लभ-नामधाराः ॥६॥

चामुण्डाप्रतिबोधका निजगुणैः श्रीचित्रकूटे स्फुटं,

मूलोन्मूलितकुग्रहोग्रफलिनाः सत्साधुमार्गादराः ।

मिथ्यात्वान्धतमोनिरासरवयः प्रख्यातसत्कीर्त्तयः

पूज्यश्रीजिनवल्लभाख्यगुरवस्ते सङ्घभद्रङ्कराः ॥७॥

—पौषधविधिप्रकरण-टीका-प्रशस्ति:

४४. महोपाध्याय पुण्यसागर—[सं० १६४०]

स जयताञ्जगति जनवल्लभः, परहितैकपरो जिनवल्लभः ।

चतुरचेतसि यस्य चमत्कृति, रचयतीह चिरं रुचिरं वचः ॥२॥

—प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकाव्य-टीका-मंगलाचरण

४५. अज्ञात—[लेखन सं. १६४०]

विमलप्रज्ञाशालिबुधजनितानवद्यविद्याधरीसङ्गभोमुखप्रवृत्तेन तेनैव श्रुतमकरन्द-
स्वादलुब्ध यद् पदेनैवानवरतासेव्यमानचरणारविन्दः आसीज्जिनवल्लभाभिधानः
सूरिः ।

—प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतकाव्यावचूरि-अवतरणिका

४६. समयसुन्दरोपाध्याय—[सं. १६४६]

कृत्वा समीपेऽभयदेवसूरि, येनोपसम्पद्ग्रहणं प्रमोदात् ।

पपी रहस्यामृतमागमानं, सूरिस्ततः श्रीजिनवल्लभोऽभूत् ॥११॥

—प्रबलक्षार्थी प्रशस्तिः

४७. जयसोमोपाध्याय—[सं. १६५०]

श्रीजिनवल्लभसूरिस्ततोऽभवद् व्रतधुरंकधीरेयः ।

चण्डाऽपि हि चामुण्डा यत्सान्निध्यादचण्डाभूत् ॥५०८॥

—कर्मचन्द्रवंशोत्कीर्तन-काव्य

४८. गुणविनयोपाध्याय—[सं. १६५१]

सोऽभूदभयदेवाख्यः सूरिः श्रीजिनवल्लभः ।

ज्ञानदर्शनचारित्रपात्रं भ्रजे ततो भृशम् ॥७॥

बेन चण्डापि चामुण्डा दर्शनं प्रापिता गुणैः ।

कर्ता पिण्डविशुद्ध्यादि-शास्त्राणां तत्त्वशालिनाम् ॥८॥

—सम्बोधसप्तति-टीका-प्रशस्तिः

४९. ज्ञानविमलोपाध्याय—[सं. १६५४]

तत्पट्टे च विरेजुः कर्मग्रन्थादिशास्त्रकर्तारः ।

वैराग्यं कनिधानाः श्रीसज्जिनवल्लभाचार्याः ॥३॥

—शब्दभेदप्रकाश-टीका-प्रशस्तिः

५०. श्रीवल्लभोपाध्याय—[सं० १६५४]

तत्पट्टे जिनवल्लभसूरिवराः सबंशास्त्रपारीणाः ॥२॥

—हैमनाममालाशिलोद्भू-टीका-प्रशस्तिः

५१. सुमतिवर्द्धनोपाध्याय—[सं० १८७४]

सत्प्रज्ञा हि जिनादिवल्लभमण्णाधीशा जगद्विश्रुता-

श्चामुण्डाभिषदेवताऽर्चितपदा आशुजिताक्षत्रजाः ॥५॥

—समरादित्यकेवलीचरित्र-प्रशस्तिः

सहायक ग्रन्थों की तालिका :-

क्रमांक	नाम	लेखक
१	अजितशान्तिस्तव टीका	वाचनाचार्य धर्मतिलक
२	अपभ्रंश काव्यत्रयी	सं. लालचंद्र भ० गांधी
३	अभयकुमार चरित	चन्द्रतिलकोपाध्याय
४	अरजिन स्तव	सं० म० विनयसागर
५	अष्टलक्षार्थी	उपाध्याय समयसुंदर
६	अष्टसप्ततिका	जिनवल्लभसूरि
७	आगमिक वस्तुविचारसार प्र० टीका	मलयगिरि
८	" "	यशोभद्रसूरि
९	" "	हरिभद्रसूरि
१०	आचार दिनकर	वर्धमानसूरि
११	आचारांग सूत्र	
१२	आचारांग सूत्र टीका	शीलांकाचार्य
१३	आचारांग सूत्र बालावबोध	पार्श्वचन्द्रसूरि
१४	आवश्यक सूत्र बृहद् वृत्ति	हरिभद्रसूरि
१५	इतिहास प्रवेश	जयचन्द्र विद्यालंकार
१६	उत्तराध्ययन सूत्र टीका	कमलसंयमोपाध्याय
१७	उपदेश सप्ततिका	
१८	ऋषभ पंचाशिका टीका	प्रभाचन्द्राचार्य
१९	ऋषिमंडल टीका	पद्ममंदिरगणि
२०	कथाकोष	सं. आचार्य जिनविजय
२१	कर्मग्रन्थ शतक स्वोपज्ञ टीका	देवेन्द्रसूरि
२२	कल्पसूत्र	आचार्य भद्रबाहु
२३	कल्पसूत्र टीका	उदयसागर
२४	" "	माणिक्यऋषि
२५	" "	
२६	कल्पावचूरिका	कुलमंडनसूरि
२७	कल्पकिरणावली	उ. धर्मसागर
२८	कल्पटिप्पन	पृथ्वीचन्द्रसूरि
२९	कल्पदीपिका	जयविजय
३०	कल्पनिरुक्त	विनयचन्द्रसूरि
३१	कल्पसूत्र बालावबोध	गणपति
३२	कल्पान्तर्वाच्य	सोमसुंदरसूरि

३३	कल्पान्तर्वाच्य	हेमहंससूरि
३४	"	जयचन्द्रसूरि
३५	" स्तवक	शान्ति विजय
३६	कातंत्र-दुर्गपद-प्रबोध	जिनप्रबोधसूरि
३७	काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट
३८	काव्य-मनोहर	महेश्वर कवि
३९	काव्य-मीमांसा	राजशेखर
४०	कुमार-संभव-टीका	चारित्रवर्धन
४१	खरतरगच्छालंकार युगप्रधानाचार्य गुर्वावली	जिनपालोपाध्याय
४२	गणधर साङ्ग शतक	जिनदत्तसूरि
४३	" बृहद्वृत्ति	सुमतिगणि
४४	गुरुत्वप्रदीप	यशोविजय
४५	गुरुपारलंघ्य स्तोत्र	जिनदत्तसूरि
४६	चर्चरी	"
४७	" टीका	जिनपालोपाध्याय
४८	चरित्रपंचक टीका	उ० साधुसोम
४९	जइतपदवेली	कनकसोम
५०	जयदामन्	प्रो. एच. डी. वेल्हणकर
५१	जयन्त विजय काव्य	रुद्र. अभयदेव सूरि
५२	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र	
५३	" टीका	शान्तिचन्द्रगणि
५४	जिनचन्द्रसूरि आदेशपत्र	
५५	जिनरत्नकोश	प्रो. एच. डी. वेल्हणकर
५६	जीवाभिगम सूत्र टीका	मलयगिरि
५७	जैन ग्रन्थावली	
५८	जैन लेखसंग्रह	पूरणचन्द्र नाहर
५९	जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास	मोहनलाल द. देशाई
६०	त्रिदशतरंगिणी मुर्वावली	मुनिबुंदरसूरि
६१	त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र	हेमचन्द्राचार्य
६२	द्वादश कुलक टीका	जिनपालोपाध्याय
६३	द्वयाश्रय काव्य	जिनप्रभसूरि
६४	" टीका (प्राकृत)	पूर्णकलश
६५	द्वयाश्रय काव्य टीका (संस्कृत)	अभयतिलकोपाध्याय
६६	धन्य-शालिभद्र चरित्र	पूर्णभद्र गणि
६७	नागरीप्रचारिणी पत्रिका	
६८	नेषधकाव्य टीका	चारित्रवर्धन

६६	पट्टावली	कवि पल्ल
७०	पंचाशक	हरिभद्रसूरि
७१	„ टीका	अभयदेवसूरि
७२	पंचालिनी प्रकरण टीका	जिनपतिसूरि
७३	प्रज्ञापना सूत्र टीका	मलयगिरि
७४	प्रतिष्ठा लेख संग्रह	उपाध्याय विनयसागर
७५	प्रबन्ध-चिन्तामणि	सं. आचार्य जिनविजय
७६	प्रभावक चरित	„ „
७७	प्रवचन परीक्षा	उपाध्याय धर्मसागर
७८	प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतं	जिनवल्लभसूरि
७९	„ अक्षरि	तोमसुंदरसूरि शिष्य
८०	„ टीका	महोपाध्याय पुण्यसामर
८१	प्रश्नोत्तर-रत्नमाला टीका	देवेन्द्रसूरि
८२	पिण्डविशुद्धि टीका	उदयसिंहसूरि
८३	„ „	श्रीचन्द्रसूरि
८४	„ प्रस्तम्बना	जानविजय
८५	पुरातत्व-प्रबन्ध-संग्रह	सं. आचार्य जिनविजय
८६	पृथ्वीचन्द्र चरित्र	उपाध्याय जयसागर
८७	पृथ्वीराज विजय काव्य	
८८	पोषधविधिप्रकरण टीका	युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि
८९	बीजापुर वृत्तान्त	
९०	बृहत्संग्रहणी	
९१	भगवतीसूत्र टीका	अभयदेवाचार्य
९२	भारत का इतिहास	डा० ईश्वरीप्रसाद
९३	भारत के प्राचीन राजवंश	महामहोपाध्याय विश्वेश्वरनाथ रेड
९४	भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास	जूनिया
९५	भारत की संस्कृति का इतिहास	डा० मयुरालाल शर्मा
९६	भावारिकारलपादपूर्यादि स्तोत्र संग्रह	सं० मुनि विनयसामर
९७	युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि	अगरचन्द्र-भंवरलाल नाहटा
९८	युगप्रधान जिनदत्तसूरि	अगरचन्द्र-भंवरलाल नाहटा
९९	युगप्रधान चतुष्पदिका	ड० फेरू
१००	रघुवंश टीका	वारिन्वर्वन
१०१	राजपूताने का इतिहास	गौरीशंकर ही. श्रोभ
१०२	राजशुद्ध प्रशस्ति	भुवनहितोपाध्याय
१०३	वर्धमान विद्याकल्प	खेतुंगसूरि
१०४	विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह	सं. आचार्य जिनविजय

१०५ विविध तीर्थकल्प
 १०६ वैराग्य शतक
 १०७ शब्दप्रभेद टीका
 १०८ शिशुपालवध टीका
 १०९ शिलोच्छनाममाला टीका
 ११० शीलतरंगिणी
 १११ श्रावकव्रत कुलक
 ११२ श्रावकधर्मप्रकरण टीका
 ११३ षष्टिशतक टीका
 ११४ " "
 ११५ षष्टिशतक प्रकरण त्रय
 ११६ षट् कल्याणक निर्णय
 ११७ षडावश्यक बालावबोध
 ११८ स्थानांग सूत्र टीका
 ११९ सनत्कुमार चरित महाकाव्य
 १२० समरादित्य केवली चरित्र
 १२१ समवायांग सूत्र टीका
 १२२ सरस्वती कंठाभरण
 १२३ सिद्धर प्रकरणाटीका
 १२४ संघपट्टक टीका
 १२५ " "
 १२६ संदेहदोलावली टीका
 १२७ संबोध प्रकरण
 १२८ संबोध सप्तति टीका
 १२९ संवेगरंगशाला
 १३० साधुकीर्ति स्वर्गमनगीत
 १३१ सुलसा चरित्र
 १३२ सूक्ष्मार्थविचार सारोद्धार चूर्ण
 १३३ " टीका
 १३४ " प्रस्तावना
 १३५ सेनप्रश्न
 १३६ सोलंकियों का प्राचीन इतिहास
 १३७ स्वप्नसप्तति

सं. आचार्य जिनविजय
 कवि पद्मानंद
 उपाध्याय ज्ञानविमल
 चारित्रवर्धन
 उपाध्याय श्रीबल्लभ
 सोमतिलकसूरि
 जिनवल्लभसूरि
 उपाध्याय लक्ष्मीतिलक
 सोमसुन्दरसूरि
 उपाध्याय गुणरत्न
 सं. डा. भोगीलाल ज. सांडेसरा
 जिनमस्तिष्काभरसूरि
 तरुणप्रभाचार्य
 अभयदेवाचार्य
 जिनपालोपाध्याय
 उपाध्याय सुमतिवर्धन
 अभयदेवसूरि
 महाराजा भोज
 चारित्रवर्धन
 जिनपतिसूरि
 लक्ष्मीसेन
 प्रबोधचन्द्र गरिण
 हरिभद्रसूरि
 उपाध्याय गुणबिनब
 जिनचंद्रसूरि
 जयनिधान
 जयतिलकसूरि
 मुनिचन्द्राचार्य
 घनेश्वराचार्य
 विजयप्रेमसूरि
 सोमविजय
 जिनवल्लभसूरि

महोपाध्याय विनयसागर

द्वारा लिखित एवं सम्पादित अन्य पुस्तकें—

१. सनत्कुमारचक्रि-चरित्र महाकाव्य
२. वृत्तभौक्तिक
३. संघपति रूप जी वंश-प्रशस्ति
४. अरजिन स्तव
५. नेमिदूत
६. प्रतिष्ठा लेख संग्रह प्रथम भाग
७. खरतर गच्छ का इतिहास
८. महोपाध्याय समयसुन्दर
९. हैमनाममालाशिलोच्छ्र सटीक
१०. चतुर्विंशति जिन-स्तुत्यः
११. चतुर्विंशति-जिन-स्तवनानि
१२. भावारिकारख पादपूर्त्यादि स्तोत्र संग्रह
१३. महावीर षट् कल्याणक पूजा
१४. खण्ड प्रशस्ति टीका द्वय सह
१५. शासनप्रभावक आचार्य जिनप्रभ और उनका साहित्य
१६. खरतरगच्छ साहित्य-सूची



